भूमिका

हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी की समस्या आज पहले से कहीं अधिक जटिल है । हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों में तनाव भी पहले की अपेक्षा कई गुना बढ़ा है । साम्प्रदायिकता फैलाने और दंगे कराने में देशी राजनीतिक दलों की भूमिका ब्रिटिश शासकों की भूमिका से कुछ कम नहीं है । भाषाओं और साम्प्रदायिकता का अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल की कला राजनीतिक दलों को अंग्रेज़ी राज से विरासत के रूप में मिली है । ख़ास तौर पर हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता को अंग्रेज़ों ने बड़ी सावधानी और खूबसूरती से हमारे नेताओं के राजनीतिक स्वार्थ से जोड़ा था । समय के साथ भाषाई-ख़ानाबन्दी और फ़िक़ांबन्दी की जड़ें उत्तरोत्तर मज़बूत होती गई हैं ।

इस पुस्तक में इतिहास बन गई स्थितियाँ हैं, और उन सोच-समझकर बनाई गई स्थितियों का विश्लेषण है, जो दोहरी जातीय मानसिकता, दोहरी राष्ट्रीयता और फ़िक़ांपरस्ती के लिए ज़िम्मेदार थीं । हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता के जो बीज अंग्रेज़ों ने बोये थे, आज वे अनेक शाखाओं वाले वृक्ष हैं, और हम सब उनकी तिलिस्मी छायाओं में दिग्भ्रमित खड़े हैं । वे बीज कौन से थे और कैसे पनपे, उसकी एक झलक इस पुस्तक में दिखाने का प्रयास किया गया है ।

दिल्ली

कृपाशंकर सिंह

क्रम

कृपाशंकर सिंह

हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी
हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता
और
अंग्रेज़ी राज
1800-1947

प्रकाशक

प्रासंगिक प्रकाशन
(लेखकों द्वारा संचालित)
के-डी-19 सी, अशोक विहार-1
दिल्ली-110052

1992
मूल्य : 190 रुपये

 / पहला संस्करण
आवरण : जगन सिंह / मुद्रक : कोणार्क प्रिंटर्स, दिल्ली

1

हिन्दू-मुस्लिम विभेद

हिन्दू-मुस्लिम विभेद की जड़ें हिन्दू और इस्लाम की धार्मिक व्यवस्था में भी ढूंढ़ी जाती रही हैं। जैसे कि हिन्दू मूर्तिपूजक हैं,* और इस्लाम में मूर्तिपूजा कुफ़ है। हिन्दू धर्म में भजन-कीर्तन की बड़ी लम्बी परम्परा है। भगवान को रिझाने के लिए सामूहिक कीर्तन दशहरा, जन्माष्टमी, दुर्गापूजा आदि अनेक पर्वों पर बाजे-गाजे के साथ जुलूस सैकड़ों सालों से निकलता आ रहा है। प्रत्येक धार्मिक उत्सव के साथ संगीत जुड़ा हुआ है। इस्लाम में संगीत एकदम वर्जित है। मस्जिद के सामने से जुलूस का गाते-बजाते निकलना एक भड़काने वाली कार्रवाई समझी जाती है। अब तक पचासों हिन्दू-मुस्लिम दंगे तो इसी बात को लेकर हो चुके हैं। यह बात दूसरी है कि दोनों क़ौमों के निहित-स्वार्थ-साधन करने वाले मठाधीशों के लिए यह एक तुच्छ साधन मात्र है। दंगे की योजना यदि तैयार है, तो यह नहीं तो कोई दूसरा बहाना आसानी से ढूंढ़ लिया जाता है।

हिन्दू-मुस्लिम विभेद का तीसरा मुद्दा गोवध को लेकर है। हिन्दू गाय को अपनी मां समझते हैं। उसे गऊ माता कहा जाता है। गाय को संरक्षण देने का इतिहास काफी पुराना है। यह शायद इसलिए रहा हो कि इस कृषि-प्रधान देश में बैलों के बग़ैर खेती सम्भव नहीं थी और बहुत हद तक आज भी, इस ट्रैक्टर और मशीनों के ज़माने में भी सम्भव नहीं है। खेतिहर किसानों में नब्बे फ़ीसदी से अधिक उन किसानों की संख्या है, जिनके पास खेत इतने कम हैं और इतने

---

* हालांकि हिन्दुओं में भी एक ख़ासा बड़ा वर्ग ऐसा है, जो मूर्तिपूजक नहीं है। निर्गुणिया संतों की लम्बी परम्परा है, जो निराकार ब्रह्म के उपासक हैं और मूर्तिपूजा की जमकर मज़म्मत करते हैं, पर सनातनधर्मी मूर्तिपूजक हैं, जो निश्चय ही बहुल संख्या में हैं और अपने को हिन्दुत्व के प्रतीक का वाहक समझते हैं।

छोटे हैं कि ट्रैक्टर और मशीनों का वहां कोई काम नहीं है। बैल ही वहां खेत जोतने का काम करते हैं। शुरू से बैल ही इस जिम्मेदारी को निभा रहे हैं। गाय के बग़ैर बैल कैसे मिलें ! फिर गाय का दूध जीवनदायी है, स्वास्थ्यवर्द्धक है, यह बात कई शताब्दी पूर्व से भारतीयों को ज्ञात थी। और तो और, गाय का गोबर भी पवित्र माना जाता रहा है। किसी अनुष्ठान से पहले गाय के गोबर से उस स्थान को लीपने की प्रथा बहुत पुरानी है। गोबर के उपले की राख को कीटाणुनाशक भी माना जाता है। यही नहीं, जाति-बाहर के आदमी के जाति में पुन: प्रवेश के समय और अभी सिर्फ साठ-सत्तर साल पहले तक विदेश से लौटे हुए आदमी को शुद्ध करने के अनुष्ठानों में गोमूत्र का पान भी शामिल था।

महात्मा गांधी ने जवाहरलाल नेहरू के नाम 25 अप्रैल 1925 के अपने एक पत्र में लिखा था कि "···गोरक्षा मेरे लिए केवल गाय को बचाने से कहीं बड़ी चीज़ है। गाय तो प्राणिमात्र का सिर्फ प्रतीक है। गोरक्षा का अर्थ है दुर्बलों, असहायों और गूंगों और बहरों की रक्षा, फिर मनुष्य तो सारी सृष्टि का प्रभु और स्वामी न रहकर सेवक बन जाता है। मेरी दृष्टि में गाय दया का जीता-जागता उपदेश है। फिर भी हम तो गोरक्षा के साथ निरी-खिलवाड़ करते हैं, परन्तु हमें शीघ्र ही वस्तुस्थिति के साथ जूझना पड़ेगा।"[1]

यह सब मैं इस ओर संकेत करने के लिए कह रहा हूं कि हिन्दुओं के अन्तस्तल में गाय पशु नहीं है, गऊ माता है। इसी बात का ख़याल करके मुस्लिम काल में भी गोबध पर रोक लगायी जाती रही थी। अकबर के शासनकाल में तो गोबध के लिए कड़ी सजा का विधान था ही, औरंगज़ेब जैसे कट्टर मुग़ल बादशाह ने भी इस पर रोक लगा रखी थी। सुन्दरलाल[2] के शब्दों में : "गोबध के खिलाफ़ जो कड़ी आज्ञाएं सम्राट अकबर के समय से चली आती थीं, औरंगज़ेब ने उन्हें जारी रखा और अपने पचास वर्ष के शासनकाल में साम्राज्य भर के अन्दर कड़ाई के साथ उनका पालन कराया।" इसके बाद महाराजा रंजीत सिंह ने भी गोवध पर रोक लगाई थी, जो अंग्रेज़ों के समय उठा ली गई। इससे अंग्रेज़ी-राज का मक़सद दोनों क़ौमों में कटुता को बढ़ावा देना था। मुसलमानों में यह प्रचारित किया गया कि इस्लाम के मुताबिक बकरीद के मौके पर गोबध एक धार्मिक कृत्य है। हालांकि उलमा ने यह फतवा भी दिया है कि इस्लाम में गोबध को धार्मिक कृत्य कहीं नहीं माना गया है। समय-समय पर अनेक मुस्लिम धार्मिक नेताओं ने भी गोबध को अनुचित बतलाया है। फिरंगी महल लखनऊ के मौलाना अब्दुल हइ तथा तीन दूसरे उलमा—मुहम्मद अब्दुल वहाब, अब्दुल हया मुहम्मद अब्दुल हमीद और तीसरे काज़ी सैयद मुहम्मद हसन ने फतवा दिया कि "गोबध किसी भी तरह इस्लाम का धार्मिक कृत्य नहीं है, इसलिए ऐसे बेकार काम से मुसलमानों को दूर ही रहना चाहिए।"[3] पर निहित स्वार्थियों

का प्रचार-तंत्र अधिक कारगर हुआ करता है। परिणाम यह कि अब तक बहुत से दंगे इस गोबध के मसले को लेकर हो चुके हैं।

हिन्दू-मुस्लिम विरोध और तनाव का लगभग सवा सौ वर्षों से एक स्थायी कारण हिन्दी-उर्दू विवाद है। 1867 में बनारस के कुछ गण्यमान्य हिन्दुओं ने उर्दू के स्थान पर नागरी को अपनाये जाने की मांग की। 1867 में ही सैयद अहमद खां ने मुसलमानों की एक सभा में यह घोषणा की कि अपनी भाषा (उर्दू) की रक्षा के लिए मुसलमानों को संगठित हो जाना चाहिए। 'अंजुमन-ए-हिमायत-ए-उर्दू' बनी। संयुक्त प्रान्त और बिहार में देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी को लागू करने की मांग ने जोर पकड़ा। बंगाल के ले० गवर्नर के आदेश के मुताबिक 1872 में पटना और भागलपुर खंडों (डिवीज़न) में उर्दू के स्थान पर देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी लागू की गई। फिर बंगाल सरकार ने 1880 में बिहार की कचहरियों और राजस्व आदि दफ्तरों में फ़ारसी लिपि के स्थान पर देवनागरी लिपि को भी लागू करने का आदेश निकाला। जाहिर है, इन सब कार्रवाइयों से पढ़े-लिखे मुस्लिम समाज में, जो फ़ारसी लिपि का ही प्रयोग करते चले आ रहे थे और छोटी सरकारी नौकरियों में फ़ारसी लिपि के चलते रहने की वजह से जिन्हें ये नौकरियां मिल रही थीं, उनमें निराशा और असंतोष का भाव पैदा हुआ।

वैसे हिन्दी-उर्दू का पूरा द्वन्द्व पढ़े-लिखे और बौद्धिक हिन्दू-मुस्लिम का द्वन्द्व था। दूर-दराज़ के बाशिन्दों से, चाहे वे मुसलमान रहे हों या हिन्दू, इस झगड़े से कोई वास्ता नहीं था। वहां ये दोनों क़ौमें एक ही मिली-जुली ज़बान बोल रही थीं, जो वहां की स्थानीय बोली थी। यह इसलिए भी था कि देहातों में बहुसंख्य-मुस्लिम समुदाय पहले तो हिन्दू ही था। मध्यकाल में वे मुसलमान हुए थे, खासतौर पर औरंगज़ेब के राज्य-काल में। स्वाभाविक रूप से उनकी मातृ-बोलियां वही रहीं, जो पहले थीं। शासन और कचहरी की भाषा, जो कि फ़ारसी चली आ रही थी, से उनका कोई खास लेना-देना नहीं था।

पर हिन्दी-उर्दू की लड़ाई में यह मुद्दा ही नहीं था कि कौन क्या बोल रहा है। यह भी लड़ाई का खास मुद्दा नहीं था कि हिन्दी-उर्दू में कहां कितना फ़र्क़ है। हम सब यह जानते हैं कि फ़र्क़ भी खास नहीं था और न आज है। लड़ाई का असली मुद्दा लिपि थी और अगर ज़बान असली मुद्दा नहीं थी, तो लिपि क्यों बनी? वह इसलिए कि असली खींच-तान सरकारी नौकरियों को लेकर थी। यानी कि असली कारण आर्थिक था, धार्मिक या जातीय कारण अवाम को अपने साथ रखने के लिए जोड़े गये। निचली कचहरियों और निचले स्तर के सरकारी कामकाज में कौन-सी लिपि अपनायी जाये, इसी सवाल से हिन्दी-उर्दू की लड़ाई शुरू होती है। इसके पहले हिन्दी-उर्दू को लेकर हिन्दू-मुस्लिम झगड़े अस्तित्व में

नहीं थे। पढ़े-लिखों को सरकारी नौकरियों का लालच दिखाकर अंग्रेज़ों ने हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य में एक नया अध्याय जोड़ा था।

हिन्दुस्तान में शिक्षा को लेकर अंग्रेज़ी राज के शुरू के प्रयासों में लार्ड वारेन हेस्टिंग्स द्वारा 1781 में स्थापित कलकत्ता मदरसा है, इसके बाद गोनाथन डन्कन जो बनारस का रेज़िडेंट था, ने 1791 में बनारस में संस्कृत कॉलेज की स्थापना की। यहां यह कहने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए कि ये या इस तरह के अन्य मदरसे और संस्कृत पाठशालाएं जो शुरू में अंग्रेज़ों द्वारा खोली गयीं या उनके द्वारा अनुदान देकर प्रोत्साहित की गयीं, वे साम्प्रदायिकता को निगाह में रखकर खोली गयी थीं। इसलिए मदरसा अलग खोला गया और संस्कृत पाठशाला अलग। अर्थात् हिन्दू-मुस्लिम धर्म के आधार पर शिक्षा का गठन हुआ। बाद में जब अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम बनाकर नयी शिक्षा नीति (1837) को लागू किया गया, तो इन मदरसों और पाठशालाओं के लिए अनुदान को लगभग नगण्य बनाकर इन्हें तोड़ने की ज़रूरत महसूस हुई। अब चूंकि अंग्रेज़ी पढ़ानी थी और अंग्रेज़ी को ही शिक्षा का माध्यम बनाना था, इसलिए अंग्रेज़ी ढंग के स्कूल-कॉलेज खोले गये। कलकत्ता, मद्रास, बम्बई, दिल्ली, आगरा आदि जगहों में अंग्रेज़ी स्कूल, कॉलेज इसी ज़रूरत को पूरा करने के लिए खोले गये थे।

स्कूल से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा के माध्यम को इस तरह रखा गया[4]—

1. 6 से 10 वर्ष की उम्र तक : प्रारम्भिक स्तर (प्राइमरी स्टेज) ग्राम्य बोलियों (वर्नाक्यूलर) में शिक्षा।
2. 10 से 14 वर्ष की आयु तक : माध्यमिक स्तर (मिडिल स्टेज) जिसे ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर कहा गया, जिसमें अंग्रेज़ी की शिक्षा दी जाती थी, पर वह शिक्षा का माध्यम नहीं थी।
3. 14 से 16 वर्ष की आयु तक : उच्चतर अंग्रेज़ी स्तर (हायर इंगलिश स्टेज) जिसमें मुख्यतया अंग्रेज़ी शिक्षा का माध्यम थी।
4. 16 से 20 वर्ष की आयु तक : विश्वविद्यालय स्तर जिसमें मुख्यतया अंग्रेज़ी का ही प्रयोग होता था।

इस स्कीम से स्पष्ट है कि अंग्रेज़ी राज के आरम्भिक कुछ वर्षों को छोड़कर बाकी के वर्षों में अंग्रेज़ी ही शिक्षा के मूल में थी। अंग्रेज़ी के बग़ैर दस वर्ष से ऊपर के बच्चे शिक्षा हासिल नहीं कर सकते थे। यानी या तो अंग्रेज़ी पढ़ो या पढ़ना ही छोड़ दो। नतीजतन निरक्षरों या कुछ ही वर्षों के बाद पढ़ाई छोड़ देने वालों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई।[5] दूसरी ओर शिक्षितों में अंग्रेज़ी

पढ़े-लिखों की तादाद तेजी से बढ़ी। 1880 और उसके कुछ बाद के वर्षों तक अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त भारतीयों की कुल संख्या 50000 थी। इसमें से यदि मैट्रिकुलेट की संख्या निकाल दी जाय तो बी० ए० डिग्री हासिल करने वालों की कुल तादाद 5000 बनती है। 1887 में अंग्रेज़ी पढ़ने वालों की तादाद 2,98000 थी, लेकिन यह संख्या 1907 में 5,05000 हो गयी। इसी तरह अंग्रेज़ी भाषा के समाचार-पत्रों का कुल वितरण 1885 में 90000 था, जबकि 1905 में वितरण 2,76000 हो गया।[6] 1886-87 के पब्लिक सर्विस कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार शिक्षित (अंग्रेज़ी) हिन्दुस्तानियों की संख्या इस प्रकार थी—मद्रास में 18390, बंगाल में 16639, बम्बई में 7196, संयुक्त प्रान्त में 3200, पंजाब में 1944, मध्य प्रान्त में 608 और आसाम में 274।

हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों में खिचाव लाने वाली जो कुछ दूसरी बातें थीं, उनमें बंगाल और कुछ दूसरे उत्तरी भारत के स्थानों में बंदे-मातरम् गीत में निहित लक्ष्यार्थ, 1857 की क्रान्ति में मुसलमान नवाबों और ताल्लुक़ेदारों आदि के अधिक हाथ होने का अंग्रेज़ों को शक और उसकी वजह से हिन्दुओं के प्रति अंग्रेज़ों का कुछ अर्से के लिए पक्षपात। बाल गंगाधर तिलक का गणपति पूजा को सार्वजनिक रूप देना, मुहर्रम के ताज़ियों में शरीक होने से हिन्दुओं को मना करना और उनके द्वारा शिवाजी महोत्सव का आरम्भ तथा अंग्रेज़ों द्वारा स्कूलों-कॉलेजों में लगायी जाने वाली वे पाठ्य-पुस्तकें थीं, जो अधिकतर अंग्रेज़ों द्वारा ही तैयार की गई थीं और जिनकी पाठ्य-सामग्री हिन्दू-मुस्लिम आपसी घृणा से भरपूर थी। इनके अलावा दिसम्बर 1906 में आल इंडिया मुस्लिम लीग और 1907 में पहली बार पंजाब में हिन्दू-सभा की स्थापना से दोनों क़ौमों में साम्प्रदायिकता और बढ़ी।

हिन्दू-मुस्लिम आपसी तनाव के मुद्दों में एक मुद्दा यह भी था कि आर्य-समाजियों ने उन लोगों की शुद्धि का और हिन्दू-धर्म में पुनः प्रवेश का अभियान चलाया जो शुरू में हिन्दू थे, पर परिस्थितिवश मुसलमान हो गये थे। अछूत जातियों और पिछड़े वर्गों के प्रति भी आर्य-समाज ने सदाशयता दिखाई, जो सनातनियों द्वारा हमेशा ही दुत्कारे जा रहे थे। कुछ लोगों को शुद्धिकरण द्वारा फिर से हिन्दू-धर्म में वापस ले लिया गया। वैसे यह एक मूलतः धार्मिक-सुधारवाद सम्बन्धी आन्दोलन था, पर राजनीति भी थी ही, आख़िर इससे एक धर्म की जनसंख्या बढ़ती थी, तो दूसरे धर्म की कम होती थी। सो मुसलमानों में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था जिसके परिणामस्वरूप मुसलमानों ने भी तंज़ीम (संघटन) और तब्लीग़ (प्रचार) का अभियान तेज़ किया। इन सब बातों का एक असर यह हुआ कि दोनों क़ौमों में एक-दूसरे के लिए शक और अविश्वास बढ़ता गया। वक़्त के साथ शुद्धिकरण और तंज़ीम तथा तब्लीग़

धुंधला गये, पर दोनों क़ौमों के बीच में उग आया अविश्वास अपनी जगह बना रहा।

ब्रिटिश सत्ता का शासन-तंत्र

अंग्रेज़ी राज्य में भारत की शासन-व्यवस्था दो तरह की थी। एक में प्रत्यक्ष ब्रिटिश शासन था, जो सात प्रान्तों में बंटा हुआ था। ये प्रान्त थे—बंगाल, बम्बई, सेन्ट्रल प्राविन्सेज, मद्रास, नार्थ-वेस्टर्न प्राविन्सेज, नार्थ-वेस्ट फ़्रन्टियर प्राविन्स और पंजाब। ये सात प्रान्त भारतीय उपमहाद्वीप के 61.5 प्रतिशत क्षेत्र में फैले हुए थे। दूसरी व्यवस्था में रियासतें थीं, जिनकी संख्या छः सौ एक थी और जिनका फैलाव 38.5 प्रतिशत क्षेत्र में था। रियासतें प्रभुसत्ता-सम्पन्न (सावरन) नहीं थीं। संविधान के मुताबिक रियासतें ब्रिटिश इंडिया का अंग थीं और उनमें रहने वाले लोग ब्रिटिश रिआया थे। रियासतों की सुरक्षा और विदेशी मामले वायसराय के अधिकार-क्षेत्र में आते थे। सभी महत्त्वपूर्ण रियासतों में रेजिडेन्ट्स और पोलिटिकल एजेण्ट्स रहा करते थे, जो वायसराय के प्रति उत्तरदायी पोलिटिकल डिपार्टमेंट के प्रतिनिधि होते थे। 1857 की क्रान्ति के समय अधिकांश रियासतें ब्रिटिश ताज के प्रति वफ़ादार रही थीं। 'ब्रिटिश साम्राज्य का लौह ढांचा', इंडियन सिविल सर्विस (जिसकी संख्या 1900 ई० में 900 थी) के बलबूते पर टिका था, जिसके सदस्य सामान्यतया अंग्रेज़ ही हुआ करते थे। दो-चार भारतीय अपवादस्वरूप ही थे।

अंग्रेज़ी शासकों में नस्लगत उच्चता का बहुत अधिक घमंड था और उससे भी बड़ी बात यह थी कि अंग्रेज़ इस घमंड के प्रदर्शन को ब्रिटिश सत्ता को बनाये रखने के लिए बहुत ज़रूरी समझते थे। उन्हें लगता था कि वे भारतीयों को हीन जताकर ही उन पर शासन करते रहने में कामयाब हो सकते हैं। इसका पूरी तौर पर पर्दाफ़ाश 1883 के इल्बर्ट बिल से उत्पन्न विवाद से होता है। वायसराय के एक्जिक्टिव काउंसिल के कानून-सदस्य सर कोर्टने इलबर्ट ने लेजिस्लेटिव काउंसिल में इस बिल को प्रस्तुत किया, जिसमें यह प्रावधान था कि अंग्रेज़ और भारतीय जनों के बीच विद्यमान नस्लगत भेद-भाव को कानून की दृष्टि से दूर किया जाये। अब तक किसी भारतीय मजिस्ट्रेट की अदालत में यूरोपियन अपराधी पर मुकदमे की सुनवाई नहीं हो सकती थी, कोई अंग्रेज़ मजिस्ट्रेट ही यूरोपीय अपराधी पर लगाये गये इल्ज़ाम की सुनवाई कर सकता था, भले ही वह भारतीय मजिस्ट्रेट के अधीन काम कर रहा हो। वायसराय लार्ड रिपन (1880-84) इस कुख्यात कानून में इलबर्ट बिल द्वारा सुधार करना चाहते थे, जिसके तहत यूरोपीय अपराधी के मुकदमे की सुनवाई भारतीय मजिस्ट्रेट की अदालत में भी हो सकने का प्रावधान था। पर जब यह बिल पेश

किया गया, तो दो-चार छिटपुट अंग्रेज़ अधिकारियों को छोड़कर समूचा अंग्रेज़-अधिकारी-वर्ग बिल के ख़िलाफ़ हो गया और उनसे भी अधिक ख़िलाफ़ हुए वे अंग्रेज़ जो व्यवसाय आदि के सिलसिले में यहां रहते थे। इस बिल की अंग्रेज़ों द्वारा इतनी ख़िलाफ़त हुई कि अन्ततः इसमें परिवर्तन करके ही इसे पारित किया जा सका। नस्ल की उच्चता का खुला प्रदर्शन अंग्रेज़ी सत्ता की नीति का हिस्सा था। वे इससे यह जताना चाहते थे कि भारतीयों में शासन संभालने और चलाने की क्षमता ही नहीं है। वे नस्ल से ही हीन हैं और शासित होने के लिए अभिशप्त हैं। अंग्रेज़-नस्ल को उन पर शासन करने का अधिकार है। यह धारणा अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे और इंग्लैण्ड में अंग्रेज़ों के स्वाधीनता-प्रेम की भावना से परिचित भारतीय मध्यवर्ग को बहुत अखरा करती थी। स्वतन्त्रता आन्दोलन के पीछे यह एक प्रमुख भावनात्मक ताक़त बनी।

"अंग्रेज़ों ने भारतीय इतिहास इस तरह से लिखा, जिसमें मुस्लिम शासन के केवल दमनकारी चरित्र पर एकपक्षीय बल दिया गया है। मुस्लिम शासन के इस दमनकारी चरित्र से अंग्रेज़ों ने यहां की जनता को मुक्त किया। इस तरह से मुसलमानों के प्रति घृणा और रोष को दूसरे सम्प्रदायों में बढ़ावा दिया गया। साथ ही प्रशासकीय और राजनीतिक नीति इस तरह की बनायी गयी, जिससे मुसलमानों की आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति कमजोर होती है।"[7]

"अठारहवीं सदी के आरम्भ से उन्नीसवीं सदी के लगभग अंत तक के काल में अंग्रेज भारतीय मुसलमानों को अपना सबसे बड़ा दुश्मन या (कहिए कि) खतरे का सम्भाव्य स्रोत समझते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी दो दशकों में ब्रिटिश नीति में परिवर्तन दिखलाई देता है। भारतीय मध्यवर्ग—जिसमें मुख्य रूप से हिन्दुओं की तादाद थी—के ऊपर उठने से और (भारतीय) राष्ट्रीय कांग्रेस, जो शक्ति हासिल करने के लिए हथियार के तौर पर थी, की स्थापना से अंग्रेज़ शासकों में डर की भावना पैदा हुई। मुस्लिम समुदाय की ओर से ख़तरा ख़त्म हो गया, लेकिन एक बिलकुल ही नयी दिशा से चुनौती उठ खड़ी हुई।"

1886 से ब्रिटिश नीति में ठोस परिवर्तन दिखाई देता है। वह क्रमशः मुसलमानों के पक्ष की ओर झुकती है और 1905 के ख़त्म होते-होते पूरी तौर पर मुस्लिम उच्चवर्ग का पक्षधर होती है।

अंग्रेज़ी-राज में पहला हिन्दू-मुस्लिम दंगा सन् 1782 के दिसम्बर में आसाम के सिलहट में हुआ बताया जाता है। वारेन हेस्टिंग्ज को भेजी गयी अपनी रिपोर्ट में सिलहट के पदाधिकारी आर० लिंडसे ने कहा कि यह दंगा इस वजह से हुआ कि सिलहट की आबादी के दो तिहाई संख्या वाले बहुसंख्यक मुसलमानों ने हिन्दुओं से मुहर्रम के दौरान हिन्दू त्योहारों को मनाने से मना किया। हिन्दुओं ने यह बात मानने से इनकार किया। नतीजतन मुसलमानों ने

मंदिरों में तोड़-फोड़ की, पुजारियों और दूसरे हिन्दुओं पर हमला किया।[8] इसके बाद बनारस में 1809 में बड़ा हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ,[9] जिसमें कई सौ लोगों की जानें गयी थीं। इस दंगे की मुख्य वजह औरंगज़ेब द्वारा बनवायी मस्जिद और विश्वेश्वर मंदिर के बीच की खाली जगह में हिन्दुओं द्वारा कुछ निर्माण कार्य को लेकर थी। मुसलमानों ने इसका विरोध किया और मंदिर के अन्दर घुसकर लाट भैरों को ध्वस्त करने के साथ मंदिर को भी क्षति पहुंचाई। दूसरे दिन हिन्दुओं के बहुत बड़े जत्थे ने मस्जिदों पर हमला किया। कई दिन तक मार-काट चलती रही। कई सौ लोग मारे गये और शासन कानों में तेल डाले पड़ा रहा।

इसके बाद 1851 और 1874 में बम्बई में मुस्लिम-पारसी दंगे हुए। वजह बहुत मामूली थी। पहली बार दंगा गुजराती अखबार में मुहम्मद साहब के चित्र के प्रकाशन को लेकर था और दूसरी बार एक गुजराती पुस्तक में मुहम्मद साहब पर लेख को लेकर। 1871-72 में छिटपुट दंगे हो चुके थे। 1885 में लाहौर और करनाल में बड़े दंगे हुए, फिर दिल्ली में। 1885 में ही कालीकट के पास मल्लियापूरन में एक हिन्दू-मुस्लिम विवाह को लेकर दंगा हुआ। अक्टूबर 1886 में इटावा और दिल्ली में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए, कारण था दशहरा और मुहर्रम त्योहारों का साथ-साथ आना। 1888-89 में डेरा ग़ाज़ीखान में दंगा हुआ। कारण एक हिन्दू का मुसलमान बनाया जाना था। इसी तरह 1893 में कई दंगे हुए। ये दंगे संयुक्त-प्रान्त के कई इलाक़ों तथा बम्बई में हुए, जिनमें अस्सी आदमी मारे गये थे। 1885 से लेकर 1893 के इन दंगों के होने में पहले चार वर्षों में जो मुख्य कारण था, वह मुहर्रम और दशहरा का साथ-साथ पड़ना बताया जाता है। 1894 में पूना में दंगा हुआ, जिसकी वजह एक मस्ज़िद के सामने हिन्दुओं का बाजा बजाते हुए जाना था। गणपति पूजा (तिलक द्वारा प्रचारित) इन्हीं दिनों आरम्भ हुई। सितम्बर 1924 में पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के कोहाट में हिन्दू-विरोधी दंगे हुए, जिसमें 155 लोग मारे गये। कलकत्ता में अप्रैल से जुलाई 1926 के बीच तीन बार दंगे भड़के, जिनमें 138 आदमी मारे गये। उसी साल ढाका, पटना, रावलपिंडी और दिल्ली में दंगे हुए। 1923 और 1927 के बीच संयुक्त प्रान्त में 91 साम्प्रदायिक दंगे हुए। दंगों के ख़याल से यह सबसे अधिक प्रभावित इलाक़ा था। दंगों का कारण मस्जिदों के आगे संगीत के बजाये जाने पर रोक की मांग और गोबध पर पाबन्दी के लिए हिन्दूओं का दबाव था।[10]

इसके बाद तो हिन्दू-मुस्लिम दंगों की वारदातें बढ़ती ही गयीं। एक तरह से नियम-सा बन गया। मामूली-से-मामूली घटनाएं या तू-तू, मैं-मैं दंगों में परिवर्तित होने लगीं। हिन्दू-मुस्लिम जितने दंगे हुए, सभी के पीछे वजहें बहुत तुच्छ

और सतही थीं। बहुत बार तो सिर्फ अफवाहें जो निश्चय ही जान-बूझकर फैलायी गयी होती थीं, दंगों का कारण होती रहीं। धर्मांधता भी एक बड़ा कारण थी। कभी-कभी गुंडागर्दी इसका कारण बन जाती। अंग्रेज़ी राज की भूमिका भी हमेशा ही संदेहास्पद रही।

ब्रिटेन में भारतीय मामलों के सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट को भारत सरकार की ओर से लिखे गये पत्र संख्या 84 दिनांक 27 दिसम्बर 1893 में हाल में हिन्दू-मुस्लिम दंगों के कारण के रूप में तीन बातें बताई गयी थीं। उनमें पहला कारण यह बताया गया कि अब चूंकि एक स्थान से दूसरे स्थान को आने-जाने तथा समाचारों के पहुंचने के साधनों में सुधार हुआ है, जिसकी वजह से दंगों की खबरें शीघ्र पहुंच जाती हैं। साथ ही ये खबरें बहुत बढ़ा-चढ़ाकर और पक्षधरता के साथ दी जाती हैं, इसलिए दंगे जल्दी ही भड़क जाते हैं।

दूसरा कारण यह बताया गया कि हिन्दू चूंकि ज़िन्दगी की दौड़ में मुसलमानों से काफी आगे बढ़ गए हैं, हिन्दुओं ने सरकारी नौकरियों पर एक तरह से एकाधिकार कर लिया है, उन्होंने क़ानून और दूसरे व्यवसायों में अधिक सफलता हासिल की है, इसलिए मुसलमानों में एक कचोट का भाव पैदा हुआ है, जिसकी वजह से आपसी वैर-भाव बढ़ गया है।

तीसरा कारण है हिन्दू धार्मिक पुनर्जागरण। गो-रक्षा समितियों का विकास इसका एक लक्षण है, जिसके द्वारा हिन्दू धार्मिक अनुशासन कड़ा हुआ है और हिन्दुओं में ब्राह्मणों के लिए सम्मान और गो-रक्षा की भावना बढ़ी है।

1893 में ही हाउस ऑफ कॉमन्स में सर विलियम वेडरबर्न ने भारतीय मामलों के अण्डर-सेक्रेटरी ऑफ स्टेट से भारत में हुए दंगों की पूरी सूचना की मांग की और यह सुझाव दिया कि सरकारी और ग़ैर-सरकारी सदस्यों का एक मिला-जुला कमीशन बनाया जाए, जो दंगे के कारणों पर विचार करे और उनके कारणों को हटाने के उपायों को सुझाये। कुछ महीने बाद भारतीय मामलों के अण्डर-सेक्रेटरी लार्ड रसेल ने इसका विवरण देते हुए कहा कि "जैसा कि मेरे सम्माननीय मित्र को ज्ञात है, भारत में साम्प्रदायिक दंगे करीब हर साल ही होते हैं। सेक्रेटरी ऑफ स्टेट यह आवश्यक नहीं समझते कि वह भारत सरकार को ऐसे किसी कमीशन को नियुक्त करने का निर्देश दें जिसका सुझाव मेरे सम्माननीय मित्र दे रहे हैं।"[11]

'दि डेली क्रानिकल' अख़बार ने 1893 के आसपास दंगों के बढ़ने का पहला कारण यह बताया कि भारत में यह धारणा फैल गयी है कि ब्रिटिश सरकार मुस्लिम-तत्वों को हिन्दुओं की क़ीमत पर शह दे रही है और दूसरी धारणा यह फैली हुई है कि यह शह और मुसलमानों की पीठ थपथपाना ब्रिटिश सरकार की

'भेद-भाव पैदा करो और शासन करो' की आम नीति का हिस्सा है ।[12] कूपलैंड ने यह कहा है कि 1885 में ही भारतीय नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई और उसी साल दंगे हुए । यह मानना मुश्किल है कि 1885 में संयोगवश दंगे हुए होंगे । इसी तरह उसने यह भी कहा कि 1907 से 1914 तक का काल भी दंगों के हिसाब से बहुत अशान्ति का काल था । यह वह समय था जब मार्ले-मिन्टो सुधार को लेकर वाद-विवाद तथा विभिन्न चर्चाएं चल रही थीं और उसे लागू किया जा रहा था । यह भी केवल संयोगवश नहीं हो सकता ।[13]

हिन्दू-मुस्लिम दंगों को भड़काने में अंग्रेज़ी-सत्ता की भूमिका को अगर आप कुछ कम करके देखें तो भी क्षम्य हो सकता है, पर निश्चय ही ब्रिटिश सत्ता की धूर्तता और कूटनीतिक चाल वहां क्षम्य नहीं लगती, जहां उसको फैलने देने और कई-कई दिन तक लगातार चलते देते रहने की बात है। इससे कोई भी इनकार नहीं कर सकता कि दंगा किसी वजह से भी हो तो भी शासन अगर ईमानदारी से चाहे तो शीघ्र उसे दबाया जा सकता है । अंग्रेज़ों की कुटिल नीति का पर्दाफ़ाश यहीं पर होता है ।

हिन्दी-उर्दू के विकास के साथ-साथ आपसी प्रतिद्वन्द्विता की दृष्टि से 1800 ई० से लेकर 1947 तक के समय को चार भागों में बांटा जा सकता है । पहला भाग 1800 से 1835 तक अर्थात् फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से लेकर मैकाले के अंग्रेज़ी भाषा के प्रस्ताव तक का समय । दूसरा भाग 1835 से आज़ादी की पहली लड़ाई 1857 तक । 1857 से लेकर 1900 तक तीसरा भाग, जब मेकडानेल ने संयुक्त-प्रान्त की कचहरियों तथा राजस्व आदि के दफ़्तरों में उर्दू के साथ हिन्दी को भी, यानी कि फ़ारसी लिपि के साथ-साथ देवनागरी लिपि को भी लागू करने का आदेश दिया। और चौथा भाग 1900 से लेकर 1947 तक, जिसमें हिन्दी-उर्दू-विवाद और हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता और भी बड़े पैमाने पर दिखाई देती है। इसमें से विवाद की प्रखरता 1867 से उत्तरोत्तर प्रखर होती गयी थी।

संदर्भ

1. जवाहरलाल नेहरू, कुछ पुरानी चिट्ठियां ।
2. भारत में अंग्रेज़ी राज, प्रथम खंड, 1960, पृ० 75
3. तारीक़ीकुर्बानी-गौ, अगस्त 1925, पृ० 26-27, ख़्वाजा हसन निज़ामी।
4. हन्सार्ड, पार्लियामेंटरी पेपर्स, भाग XVIII, 1833, हाउस ऑफ कॉमन्स, पृ० 732

5. सुन्दरलाल ने 'भारत में अंग्रेज़ी राज', प्रथम खंड, प्रथम मुद्रण, 1960, पृ० 104 में लिखा है कि डेढ़ सौ साल पहले जिस देश में एक भी पुरुष या स्त्री किसी गांव के अन्दर ऐसा न मिल सकता था, जो लिखना-पढ़ना न जानता हो, वहां आज (1929 में) 93 फ़ीसदी आबादी बिलकुल अनपढ़ है।
6. जे० आर० मैकलेन, इंडियन नेशनलिज़्म एण्ड दि अर्ली कांग्रेस, पृ० 4, सुमीत सरकार 'मॉडर्न इंडिया', 1885-1947, पृ० 65 से उद्धृत।
7. हुमायूं कबीर, मुस्लिम पॉलिटिक्स 1906-47 एण्ड अदर एसेज, 1969, पृ० 15
8. दि सिलहट डिस्ट्रिक्ट रेकार्ड्स, सं० वाल्टर एफ फरमिंगर, भाग-1 (1770-85), पृ० 123-31
9. रिपोर्ट ऑफ दि इंडियन स्टैट्यूटरी कमीशन, जिल्द-4, भाग 1, पृ० 96
10. सुमीत सरकार, मॉडर्न इंडिया, पृ० 233
11. हन्सार्ड, डिबेट्स ऑन इंडियन अफ़ेयर्स, सेशन 1893, पृ० 616
12. इंडिया, 1 सितम्बर 1893 से उद्धृत।
13. सर रेजिनाल्ड कूपलैण्ड, दि इंडियन प्रॉब्लम 1833-1935, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1942, पृ० 29

2

1800-1835

हिन्दुस्तानी और उर्दू का सहसम्बन्ध

लार्ड वेलेज़ली ने 1800 ई० की 4 मई को कलकत्ता में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की नींव रखी थी। उद्देश्य यह था कि फ़ारसी, अरबी, उर्दू, बंगाली जैसी कुछ भाषाओं के अध्ययन का इसे केन्द्र बनाया जाए, जिससे भारतीय सिविल सर्विस और मिलिट्री सर्विस में विलायत से आये पदाधिकारियों को इन भाषाओं की थोड़ी बहुत जानकारी कराई जा सके। साथ ही इन भाषाओं के माध्यम से ईसाई धर्म को प्रचारित करने का काम भी लिया जाए[1]। पर ईस्ट इंडिया कम्पनी कॉलेज का खर्च वहन करने के लिए तैयार नहीं थी। 27 जनवरी 1802 को कम्पनी ने वेलेज़ली को कॉलेज बन्द करने को कहा। वायसराय हर कीमत पर कॉलेज को चलाने के पक्ष में था। वह बन्द करने के विचार से सहमत नहीं हुआ, और कॉलेज 24 जनवरी 1854 तक क़ायम रहा, जब लार्ड डलहौज़ी ने इसे बन्द करने का फैसला लिया।

जान बोर्थविक गिलक्राइस्ट (1757-1842) इस कॉलेज में हिन्दुस्तानी (अर्थात् उर्दू) के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए। गिलक्राइस्ट पहले से ही ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारी थे। इस बात में अब मुझे कोई सन्देह नहीं है कि फ़ोर्ट विलियम कॉलेज और उसके तत्त्वावधान में प्रो० गिलक्राइस्ट का विभिन्न देशी भाषाओं पर सोच-विचार और भाषाओं की अपने ही ढंग और तर्ज़ की परिभाषा और व्याख्या में हिन्दी-उर्दू विवाद के बीज छिपे हैं। गिलक्राइस्ट ने हिन्दुस्तानी पर बहुत कुछ लिखा और दूसरे मुंशियों से लिखवाया। उर्दू के लिए हिन्दुस्तानी नाम के प्रचार की शुरूआत भी गिलक्राइस्ट ने ही की थी, और हिन्दुस्तानी को अधिक से अधिक चलन में लाने का श्रेय भी उन्हीं को जाता है। बाद में हिन्दी-उर्दू विवाद के ज़ोर पकड़ने पर उर्दू के लिए हिन्दुस्तानी नाम की आड़ लेने की ब्रिटिश कूटनीति को इससे बहुत बल मिला।

गिलक्राइस्ट की जो रचनाएं हैं, उनमें महत्त्वपूर्ण रचनाएं और संख्या की दृष्टि से भी अधिकतर रचनाएं 'हिन्दुस्तानी' नाम पर ही हैं, जो दरअसल उर्दू की रचनाएं हैं। 'अ डिक्शनरी : इंग्लिश एण्ड हिन्दुस्तानी', 'अ ग्रामर आफ़ हिन्दुस्तानी लैंग्वेज,' 'हिन्दुस्तानी एक्सरसाइज़ेज़,' 'स्ट्रेन्जर्स ईस्ट इंडिया गाइड टु दि हिन्दुस्तानी' आदि अनेक रचनाएं इसी कोटि की हैं।

सभी देशी भाषाओं के लिए रोमन लिपि को अपनाने की वकालत करने वाले पहले व्यक्ति भी गिलक्राइस्ट ही थे। वे इस बात के लिए बड़े आग्रही थे कि रोमन लिपि को भारतीय भाषाओं के लिए अपना लिया जाए। रोमन जैसी भ्रष्ट लिपि को वे दोषमुक्त मानते थे, और देवनगरी जैसी त्रुटिविहीन लिपि उनकी निगाह से सदा ओझल रही। यह मानना मुश्किल है कि ऐसा उनकी अनभिज्ञता की वजह से हुआ होगा। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में रोमन लिपि के माध्यम से ही पहले हिन्दुस्तानी सिखाई जाती थी, भाषा की कामचलाऊ जानकारी हो जाने पर फ़ारसी लिपि का ज्ञान कराया जाता था।

गिलक्राइस्ट ने फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के पहले से ही फ़रवरी 1799 से ओरियंटल सेमिनरी में हिन्दुस्तानी पढ़ाना शुरू कर दिया था। 21 दिसम्बर 1798 के बोर्ड के प्रस्ताव के मुताबिक न्यायिक, राजस्व और कॉमर्स से सम्बन्धित विभागों के लिए हिन्दुस्तानी (यानी कि उर्दू), फ़ारसी और बंगाली का ज्ञान आवश्यक कर दिया गया था। गिलक्राइस्ट हिन्दुस्तानी पढ़ाने के लिए नियुक्त हुए। गिलक्राइस्ट ने हिन्दुस्तानी और हिन्दी या हिन्दुवी में न केवल अन्तर किया, वरन् इस अन्तर पर बहुत बल दिया। उनके हिसाब से हिन्दुवी केवल हिन्दुओं की भाषा है। जैसा कि मैंने पहले कहा है कि गिलक्राइस्ट हिन्दी-उर्दू विवाद के जनक थे।

उर्दू को निचले तबके के सरकारी काम-काज की भाषा बनाने और उसे अतिरिक्त महत्त्व दिलाने का श्रेय अंग्रेज़ों को ही है। और इसमें फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। 'हिन्दू मुस्लिम दो नेशन हैं' के सिद्धान्त को अंग्रेज़ आगे बढ़ा रहे थे। इस सिद्धान्त को और पुख्ता करने के लिए ज़बान में अलगाव पैदा करना बहुत ज़रूरी था। हिन्दी और उर्दू दो अलग-अलग ज़बानें हैं, इस पर जितना जोर अंग्रेज़ लेखकों ने दिया, उतना मुस्लिम लेखकों ने भी नहीं दिया है। हिन्दुस्तानी लेखकों और राजनीतिज्ञों ने अंग्रेज़ों द्वारा दी गई ऊल-जलूल दलीलों को ब्रह्मवाक्य मानकर हिन्दी और उर्दू को एक-दूसरे के रूबरू समझना और मानना शुरू किया। मुस्लिम राजनीतिज्ञों और बुद्धिजीवियों को उर्दू को अलग और स्वतन्त्र मानने के फ़ायदे अंग्रेज़ों द्वारा ही सुझाए गये थे। वरना क्या कारण है कि मुस्लिम शासनकाल में तो उर्दू को हिन्दवी से जुदा नहीं समझा गया, ग़ालिब और मीर[2] जैसे उर्दू के महान शायरों ने भी इनमें कोई

फ़र्क़ नहीं किया, दोनों शब्दों को समानार्थी मानकर ये कवि चले, पर ब्रिटिश शासन के क़ायम होते ही एक ही ज़बान को द्योतित करने वाले ये दो शब्द रातों-रात दो अगल-अलग ज़बानों के प्रतीक बन गए। अंग्रेज़ शासक जानते थे कि हिन्दू-मुस्लिम एकता को बर्बाद करने वाले सूत्र कौन से हैं। उन सूत्रों को उन्होंने पकड़ा। हिन्दी और उर्दू की एकता कुछ इस तरह की थी, जिसे आसानी से छिन्न-भिन्न किया जा सकता था। ज़बान भारतीय थी, पर लिपि अरबी-फ़ारसी थी। फ़ारसी को सरकारी काम-काज की भाषा का दरजा हासिल था। फ़ारसी जानने वालों में हिन्दुओं की भी एक बड़ी संख्या थी, पर मुसलमानों की तादाद और भी अधिक थी। फिर उर्दू का जन्म जिस माहौल में हुआ था वह मुस्लिम माहौल था। फ़ारसी के शब्दों का खुलकर उसमें आना स्वाभाविक ही था।[3] कुल मिलाकर अंग्रेज़ों के आते-आते स्थिति यह हो गयी थी कि बड़ी आसानी से हिन्दी और उर्दू में विभेद पैदा किया जा सकता था। अंग्रेज़ों ने इसी स्थिति का फ़ायदा उठाया। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज को एक ऐसा मंच बनाया गया जिससे मुख्य रूप से दो तरह के काम लिये गए। पहला विलायती साहबों को यहां की ज़बानों की कामचलाऊ जानकारी देने का काम, और दूसरा भारतीय भाषाओं की व्याख्या के नाम पर यहां की भाषाओं को मनचाही दिशा में मोड़ने का काम। ये दोनों काम अंग्रेज़ी शासन को पुष्ट करने के लिए ज़रूरी थे।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के कोर्ट ऑफ़ डाइरेक्टर्स ने कॉलेज खोलने का जो विरोध किया था, उसके दूसरे कारण थे। वेलेज़ली की मूल योजना फ़ोर्ट विलियम कॉलेज को पौर्वात्य अध्ययन का केन्द्र बनाना था। कम्पनी इससे सहमत नहीं थी, क्योंकि उसे यह आशंका थी कि इससे भारतीयों में स्वदेश-भक्ति की भावना भी पैदा हो सकती है, जो कि एक खतरनाक बात होती। दूसरी बात यह थी कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स के सदस्यों से लेकर नीचे के पदाधिकारियों तक सभी यहां धन बटोरने में जुटे थे। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के लिए जितने धन की आवश्यकता थी, कम्पनी उसे मुहैया कराने के लिए तैयार नहीं थी।

अंग्रेज़ों ने जहां कहीं भाषा के संदर्भ में 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग किया है, वहां इससे उनका आशय उर्दू से रहा है।

21 दिसम्बर 1798 के जिस बोर्ड के प्रस्ताव का उल्लेख ऊपर किया गया है, उसके मुताबिक न्यायिक, राजस्व और कॉमर्स से सम्बन्धित सभी विभागों के लिए हिन्दुस्तानी, फ़ारसी तथा बंगला का ज्ञान आवश्यक बनाया गया। गिलक्राइस्ट ने हिन्दुस्तानी का अध्यापन संभाला। वायसराय द्वारा नियुक्त इसी अध्यापन से सम्बन्धित कमेटी ने वायसराय को दी गई रिपोर्ट में लिखा कि

"बिना अपवाद के इस कक्षा के सभी लोगों ने हिन्दुस्तानी भाषा का ज्ञान प्रदर्शित किया।"

उद्धरण में 'हिन्दुस्तानी' से आशय उर्दू ज़बान से ही है। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में जान गिलक्राइस्ट की नियुक्ति 'हिन्दुस्तानी' मतलब उर्दू के प्रोफेसर के रूप में हुई थी।

सादिक-उर-रहमान किदवई ने अपनी थीसिस 'गिलक्राइस्ट एंड दि लैंग्वेज़ ऑफ़ हिन्दुस्तानी' (पृ० 48) में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के स्तर की गिरावट से सम्बन्धित एक उद्धरण दिया है। उद्धरण के मुताबिक 22 अप्रैल 1805 को तीन मुंशियों— काज़िमअली, करामतअली तथा मोहिउद्दीन ने (कॉलेज) काउंसिल को भेजे गए एक पत्र में यह शिकायत की कि हिलालुद्दीन मुंशी और गुलाम अकबर मुंशी ने "खुलेआम रिश्वत लेने का चलन चला दिया है" और उन्हीं को नौकरी दी जाती है जो रिश्वत देते हैं—"बिना इस बात पर ग़ौर किये कि उनकी योग्यता और क्षमता हिन्दुस्तानी जबान में मुंशी होने की है (या नहीं)।"[4]

इस उद्धरण में 'हिन्दुस्तानी जबान' से आशय उर्दू से ही है।*

---

* इससे इस बात का भी बखूबी अंदाज़ होता है कि ब्रिटिश काल में रिश्वत का कैसा बोलबाला रहा होगा, जिससे अपने ढंग का अकेला फ़ोर्ट विलियम कॉलेज भी मुक्त नहीं था। उस वक्त धन की लूट-खसोट का जो महाभोज चल रहा था, उसका अंदाज़ा तत्कालीन गवर्नर-जनरल के एक पत्र से भी लगता है। गवर्नर-जनरल मार्क्विस वेलेज़ली ने 2 अक्टूबर 1800 ई० को कलकत्ता से अपने एक मित्र (लेडी एम० बर्नार्ड) के नाम इंग्लैंड पत्र लिखा— "···मैं बादशाहतों के ढेर लगा दूंगा और फ़तह पर फ़तह तथा मालगुज़ारी लाद दूंगा। मैं इतनी शान, इतना धन और इतनी सत्ता इकट्ठी कर दूंगा कि एक बार मेरे महत्त्वाकांक्षी और धनलोलुप मालिक भी त्राहि-त्राहि चिल्लाने लगेंगे···।" (सुंदरलाल, भारत में अंग्रेज़ी राज, प्रथम खंड, 1960, पृ० 320)

ब्रुस ने 'अन्नल्स ऑफ़ दि आनरेबल ईस्ट इंडिया कम्पनी' (भाग 1, पृ० 128) में लिखा है कि सन् 1600 ई० में इंगलिस्तान की रानी एलिज़ाबेथ ने सुप्रसिद्ध ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना की। यह कम्पनी उन अंग्रेज़ व्यापारियों की थी, जो हिन्दुस्तान के साथ तिजारत करने की लालसा रखते थे। यह बात याद रखने योग्य है कि जो फ़रमान रानी एलिजाबेथ ने इस मौके पर जारी किया, उसमें इस कम्पनी को साफ-साफ इस तरह के साहसी लोगों की मंडली (सोसायटी ऑफ़ ऐडवेंचरर्स) कहा गया है, जो लूट, सट्टे आदि के लिए निकलते हैं और जो अपने धन कमाने के उपायों में सच-झूठ, ईमानदारी-बेईमानी अथवा न्याय-अन्याय का अधिक ख़याल नहीं रखते। कम्पनी के डाइरेक्टरों ने शुरू ही में इस

1813 में लंदन से प्रकाशित जान शेक्सपियर का 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' दर-असल उर्दू ही के ग्रामर के रूप में लिखा गया है। इसी तरह एस० डब्ल्यू० फ़ैलन ने अपने कोश 'अ न्यू हिन्दुस्तानी इंगलिश डिक्शनरी' बनारस 1879 के शुरू में ही यह लिखा है कि "मौलवी और पंडित हिन्दुस्तानी और हिन्दी के सबसे असहज लेखक हैं।" फ़ैलन ने यह बात सामान्य जनभाषा से दूर होती तत्कालीन प्रवृत्ति के मद्देनज़र कही थी। ज़ाहिर है कि फ़ैलन का हिन्दुस्तानी से आशय उर्दू से ही है।

इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में सर चार्ल्स लायल ने कहा कि "देशी लोग (नेटिव्ज) जिसे उर्दू या उर्दू ज़बान बोलते हैं, उसी को अंग्रेज़ हिन्दुस्तानी कहते हैं।"

1915 में सरकार ने हिन्दी-उर्दू के विद्वान मि० बर्न से स्कूलों और विश्व-विद्यालय के लिए रीडरों पर राय मांगी थी। मि० बर्न ने अपनी लिखित राय में यह कहा कि "हिन्दुस्तानी, अर्थात् उर्दू, के गद्य-पद्य की भाषा तो एक ही है, पर हिन्दी की नहीं। हिन्दी के पद्य की भाषा में गद्य की भाषा से भेद है।"

ज़ाहिर है कि बर्न जो कि हिन्दी-उर्दू के विद्वान् थे, हिन्दुस्तानी और उर्दू में कोई फ़र्क़ नहीं कर रहे थे। बर्न की पूरी राय और उस पर चर्चा अन्यत्र की गई है।

और भी बहुत से उदाहरण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि अंग्रेज़ी राज और अंग्रेज़ लेखकों की दृष्टि में हिन्दुस्तानी और उर्दू में मूलतः कोई फ़र्क़ नहीं था। बाद में जो अन्तर किया गया, वह लिपि को लेकर था। उर्दू, फारसी लिपि में लिखी जाती रही, पर हिन्दुस्तानी उन्होंने ऐसी ज़बान को कहना शुरू किया जिसे फ़ारसी और देवनागरी दोनों लिपियों में लिखा जाये।

ग़रेब-उल-लुगात, जिसका संकलन औरंगजेब के समय में अब्दुल वासी हंसवी

बात का फ़ैसला कर लिया था कि हम अपनी कम्पनी में "किसी ज़िम्मेदारी की जगह पर किसी शरीफ़ आदमी को नियुक्त न करेंगे।" उन्होंने मलका के नाम अपनी दरख़्वास्त में भी लिखा था कि "हमें अपना व्यापार अपने ही जैसे आदमियों द्वारा चलाने की इजाज़त होनी चाहिए, क्योंकि यदि लोगों को इस बात का सन्देह भी हो गया कि हम शरीफ़ आदमियों को अपने यहां नौकर रखेंगे तो मुमकिन है, हमारे बहुत से साहसी पत्तीदार अपनी पत्तियां वापस ले लें।" यही भारत के अन्दर इस अंग्रेज़ कम्पनी के ढाई सौ साल के कारनामों और उसकी समस्त नीति की कुंजी है, इन ढाई सौ सालों के अन्दर कम्पनी के मेम्बरों, मुलाजिमों आदि में विरले ही ऐसे होंगे जिन्हें 'शरीफ़ आदमी' कहा जा सके।" (सुन्दरलाल, भारत में अंग्रेज़ी राज, 1960, प्रथम खंड, पृ० 115)

ने किया था, का 1750 के आसपास संपादन करने वाले सिराजुद्दीन अली खान 'आरज़ू' ने यहां की भाषाओं को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया था—1. हिन्दी, अर्थात् हिन्दुस्तानी तथा अन्य बोलियां, 2. हिन्दी-ए-क़िताबी, अर्थात् संस्कृत, 3. महविरा ए-मुवल्लिदीन अर्थात् उर्दू या हिन्दी जिसमें अरबी और फ़ारसी शब्दों की बहुलता हो।[5]

'आरज़ू' फ़ारसी के विद्वान् थे और अपने समय की भाषाओं के अच्छे जानकार थे। उनके इस वर्गीकरण से दो-तीन बातें सामने आती हैं। पहली बात यह कि उन्होंने हिन्दी को पहले वर्ग में बोलचाल की भाषा के रूप में देखा है इसीलिए इसे हिन्दुस्तानी और दूसरी बोलियों के समकक्ष रखा गया है। इससे यह भी ज़ाहिर होता है कि आरज़ू हिन्दुस्तानी को बोलचाल की भाषा के रूप में देख रहे हैं। हिन्दुस्तानी अर्थात् हिन्दी का बोलचाल का रूप। दूसरी बात यह है कि तीसरा वर्ग उन्होंने ऐसी उर्दू या हिन्दी का बताया है जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों की बहुलता हो। यहां उन्होंने 'उर्दू या हिन्दी' जुमला कहा है यानी कि उर्दू और हिन्दी को एक ही ज़ुबान के तौर पर लिया गया है।

'आरज़ू' ये ख़याल 1750 ई० के आसपास व्यक्त कर रहे थे, और 1798 तक आते-आते ओरियंटल सेमिनरी में गिलक्राइस्ट 'हिन्दुस्तानी' को उर्दू का पर्याय बताने लग जाते हैं और उर्दू और हिन्दी को दो भिन्न भाषाओं के रूप में दिखाने लगते हैं।

उर्दू के लिए हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग जिन अंग्रेज़ लेखकों ने सबसे ज़्यादा किया है, उनमें गिलक्राइस्ट का नाम सबसे ऊपर है। लेकिन अनजाने में उनके लेखन से कहीं-कहीं यह बात झलकती है कि हिन्दुस्तानी हिन्दी-उर्दू के बीच की ज़ुबान है। 'अपेन्डिक्स' (टू ग्रामर एण्ड डिक्शनरी, कलकत्ता, 1798, पृ० 21) में उन्होंने कहा है कि यह ज़बान उन लोगों को एक साथ जोड़ने वाली कड़ी का काम करती है जिनके धर्म और सामाजिक नियम एक-दूसरे के विरोध में पड़ते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि हिन्दुस्तानी "किसान, कलाकार, व्यापारी, पुजारी, सैनिक, भद्रजन, दरबारी, राजकुमार और राजा सभी की भाषा है…चाहे वे कुरान के अनुयायी हों या शास्त्र के, सभी इसी अपनी ज़ुबान में बोलते हैं और सोचते हैं।"[6]

पर उनके ये विचार अनजाने में ही व्यक्त हुए हैं, वरना वे हिन्दुस्तानी को उर्दू के रूप में ही देखते-समझते और व्यक्त करते थे।

गिलक्राइस्ट ने तीन देशी भाषाओं का उल्लेख किया है—हिन्दुवी, हिन्दुस्तानी और संस्कृत। संस्कृत को मृतभाषा घोषित करते हुए और यह बताते हुए कि यह कभी भी बोलचाल की भाषा नहीं थी, हिन्दुवी और हिन्दुस्तानी को बोलचाल की भाषा बताया। हिन्दुवी के विभिन्न रूपों (शेड्स) को गिलक्राइस्ट

ने इस तरह बताया है : 1. बंगाली, 2. राजपूतानी, 3. पूर्वी, 4. दखनी, 5. ओड़िया, 6. मलवाड़ी, 7. गुजराती, 8. तिलंगी, 9. किश्मीरी आदि (अपेंडिक्स, पृ० 22-23)

हिन्दुस्तानी के भी दखनी, पंजाबी, पूर्वी आदि रूप बताये। हिन्दुस्तानी को तीन वर्गों में विभाजित किया : 1. उच्च न्यायालयी अथवा फ़ारसी शैली, 2. मध्यम अथवा जेनुइन हिन्दुस्तानी शैली, 3. भ्रष्ट (वल्गर) अथवा हिन्दुवी।

गिलक्राइस्ट के इस भाषा-वर्ग विभाजन से यह समझने में कोई मुश्किल नहीं होती कि गिलक्राइस्ट का हिन्दुस्तानी से आशय उर्दू से ही है। यह बात भी छिपी नहीं रहती कि हिन्दुवी के बारे में उनकी जानकारी कितनी सतही और हास्यास्पद है। यह भी ध्यान में रखने लायक तथ्य है कि उसी दौर में मीर*(1724-1810) जैसे शायरों के शायर अपनी कविता की भाषा को हिन्दवी बताते हुए गर्व का अनुभव कर रहे थे। और तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के अमीर खुसरो (1255-1324) अपने को हिन्द की तूती बताते हुए यह कह रहे थे कि अनुपम बातें वे हिन्दुई में ही बता सकते हैं।*

उसी हिन्दुवी को हमारे गिलक्राइस्ट महोदय भ्रष्ट (वल्गर) भाषा का फ़तवा देने पर तुले थे। यह गिलक्राइस्ट की अज्ञानता थी या सोची-समझी नीति, इसका निर्णय आप खुद ही कर सकते हैं।

थोड़ी देर के लिए अगर हम यह मान भी लें कि गिलक्राइस्ट का यह विभाजन कुछ उसी तरह का है जैसे कि किसी भी भाषा के इस तरह के तीन स्तर बताये जा सकते हैं। ऐसा हो भी सकता था लेकिन तब हिन्दुस्तानी की जो भ्रष्ट शैली है वह हिन्दुवी किस तरह हो गयी। किस आधार पर यह नाम गिलक्राइस्ट ने हिन्दुस्तानी की भ्रष्ट शैली को दिया; जबकि हिन्दुवी नाम हिन्दी के लगभग पर्याय के रूप में बहुत पहले से चला आ रहा था। खुसरो का उदाहरण अभी ऊपर दिया गया है। हिन्दी के कवियों/लेखकों को छोड़ भी दें

---

* मीर का एक शेर है—

क्या जानूं किसको कहते हैं सुरूरे क़ल्ब।
आया नहीं है लफ़्ज़ यह हिन्दी ज़बां के बीच॥

* चुमन तूतिए-हिन्दम, अर रास्त पुर्सी।
ज़े मन हिन्दुई पुर्स, ता नग़्ज़ गोयम॥

(मैं हिन्दुस्तान की तूती हूं, अगर तुम वास्तव में मुझसे कुछ पूछना चाहते हो तो हिन्दी में पूछो, जिसमें कि मैं तुम को अनुपम बातें बता सकूं।)—डॉ० ऐहतशाम हुसैन, उर्दू-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, 1669, पृ० 20 से उद्धृत।

तो स्वयं मीर और ग़ालिब ने अपनी काव्य-भाषा को हिन्दुवी नाम दिया है।*
गिलक्राइस्ट की मंशा हिन्दी को हिन्दुस्तानी की भ्रष्ट शैली के बतौर बताने की है। उनकी शरारत यहां पर है।

फिर हिन्दुस्तानी के दखनी, पंजाबी, पूर्वी आदि रूप बताये गये हैं। पंजाबी भला किस तर्क से हिन्दुस्तानी का रूप (शेड) होगी ? इसी तरह से हिन्दुवी के शेड्स के रूप में बंगाली भी है, ओड़िया भी, गुजराती भी है और किशमीरी भी। गोया कि ये सब हिन्दुवी के ही विविध रूप हैं। गिलक्राइस्ट अपने इसी भाषा-ज्ञान पर वायसराय के चहेते थे, और अंग्रेज़ी राज के सबसे बड़े भारतीय भाषा-विद और पौर्वात्य-पंडित कहे जाते थे।

गिलक्राइस्ट पर लिखने वाले सादिक-उर-रहमान किदवई का यह मानना है कि गिलक्राइस्ट भारतीय आर्य भाषाओं के विभिन्न चरणों में होने वाले विकास से पूरी तरह अनभिज्ञ थे, जिसे उन्होंने हिन्दुवी कहा है। उन्हें प्राकृत के विषय में कोई जानकारी नहीं थी। द्रविड़ भाषाओं के बारे में उन्होंने न कभी सुना था और न पढ़ा था। अपभ्रंश के बारे में भी उनका यही हाल था। संस्कृत के बारे में उनकी मान्यता थी कि यह कभी भी भारत में बोलचाल की भाषा नहीं रही।[7]

किदवई ने अपनी थीसिस में यह कहा है कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों के दूसरे यूरोपियनों की तरह ही गिलक्राइस्ट का भी हिन्दुस्तानी से आशय उर्दू से ही था। तब तक 'उर्दू' शब्द का बहुत अधिक प्रयोग भी नहीं होता था। यहां तक कि उर्दू कवि और लेखक जिनमें मीर और सौदा जैसे बड़े शायर शामिल थे, उर्दू के लिए हिन्दी शब्द का प्रयोग करते थे।[8]

जानकारी की इन सीमाओं की वजह से ही गिलक्राइस्ट हिन्दी-उर्दू के अंतः सम्बन्धों को कभी समझ नहीं पाये, और इन सीमाओं की वजह से ही हिन्दुस्तानी को भी उन्होंने ग़लत परिप्रेक्ष्य में देखा है—उर्दू के पर्याय के रूप में। वैसे उर्दू को हिन्दुस्तानी नाम से पेश करने की अंग्रेज़ों की जो कूटनीतिक चाल थी, गिल-क्राइस्ट, जो ब्रिटिश सरकार की निगाह में सबसे बड़े पौर्वात्य पंडित थे, निश्चय ही उस सरकारी नीति से अनभिज्ञ नहीं रहे होंगे। मुझे यह देखकर उस वक़्त ताज्जुब होता है, जब हमारे आधुनिक कहे जाने वाले भाषा-वैज्ञानिक गिलक्राइस्ट की मान्यताओं को आप्त-कथन मानकर उसे प्रमाण के रूप में पेश करते हुए झिझकते नहीं हैं।

फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में साहित्य-निर्माण से सम्बन्धित एक विभाग था जिसमें लेखकों को रखा गया था, जो ज़्यादातर अरबी-फ़ारसी और संस्कृत के रोचक

* मीर की तरह ग़ालिब ने भी अपने दीवान को हिन्दवी का दीवान कहा है।

किस्से-कहानियों या प्रेम कहानियों का उर्दू में और कुछेक हिन्दी में अनुवाद कर रहे थे। उद्देश्य यह था कि इन रोचक और हल्की-फुल्की कहानियों के ज़रिये अंग्रेज पदाधिकारियों को उर्दू की थोड़ी-बहुत जानकारी कराई जा सके। उस समय की सामाजिक स्थितियों की कोई झलक इनमें दिखाई नहीं पड़ती। न ही कोई साहित्यिक मूल्य परिलक्षित होते हैं। उर्दू या हिन्दी के साहित्य-भंडार में योगदान का कोई लक्ष्य उनके सामने नहीं था। यह मात्र संयोग है कि उस समय की उर्दू या हिन्दी पुस्तकें गद्य के आरम्भिक विकास में अपना योगदान दे गयीं। उन दिनों फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के बाहर भी गद्य में पुस्तकें लिखी जा रही थीं। इंशा अल्लाह खां 'इन्शा' की 'रानी केतकी और कुंवर उदयभान की कहानी' उन्हीं दिनों की है। इन्शा की दूसरी पुस्तक 'दरिया-ए-लताफ़त'* (1908) फ़ारसी में लिखी गयी उर्दू-व्याकरण की पुस्तक है जिसमें स्थानीय बोलियों के अन्तर को भी समेटा गया है। मुहम्मद बख़्श की 'नौ रतन' और 'गुलशने नौबहार' प्रसिद्ध हुई। मिर्ज़ा रज़ब अली बेग सुरूर की 'फ़िसाना-ए-अजाएब' उसी दौर की लोकप्रिय कृति है।

फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में रहकर जिन लेखकों ने पुस्तकें लिखीं, उनमें जैसा कि अभी कहा गया, अपवाद रूप में एकाध पुस्तकों को छोड़कर बाकी के अरबी, फ़ारसी और संस्कृत के अनुवाद थे। उनमें से मशहूर नामों में मीर अम्मन की 'बागो बहार', हैदर बख़्श हैदरी की 'किस्सा-ए-मेहरो माह', 'लैला मजनूं', 'गुल्शने हिन्द', 'तोता कहानी', शेर अली अफ़सोस की 'बाग़े उर्दू', मिर्जा काज़िम अली 'जवान' का शकुन्तला नाटक, मजहर अली खां 'विला' की 'माधवानल काम कुंडला' हैं।

हिन्दी में लल्लूलाल, सदल मिश्र जैसे लेखक थे। लल्लूलाल ने 1804 में चार पुस्तकों का खड़ीबोली हिन्दी में अनुवाद किया। शकुन्तला नाटक और माधवानल के हिन्दी अनुवाद संस्कृत से किये गये और 'सिंहासन बत्तीसी' (काजिम अली 'जवान' के साथ मिलकर) तथा बेताल पचीसी के अनुवाद लल्लूलाल ने ब्रजभाषा से खड़ीबोली में किया। इनका संस्कृत से ब्रजभाषा में अनुवाद पहले ही हो चुका था। इनके अतिरिक्त लल्लूलाल ने 'प्रेम सागर' और 'भाषा क़ायदा'

---

* दरिया-ए-लताफ़त में इन्शा अल्ला ने लिखा है कि—

"यहां शाहजहानाबाद के खुशबयानों ने मुतफ़िक होकर मुताद्दिद ज़बानों से अच्छे-अच्छे लफ़्ज़ निकाले और बाज़ इबारतों और अल्फ़ाज में तसर्रुफ़ करके और ज़बानों से अलग एक नई ज़बान पैदा की जिसका नाम उर्दू रखा।" (आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय, राष्ट्रभाषा पर विचार, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1957, पृ० 9)

की रचना की। चतुर्भुज दास ने 1567 ई० में भागवत् दशम स्कन्ध का ब्रज-भाषा में अनुवाद किया था, उसी ग्रंथ के आधार पर 'प्रेम सागर' की रचना हुई। 'भाषा-क़ायदा' हिन्दी का व्याकरण है। इसकी एक प्रति एशियाटिक सोसायटी में उपलब्ध है। हिन्दी, उर्दू और ब्रजभाषा में सौ कहानियों का एक संग्रह 'लतायफ़-हिन्दी' नाम से लल्लूलाल ने निकाला। इसके अलावा 'लाल चंद्रिका,' 'माधव विलास' आदि अनेक पुस्तकें भी लल्लूलाल ने लिखीं। सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की।

1857 की क्रान्ति के बाद अंग्रेज़ों का ध्यान हिन्दी गद्य को बढ़ाने की ओर गया था। सत्तावन की क्रान्ति के बाद मुसलमानों के प्रति ब्रिटिश नीति में जो और अधिक सख़्ती आयी, उसके कारण अंग्रेज़ों का ध्यान हिन्दी गद्य को बढ़ावा देने की ओर गया था। वैसे उर्दू गद्य को भी गिलक्राइस्ट के ज़माने जैसा ही बढ़ावा वे दे रहे थे, पर अंग्रेज़ अन्दर से चाहते यह थे कि देवनागरी लिपि में लिखे हिन्दी गद्य को समृद्ध किया जाय, जिससे समय आने पर उसे निचले स्तर की कचहरियों और राजस्व आदि के दफ्तरों में उर्दू के साथ-साथ प्रयुक्त किया जा सके। और इस तरह हिन्दी-उर्दू-प्रतिद्वन्द्विता को सतह पर लाया जा सके। ऐसा करके आसानी से निचले स्तर के अमला को बदला जा सकता था। अब तक निचले स्तर के अधिकांश कर्मचारी मुसलमान थे। शुरू से मुसलमान ही चले आ रहे थे। फ़ारसी में और बाद में फ़ारसी-लिपि में लिखी उर्दू में सरकारी कामकाज होता था, जिसमें अधिकतर मुसलमान खपे हुए थे। उनका स्थान पर्याप्त संख्या में हिन्दू कर्मचारी तभी ले सकता था, जब भाषा-नीति में परिवर्तन लाया जाता। अंग्रेज़ इसी विचार से भाषा-नीति में कुछ फेर-बदल के बारे में सोच रहे थे। सत्तावन की क्रान्ति ने उस सोच को और तेज़ कर दिया।

मिशनरी अलेक्जेण्डर डफ (1806-1878) के भारत-आगमन के साथ हिन्दुस्तान की मिशनरी गतिविधियों में तेजी आती है। डफ ईस्ट इंडिया कम्पनी के 1813 के चार्टर ऐक्ट के बाद 1830 में हिन्दुस्तान आया था। हिन्दुस्तान के धनी और शिक्षित वर्ग के लोगों की अभी तक ईसाई धर्म की ओर कोई रुझान नहीं थी। डफ ने इस प्रभावशाली वर्ग को ईसाइयत की ओर आकृष्ट करने का तरीका सोचा। उसे लगा कि जब तक अंग्रेज़ी भाषा का प्रचुर प्रचार यहां नहीं होता, तब तक हिन्दुस्तान में ईसाई मत का प्रचार करना बहुत मुश्किल होगा। परम्परावादी उच्च-वर्ग में अंग्रेज़ी के प्रति कोई आकर्षण नहीं था, पर जो मध्यम-वर्ग समाज में नया-नया उभरा था, वह अंग्रेज़ी शिक्षा की ओर ललक के साथ बढ़ रहा था। अंग्रेज़ी न केवल पश्चिमी सभ्यता को जानने की बल्कि अच्छी नौकरी और धनी बनने की कुंजी का काम कर रही थी। अंग्रेज़ी जानने वाले

की सामाजिक हैसियत बढ़ रही थी। डफ ने सोचा कि स्कूल और कॉलेज खोल-कर उसमें अंग्रेज़ी की शिक्षा और अंग्रेज़ियत के तौर-तरीक़ों को युवकों में डालकर नये वर्ग का निर्माण किया जा सकता है। हम सभी यह जानते हैं कि डफ की योजना कितनी कारगर साबित हुई थी। डफ ने कलकत्ता से उच्च वर्ग के अनेक बंगाली ब्राह्मणों को ईसाई बनाने में सफलता पायी। कृष्णमोहन बनर्जी, गोपीनाथ नन्दी, आनन्दचन्द्र मजूमदार जैसे अनेक लोगों के नाम इनमें शामिल हैं।

अंग्रेजों द्वारा खोले गये प्राइवेट स्कूल अंग्रेज़ी की शिक्षा दे रहे थे। मिशनरी स्कूल जगह-जगह क़ायम हुए, जो भाषा के साथ-साथ धर्म को भी फैलाने का काम कर रहे थे। बम्बई में विल्सन कॉलेज (1832), मद्रास में क्रिश्चियन कॉलेज (1837) जैसे अनेक कॉलेज देश की हर दिशा में अंग्रेज़ी भाषा और संस्कृत तथा क्रिश्चियन धर्म की शिक्षा-दीक्षा के लिए खुले। नया-नया अस्तित्व में आया मध्यम-वर्ग के नवयुवकों को अंग्रेज़ी सीख लेने के बाद नौकरी प्राप्त करने में सहूलियत हो रही थी। दूसरे व्यवसायों और रोज़गारों में भी अंग्रेज़ी भाषा से भरपूर मदद मिलती थी और धीरे-धीरे यह भाषा अपरिहार्य होती जा रही थी। बंगाल के अनेक उच्च वर्ग के लोग इसके समर्थक होते जा रहे थे।

कलकत्ता के मुस्लिम युवकों को सरकारी नौकरी में लाने के इरादे से वारेन हेस्टिंग्ज़ ने 1780 ई० में कलकत्ता मदरसा की स्थापना की थी। इसी तरह के उद्देश्य से हिन्दुओं के लिए बनारस के रेजिडेंट जॉनाथन डनकन ने 1791 ई० में बनारस संस्कृत कॉलेज की स्थापना की। राजा राममोहन राय ने कलकत्ता में संस्कृत कॉलेज के खोले जाने का विरोध किया। वे हर तरह से अंग्रेज़ी और पश्चिमी विज्ञान की शिक्षा के पक्षधर थे। उन्होंने 1816-17 में अपने खर्च से एक इंग्लिश स्कूल खोला। राममोहन राय भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा के बहुत बड़े समर्थक थे।

संदर्भ

1. सुन्दरलाल (भारत में अंग्रेज़ी राज, प्रथम खंड, 1960, पृ० 322) ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—"मार्क्विस वेलेज़ली के शुद्ध राजनैतिक उद्देश्य के अलावा उसका एक उद्देश्य भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करना भी था।

   वेलेज़ली ने भारत आते ही सबसे पहले ईसाई धर्म के अनुसार अंग्रेज़ी इलाक़े के अन्दर रविवार की छुट्टी का मनाया जाना जारी किया।

उस दिन समाचारपत्रों का छपना तक क़ानूनन बन्द कर दिया गया। कलकत्ता के फ़ोर्ट विलियम में उसने एक कॉलेज की स्थापना की। इस कॉलेज का उद्देश्य विदेशी सरकारी नौकर तैयार करना था। वेलेज़ली के जीवन-चरित्र का रचयिता, आर० आर० पियर्स, साफ लिखता है कि यह कॉलेज भारतवासियों में ईसाई धर्म को फैलाने का भी एक मुख्य साधन था। इस कॉलेज के ज़रिये भारत की सात अलग-अलग भाषाओं में इंजील का अनुवाद कराकर उसका भारतवासियों में प्रचार कराया गया। मार्क्विस वेलेज़ली न अपने व्यक्तिगत जीवन में चरित्रवान था और न सार्वजनिक जीवन में अपने से पहले के किसी गवर्नर-जनरल से अधिक ईमानदार था, फिर भी उसकी इस ईसाई धर्म-निष्ठा के लिए अंग्रेज़ इतिहास-लेखक प्रायः उसकी प्रशंसा करते हैं। सच यह है कि उसका ईसाई धर्म-प्रचार भी राजनैतिक इष्ट-सिद्धि का एक साधन मात्र था।" (पृ० 322)

2. तबीयत से फ़ारसी की जो मैंने हिन्दी शेर कहे।
   सारे तुरुक बच्चे ज़ालिम अब पढ़ते हैं ईरान के बीच।

3. उर्दू को लेकर मुहम्मद हुसैन आज़ाद के विचार इस तरह हैं:

   "उर्दू के मालिक उन लोगों की औलाद थे जो असल में फ़ारसी ज़बान रखते थे। इस वास्ते उन्होंने तमाम फ़ारसी बहरें[1] और फ़ारसी के दिल-चस्प और रंगीन ख़यालात[2] और अकसाम इंशा परदाज़ी[3] का फ़ोटोग्राफ़ फ़ारसी से उर्दू में उतार लिया। ताज़्ज़ुब यह है कि इसने इस क़दर खुशअदई[4] और खुशनुमाई[5] पैदा की कि हिन्दी भाषा के ख़यालात जो ख़ास इस मुल्क के हालात के बेमोज़िब[6] थे उन्हें भी मिटा दिया। चुनांचे ख़ास व आम पपीहे और कोयल की आवाज और चंपा और चमेली की खुशबू भूल गये, हजारा, बुलबुल और मसरन व संबुल जो कभी न देखी थी, उनकी तारीफ़ करने लगे। रुस्तम और असफदमार की बहादुरी कोहे[7] अलवंद और बीसतून की बलंदी जैहूं-सेहूं की रवानी[8] ने यह तूफ़ान उठाया कि अर्जुन की बहादुरी, हिमालय की हरी-भरी पहाड़ियां, बर्फ़ से भरी चोटियां और गंगा-जमुना की रवानी को बिलकुल रोक दिया।"

   (1. छंद, 2. विचार, 3. लेखन कला, 4. सव्यंजना, 5. सुशोभा, 6. अनुरूप, 7. पहाड़, 8. गति, नज़्फे आज़ाद का दीबाचा, पृ० 14, चन्द्र-बली पाण्डेय, 'राष्ट्रभाषा पर विचार', पृ० 29 से उद्धृत)

4. होम मिस० V 559 प्रोसीडिंग्स ऑफ़ दि कॉलेज ऑफ़ फ़ोर्ट विलियम में 22 अप्रैल 1805 का पत्र।

5. सादिक-उर-रहमान किदवई, गिलक्राइस्ट एण्ड दि लैंग्वेज़ ऑफ़ हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, 1972, पृ० 88-89
6. अपेंडिक्स (टु ग्रामर एण्ड डिक्शनरी), कलकत्ता, 1798, पृ० 21
7. सादिक-उर-रहमान किदवई, गिलक्राइस्ट एण्ड दि लैंग्वेज़ ऑफ़ हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, 1972, पृ० 93-94
8. वही, पृ० 96

3

1835-1857

अंग्रेज़ों की अंग्रेज़ी नीति : मैकाले योजना

शिक्षा से सम्बन्धित ईस्ट इंडिया कम्पनी का पहला ऐक्ट 1813 के चार्टर ऐक्ट के नाम से जाना जाता है। इससे कम्पनी की शिक्षा नीति की पहली औपचारिक झलक मिलती है। इस ऐक्ट के मुताबिक़ प्रतिवर्ष कम-से-कम एक लाख रुपये शिक्षा के नाम पर रखे जाने का प्रावधान था, जिसे साहित्य के पुनरुत्थान और उसकी उन्नति तथा पढ़े-लिखे भारतीयों को प्रोत्साहन देने और इस देश में विज्ञान की जानकारी को लाने और उसके ज्ञान के विस्तार पर खर्च करने की व्यवस्था की गई। पर कुल मिलाकर इस दिशा में कोई व्यावहारिक क़दम नहीं उठाया गया और ऐक्ट का कार्यान्वयन लगभग स्थगित रहा।

इसके बाद 2 फरवरी 1835 का मैकाले का 'अंग्रेज़ी शिक्षा की आवश्यकता'[1] प्रस्ताव आता है, जिसे ब्रिटिश शिक्षा-नीति की रीढ़ की हड्डी कहें तो कोई अन्यथा बात नहीं होगी। गवर्नर-जनरल के एक्जिक्यूटिव काउंसिल के विधि सदस्य की हैसियत से लार्ड मैकाले (1834-1838) 10 जून 1834 को भारत आया। उसे लोक-शिक्षा (पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) की कमेटी का अध्यक्ष भी बनाया गया था। इसी के तहत उसे 1813 के चार्टर ऐक्ट में दिये गये शिक्षा से सम्बन्धित प्रभाग के असर की व्याख्या करने का दायित्व सौंपा गया था। बेंटिक के समक्ष प्रस्तुत की गयी उसकी विस्तृत संस्तुति 'मैकाले मिनिट-1835' के नाम से मशहूर हुई। उसी मसविदा में वह बदनाम कथन भी शामिल है, जिसमें कहा गया कि "अच्छे यूरोपीय साहित्य का अकेला शेल्फ सम्पूर्ण भारतीय और अरबी साहित्य से कहीं श्रेष्ठ है।"[2]

मैकाले के विचारों और संस्तुतियों से पूरी तौर पर सहमति व्यक्त करते

हुए लार्ड विलियम बेंटिक ने 7 मार्च 1835 को उसे अपनी स्वीकृति प्रदान की और उसके आधार पर निम्नलिखित आदेश जारी किये :

1. ब्रिटिश सरकार का यह महत् उद्देश्य है कि भारतवासियों में यूरोपीय साहित्य और विज्ञान को प्रचारित किया जाय, और यहां के शिक्षा से सम्बन्धित सम्पूर्ण कोश (धन) को केवल अंग्रेज़ी शिक्षा पर खर्च किया जाय।

2. भारतीय भाषाओं और साहित्यों तथा दूसरे भारतीय शिक्षा से सम्बन्धित कॉलेज या स्कूल में भर्ती हुए विद्यार्थियों को अब से कोई छात्रवृत्ति नहीं दी जायेगी। पौर्वात्य संस्थाओं में जब किसी अध्यापक का स्थान रिक्त होगा तो कमेटी सरकार को उसके बारे में सूचना देगी और सरकार उस स्थान की नियुक्ति के बारे में पुनर्विचार करेगी।

3. अब से भारतीय ज्ञान से सम्बन्धित कार्यों (पौर्वात्य ग्रन्थों) को प्रकाशित करने में कोश (फण्ड) का कोई हिस्सा खर्च नहीं किया जायेगा।

4. हिज़ लार्डशिप-इन-काउंसिल निर्देश देते हैं कि शिक्षा में सुधारों से सम्बन्धित सम्पूर्ण कोश को भारतीयों में अंग्रेज़ी साहित्य और विज्ञान के ज्ञान को अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से पढ़ाने में खर्च किया जाय।[3]

मैकाले का प्रस्ताव जिसे गवर्नर-जनरल ने अक्षरश: मान लिया था, ब्रिटिश सरकार की नयी शिक्षा-नीति थी, जिसमें अंग्रेज़ी शिक्षा, अंग्रेज़ी संस्कृति और यूरोपीय विज्ञान के हिन्दुस्तान में प्रचार-प्रसार का उद्देश्य था। इस प्रस्ताव के पीछे मिशनरी डफ का बहुत अधिक हाथ था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शिक्षा सम्बन्धी कोश को अंग्रेज़ी-शिक्षा की ओर मोड़ दिया गया था। परिणामस्वरूप विभिन्न शहरों में क्रिश्चियन कॉलेज की स्थापना की गई। बम्बई में विल्सन कॉलेज की स्थापना 1832 में ही हो चुकी थी। इसके बाद मद्रास में क्रिश्चियन कॉलेज (1837), नागपुर में हिसलाप कॉलेज (1844), आगरा में सेन्ट जोन्स कॉलेज (1853) जैसे बहुत से कॉलेजों को खोलने की परम्परा शुरू हुई, जिनमें अंग्रेजी-भाषा और संस्कृति के अलावा क्रिश्चियन धर्म की भी शिक्षा दी जाती थी।

फ़ारसी के स्थान पर अंग्रेज़ी सरकारी भाषा (1837) स्वीकृत हुई, जिसमें चार्ल्स ग्रान्ट जैसे अंग्रेज़ों की विशेष भूमिका थी। हाउस ऑफ़ कॉमन्स की कमेटी की रिपोर्ट, 16 अगस्त 1832 के सामान्य परिशिष्ट-1 में ईस्ट इंडिया कम्पनी के मामलों पर अपने विचार प्रकट करते हुए चार्ल्स ग्रान्ट ने कहा, "विजित राष्ट्र की जनता को अपने में जज़्ब कर लेने का सबसे सरल साधन यह है कि विजेता अपनी भाषा को उनमें लागू करने का उपक्रम करें।"

विलियम बेंटिक द्वारा मैकाले योजना के स्वीकृत किये जाने के पहले अंग्रेज़ी-शिक्षा के लिए उपयुक्त माहौल तैयार किया जा चुका था। अंग्रेज़

मिशनरियों द्वारा अनेक अंग्रेज़ी स्कूल खोले जा चुके थे। राममोहन राय जैसे लोग अंग्रेज़ी पढ़ाई की हर तरह से हिमायत करने लगे थे। जनता का एक भाग इनके प्रभाव में धीरे-धीरे आ रहा था, क्योंकि अंग्रेज़ी पढ़ने से युवकों को नौकरी मिलने में सुभीता रहता था। मध्यम वर्ग पैदा हो चुका था, जो अंग्रेज़ी और हर पश्चिमी विचार और रहन-सहन की ओर ललक भरी नजरों से देख रहा था। मध्यम वर्ग अपने रहन-सहन में पश्चिमी तौर-तरीकों की नकल करने लगा था। मैकाले के मसविदा के स्वीकृत होने के बाद अंग्रेज़ी शैली का फैलाव तेजी से होने लगा। अंग्रेज़ी शिक्षा की जड़ें इस देश में गहरी जानी शुरू हुईं। जिस अनुपात में अंग्रेज़ी भाषा का उत्कर्ष हुआ, उसी अनुपात में देशी भाषाओं को अपने प्रति उपेक्षा और अवहेलना झेलनी पड़ी। कलकत्ता मदरसा और संस्कृत कॉलेज तथा बनारस संस्कृत कॉलेज के छात्रों को दी जाने वाली छात्रवृत्ति गवर्नर-जनरल के आदेश से खत्म कर दी गई। सरकार ने पौर्वात्य (ओरियंटल) ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए दी जाने वाली आर्थिक सहायता भी बन्द कर दी। संस्कृत और फ़ारसी की तो बात ही क्या, हिन्दी-उर्दू, जो कि बहुत बड़े क्षेत्र में बोलचाल की भाषा थी, के प्रति भी पूरी उपेक्षा बरती गयी। यह बात काबिले-ग़ौर है कि भारतीय भाषाओं में से भी हिन्दी-उर्दू को विशेष रूप से चुना गया, जिसे ब्रिटिश सत्ता ने बड़ी होशियारी से और सुनियोजित ढंग से पीछे ढकेला। वजह यह थी कि हिन्दी-उर्दू का क्षेत्र बहुत व्यापक था। दूसरे शब्दों में अंग्रेज़ी को व्यापक बनाने में इसके द्वारा बाधा उत्पन्न हो सकती थी। इसलिए ब्रिटिश सत्ता ने दो दिशाओं से इसको दबोचना शुरू किया। केवल अंग्रेज़ी भाषा के प्रचार-प्रसार पर सरकारी खर्च के निर्णय से देशी भाषाएं सरकार की उपेक्षा और प्रकारान्तर से पूरी व्यवस्था (जिसमें अधिकारी गण, उद्योग-धन्धे और दूसरे आर्थिक-सामाजिक संगठन शामिल थे) की उपेक्षा का पात्र बनी। अंग्रेज़ों ने हिन्दी-उर्दू की व्यापकता को ख़त्म करने के लिए दूसरा रास्ता यह अपनाया कि इनकी आपसी संगति, समरसता तथा एक-दूसरे के पूरक होने की भूमिका को ख़त्म करवाया। जिसके लिए आसान रास्ता यह था कि हिन्दी-उर्दू पर धर्म का रंग छिड़ककर उन्हें अलग-अलग दिखलाया जाये और हिन्दू-धर्म और इस्लाम से उन्हें जोड़ दिया जाए। यह कहना एक हद तक ही सही है कि हिन्दी हिन्दुओं से और उर्दू मुसलमानों से सम्बन्धित पहले भी समझी जाती थी, पर यह कहना उससे अधिक सही होगा कि हज़ारों हिन्दू उर्दू को अपनी मातृभाषा के तौर पर अपनाये हुए थे, और बहुतों ने उसमें साहित्य-रचना की थी। उसी तरह लाखों मुसलमान हिन्दी या उसकी बोलियों में से किसी बोली को अपनाये हुए थे, और बहुत से उसमें काव्य-रचना कर रहे थे। दोनों भाषाओं की सामाजिक भूमिका एक-दूसरे की पूरक थी। लेकिन इस अंग्रेज़ी-नीति ने दोनों के लिए अस्तित्व का

संकट पैदा कर दिया, और यह आशंका पैदा की कि एक की बढ़ोत्तरी दूसरे को निगल लेगी। इस डर ने उन्हें एक-दूसरे के रूबरू खड़ा कर दिया और जो शक्ति एक-दूसरे से मिलकर उन्हें अंग्रेज़ी से लड़ने में खर्च करनी चाहिए थी वह शक्ति आपस की लड़ाई में खर्च होने लगी। इससे ब्रिटिश सत्ता को एक और बहुत बड़ा फ़ायदा पहुंचा, वह यह था कि हिन्दी-उर्दू की नोक-झोंक हिन्दू-मुस्लिम तनाव की आग में घी का काम करने लगी। 1835 के बाद के हिन्दी-उर्दू के झगड़े हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों में तब्दील होते गये, और इन सभी झगड़ों पर यदि बारीकी से ग़ौर किया जाए तो अंग्रेज़ों की छायाएं इनमें बखूबी देखी जा सकती हैं।

शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी को अपनाने की चार्ल्स ग्रान्ट और मैकाले ने ज़ोरदार अपील की। मैकाले ने कहा—"भारत में अंग्रेज़ी शासकों की भाषा है। सरकार में विभिन्न पदों पर काम करने वाले उच्च वर्ग के हिन्दुस्तानी भी अंग्रेज़ी ही बोलते हैं। यह भी सम्भावना है कि सम्पूर्ण पूर्व में अंग्रेज़ी वाणिज्य की भाषा भी हो जायेगी।"[4]

सर जान ट्रेवेलयान ने कहा—"हम अंग्रेज़ों की तरह ही शिक्षित, समान उद्देश्यों के प्रति समर्पित, समान कार्यों में संलग्न, ये (भारतवासी) हिन्दू से अधिक अंग्रेज़ बन चुके हैं, उसी तरह जैसे रोम के प्रान्तीय निवासी गाल्स या इतालवी से अधिक रोमन बन गये हैं।"[5]

ये वे लोग थे जो अंग्रेज़ी को शिक्षा के माध्यम के रूप में लागू करने की वकालत कर रहे थे। शिक्षा के माध्यम को लेकर दूसरी तरह की विचारधारा संस्कृत और फ़ारसी के पक्ष में थी, पर यह तर्क व्यावहारिक नहीं था। संस्कृत फ़ारसी बोलचाल की भाषाएं नहीं थीं। शिक्षा के माध्यम को लेकर तीसरी विचारधारा बोलचाल की आधुनिक भारतीय भाषाओं के पक्ष में थी। इस विचारधारा के पक्षधर लोगों का ख़याल था कि आम बोलचाल की भाषा जो कि विद्यार्थी की मातृभाषा है, उसी में सही ढंग से शिक्षा ग्रहण की जा सकती है। सामान्य समिति (जनरल कमेटी) के सदस्य विल्सन और शेक्सपियर इसके पक्ष में थे। कुछ दूसरे अंग्रेज़ भी इसकी हिमायत कर रहे थे। कुछ प्रभावशाली भारतीय भी इसके पक्ष में थे। जिन्होंने कलकत्ता में वर्नाक्यूलर सेमिनरी की स्थापना की और उसकी सफलता को लोगों के सामने रखा, पर अन्ततः अंग्रेज़ी को महत्त्व मिला और कॉलेज स्तर पर केवल अंग्रेज़ी को शिक्षा के माध्यम के रूप में लागू किया गया। हां, स्कूल के एकदम निचले प्राइमरी स्तर पर मातृ-भाषा को माध्यम के रूप में मान्यता मिली। पर इसका कोई फ़ायदा नहीं हुआ, क्योंकि शिक्षा को गांवों में फैलाने की ओर अंग्रेज़ों की रुचि नहीं थी। एलफिंस्टन

और मनरो ने जिस जन-शिक्षा (मास एजूकेशन) के कार्यक्रम को कम्पनी सरकार को दिया था, उसे अस्वीकार कर दिया गया।

1836 में लार्ड आकलैंड और उनकी काउंसिल ने निर्णय लिया कि न्यायिक (जूडिशियल) और रेवेन्यू मुकदमों में कार्यवाही लोगों की ज़ुबान में होगी, न कि फ़ारसी में। इस तरह 1837 के 29वें ऐक्ट के मुताबिक़ फ़ारसी का प्रयोग ख़त्म कर दिया गया। 1844 में सरकारी नौकरियों के लिए अंग्रेज़ी का ज्ञान आवश्यक योग्यता के रूप में किया गया।

बम्बई प्रेज़िडेंसी को 1818 के अन्तिम मराठा युद्ध के बाद ब्रिटिश डोमिनियन में शामिल किया गया था। 1840 ई० में वहां एक शिक्षा बोर्ड की स्थापना की गई जिसके सात सदस्यों में से चार अंग्रेज़ और तीन हिन्दुस्तानी थे। जो शिक्षा-नीति बनाई गई उसके अनुसार स्कूलों में भारतीय और अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं को रखा गया, परन्तु उच्च शिक्षा में केवल अंग्रेज़ी को ही माध्यम का दरजा हासिल हुआ। कमोबेश यही हाल मद्रास प्रेजिडेंसी का भी था। अधिकतर शिक्षण संस्थाएं मिशनरियों के हाथों में थीं।

अंग्रेज़ों की भाषा-नीति और शिक्षा-नीति में एक बात ख़ास यह थी कि जहां कहीं वे जन-संचार (मास कम्यूनिकेशन) के तौर पर या छोटी कक्षाओं में माध्यम के तौर पर मातृभाषा की सिफ़ारिश भी यदि करते थे, तो उनकी निगाह में यह उद्देश्य शामिल रहता था कि विद्यार्थी अपनी मातृभाषा के ज़रिये यूरोपीय ज्ञान ही हासिल करें। वे जानते थे कि अंग्रेज़ी इस देश के दूर-दराज के इलाक़ों में जल्दी पहुंचायी नहीं जा सकती, लेकिन स्थानीय बोलचाल की भाषा द्वारा यूरोपीय ज्ञान जल्दी पहुंचाया जा सकता है। इसका प्रचार किया जा सकता है। फिर स्वाभाविक रूप से अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ों की ओर आकर्षण बढ़ेगा। परिणाम यह हुआ कि भारतीय भाषाएं पृष्ठभूमि में चली गयीं।

मैकाले का यह दावा था कि अंग्रेज़ी भाषा इस देश में ऐसे भारतीयों को पैदा करेगी जो अपने "रंग-रूप और खून से भारतीय होंगे, लेकिन अपनी रुचियों में, अपने विचारों में, अपने आचारों (मारल्स) में, और अपनी बौद्धिकता में अंग्रेज़ की तरह होंगे।"

हिन्दुओं और मुसलमानों में आपस में स्थायी वैमनस्य पैदा करने और ब्रिटिश हुकूमत को स्थायी बनाने के लिए अंग्रेज़ों ने कई तरह की नीतियां अपना रखी थीं। भाषा-नीति उन्हीं में से एक थी। मैकाले द्वारा गठित भाषा-नीति के दो प्रमुख पहलू ऐसे थे, जिनसे अंग्रेज़ी सत्ता की नींव पक्की होती है, और उसके बेरोक-टोक फलने-फूलने में भी मदद मिलती है। अंग्रेज़ी भाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने से नयी और आने वाली पीढ़ियों के लिए अंग्रेज़ी का अच्छा ज्ञान आवश्यक हो गया। मैकाले की भाषा-नीति के लागू

होने तक ईस्ट इंडिया कम्पनी को स्थापित हुए कोई अस्सी सौ साल हो चुके थे। व्यापार के साथ सत्ता भी अंग्रेज़ों के हाथ में चली गयी थी। देशी बाबुओं की जमात भी पैदा हो चुकी थी। मध्य वर्ग की पहचान बन चुकी थी। अंग्रेज़ी सीखने और पढ़ने का शौक भी लोगों में पैदा हो रहा था, क्योंकि यह आम धारणा थी कि अंग्रेज़ी के जानकार को काम और वेतन अधिक मिल जाता था। पर इस सबके बावजूद अंग्रेज़ी-भाषा का भूत लोगों के सिरों पर सवार नहीं था, लोग अपनी ज़िन्दगी से जोड़कर इसे नहीं देखते थे। रोज़ी-रोटी की एक मजबूरी के रूप में इसे लेते थे। शिक्षा का माध्यम होने के बाद धीरे-धीरे अंग्रेज़ी घरों के आलों और ताखों पर आसीन हुई। रफ़्ता-रफ़्ता हम उसे अपनी सांसों में महसूस करने लगे। इससे मानसिक गुलामी अन्दर तक पैठने लगी।

अंग्रेजों की शिक्षा-नीति का दूसरा क़दम भी ब्रिटिश प्रभुत्व को हमारे मन-मानस में बिठाने का ही सफल प्रयास था। सेकेन्डरी स्कूल से लेकर विश्व-विद्यालय स्तर तक अध्ययन के विषयों में पश्चिमी ज्ञान के विषय ठूंस दिये गए। मतलब यह कि विषय भी अंग्रेज़ी और भाषा भी अंग्रेजी। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों का ध्यान अंग्रेज़ी सभ्यता और संस्कृति की ओर पूरी तरह खिंच गया और भारतीय संस्कृति और सभ्यता की ओर ध्यान देना ज़रूरी नहीं रहा। रहन-सहन, खान-पान, सोच के दायरे सब पर पश्चिमी सभ्यता काबिज होने लगी। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की निरन्तरता में बहुत बड़ा व्यवधान उपस्थित हुआ। इसके पहले के मुस्लिम शासक भी विदेशी आक्रमणकारी और शासक थे, पर उनमें और अंग्रेज़ों में कुछ मूलभूत अन्तर था। मुस्लिम शासक यहीं बस गए थे, वे अपने शासन को स्थायी बनाना तो चाहते थे, पर यहां के लोगों को अपनी ज़मीन से उखाड़ना नहीं चाहते थे, पर अंग्रेज़ों ने व्यवसाय के ज़रिये सत्ता हासिल की थी। शासक बन जाने पर भी व्यवसाय को उन्होंने अपनी निगाह से ओझल नहीं होने दिया था। यहां बने रहने में व्यावसायिक शोषण उनका एक प्रमुख स्वार्थ था। अंग्रेज़ इतिहासकार और उनके पिट्ठू हिन्दुस्तानी यह कहते थकते नहीं हैं कि रेल और डाक-तार व्यवस्था अंग्रेज़ों की हिन्दुस्तान को बहुत बड़ी देन है, पर वे यह भूल जाते हैं कि इस तथाकथित आधुनिकता को तेज़ करने वाले क़दम के पीछे उनका व्यापारिक स्वार्थ-साधन और सैनिक गतिविधियों में तेजी लाने का प्रयास था। नलिनाक्ष सान्याल ने अपनी पुस्तक 'डेवलपमेंट ऑफ़ इंडियन रेलवेज़' (कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1930) में यह लिखा है कि "भारत से कपास ले जाना, फिर विलायत में कपड़े बनाकर उन्हें यहां बेचने के लिए ले आना, अंग्रेज़ी उद्योग और व्यापार का यह रूप था। भारत और इंग्लैंड के बीच माल ढोने का काम जहाज़ करते थे। इंग्लैंड में बन्दरगाह से कारखाने तक माल ढोने का काम रेलों से होता था।

भारत में दो प्रमुख बन्दरगाह कलकत्ता और बम्बई थे। जिन प्रदेशों में कपास होती थी, वे इन बन्दरगाहों से दूर थे। इंग्लैंड को अपनी औद्योगिक प्रगति के लिए भारत में कपास ढोने का काम जल्दी से निपटाना ज़रूरी हो गया। भारत में रेलमार्गों के निर्माण का यह मुख्य कारण था...।

"देश को पराधीन बनाए रखने के लिए यहां बहुत बड़ी फौज रखना ज़रूरी था। यदि रेलगाड़ियों के ज़रिये फौज एक जगह से दूसरी जगह शीघ्रतापूर्वक ले जायी जा सके तो सैनिकों की संख्या कम होने पर भी फौज को ज़्यादा कारगर ढंग से इस्तेमाल किया जा सकता था। जब इस बात का हिसाब लगाया जा रहा था कि रेल बनाने में कितना धन खर्च होगा और उसे कौन देगा, तब गवर्नर जनरल ने हिसाब लगाया कि कलकत्ता से दिल्ली तक लाइन चालू होने पर फौजी खर्च में कम-से-कम पचास हज़ार पाउंड सालाना की बचत होगी।"[6] अंग्रेज दो सौ साल तक यहां रहे, जिसमें से अन्तिम कुछ वर्षों को छोड़कर कभी ऐसा नहीं लगा कि हिन्दुस्तान से उन्हें खदेड़ा भी जा सकता है, पर तो भी कभी उन्होंने यहां बसने के बारे में नहीं सोचा। कभी इस देश को अपनाने के बारे में भी नहीं सोचा। इसीलिए उनके शासन-काल में सोची-समझी और व्यवस्थित ढंग की क्रूरता दिखाई देती है। इस देश से उनका सम्बन्ध शुद्ध व्यावसायिक और व्यापारिक शोषण का था। कोई लगाव कहीं दिखाई नहीं देता। दो-चार व्यक्तिगत स्तर के लगावों की बात और है।

शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी के आने से हिन्दुओं और मुसलमानों का ध्यान अंग्रेज़ी पढ़ने की ओर गया। इसके पहले हिन्दी-उर्दू के अलावा संस्कृत और फ़ारसी के पठन-पाठन में लोग बखूबी रुचि लेते थे। यह ज़रूर था कि मुसलमानों में ज़्यादा तादाद में लोग फ़ारसी पढ़ते थे, पर फ़ारसी पढ़ने वाले हिन्दुओं की संख्या भी कम नहीं थी। इसी तरह अधिकतर हिन्दू संस्कृत पढ़ते थे, पर बहुत से मुसलमानों की रुचि भी संस्कृत पढ़ने में थी। हिन्दी के कवियों में तो अनेक मुसलमान कवि शीर्ष पर दिखाई देते हैं। मलिक मुहम्मद जायसी, कबीर दास, उसमान, कासिमशाह, अब्दुर्रहीम ख़ान खाना, रसखान, आलम, नूर मुहम्मद जैसे बहुत से मुसलमान कवि हिन्दी साहित्य को शुरू से ही समृद्ध करते आ रहे थे। कहने का मतलब यह है कि हिन्दुओं और मुसलमानों को एक सूत्र में बांधने के लिए भाषा एक सशक्त माध्यम थी। ये भाषाएं दोनों क़ौमों को बिखरने नहीं देती थीं। इनकी वजहसे दोनों समुदायों में आपसी भावनात्मक लगाव था। एक-दूसरे के धर्म की अच्छाइयों को समझने में भी उन्हें भाषा से बहुत मदद मिलती थी। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि समान भाषा बोलने वाले लोगों में एक ख़ास तरह का अपनत्व रहता है, एक सामरस्य बना रहता है। इसका बहुत बड़ा उदाहरण हिन्दुस्तान के देहातों के निवासी हैं। देहाती

इलाक़ों में रहने वाले हिन्दू और मुसलमान एक ही बोली को बोलते हैं। अवध का या भोजपुरी इलाके के हिन्दू-मुसलमान दोनों अवधी और भोजपुरी बोलते चले आ रहे हैं। उनमें वैमनस्य कभी नहीं हुआ। आज भी उनकी समस्याएं राजनीतिज्ञों की उत्पन्न की हुई हैं, वरना जिस तरह की समस्याएं आज पैदा की जा रही हैं, स्वाभाविक स्थिति में उनके पैदा होने का कोई कारण नहीं है।

अंग्रेज़ी के माध्यम बन जाने से हिन्दू-मुस्लिम दोनों समुदायों की निकटता और सामरस्य का एक बड़ा सूत्र टूट गया। अंग्रेज़ी सीखने और शिक्षा तथा व्यवसाय और सरकारी काम-काज के माध्यम के रूप में उसे अपनाने का परिणाम यह हुआ कि दोनों समुदाय अंग्रेज़ों से जुड़े, पर एक-दूसरे से दूर होते गये। समाज का वह वर्ग जो पढ़ा-लिखा नहीं था, पहले की तरह एक-दूसरे से जुड़ा रहा। सुदूर देहाती इलाक़ों के बाशिंदे अपने धर्म का निष्ठा से पालन करते हुए दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णु थे। एक तरह का उदार चरित्र देहातों का बखूबी बना हुआ था। यह किस तरह का चरित्र था, उसका कुछ अवशेष अभी भी आपको संगीतज्ञों में मिल सकता है। जहां संगीत की शिक्षा लेने वाला हिन्दू शिष्य अपने मुसलमान गुरु के चरण छूता है और उसका मुसलमान गुरु सरस्वती-पूजन से दिनारम्भ करता है। उसके लिए ख़ुदा की इबादत और सरस्वती-वंदना में कोई टकराव नहीं है। अगर किसी को पुराने ज़माने के हिन्दू-मुस्लिम धर्म-निरपेक्ष चरित्र की पहचान करनी हो, तो उसे परम्परा से चले आ रहे मौसीक़ी घरानों में इसे ढूंढना चाहिए।

अंग्रेज़ों ने इस समरसता को नष्ट किया। पहले उन्होंने हिन्दुओं को शह दी, ज़्यादा नौकरियां दीं, सरकारी सुविधाएं दीं, फिर बाद में मुसलमानों को शह दी, सरकारी नौकरी और सुविधाएं दीं। भाषायी और सांस्कृतिक स्तर पर अलगाव पैदा किये, धर्म को लेकर कट्टरता की भावना पैदा की और एक समुदाय के मन में दूसरे समुदाय के लिए नफ़रत के बीज बोये। यहां की भाषाओं को, आधुनिक ज्ञान को व्यक्त करने में अक्षम और पिछड़ी हुई बताकर उन्हें पीछे धकेल दिया गया, उन्हें देहाती बोली (वर्नाक्यूलर) कहा गया और अंग्रेज़ी को वह क़ानूनी थूनी दी गयी, जिसके सहारे तेज़ी से उसने अपना जाल फैलाया। उसी तेज़ी से एक वर्ग पैदा हुआ, जो अंग्रेज़ शासकों का हर तरह से मददगार साबित हुआ, जिसमें दास मानसिकता घर कर गयी थी। धीरे-धीरे इस दास-मानसिकता की जड़ें इतनी गहराई में उतर गयीं कि आज हमें आज़ाद हुए तैंतालीस साल हो चुके हैं, पर आज भी हम उससे उबर नहीं पाये हैं। अंग्रेज़ों का मददगार अंग्रेज़ियत में डूबा यह वर्ग अपनी आत्मप्रतिष्ठा और स्वाभिमान खो चुका था। अंग्रेज़ शासकों के प्रभामंडल में अपनी चमक देखने के भ्रम का वह

क़ायल हो चुका था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के घिनौने कृत्य की उन्नीसवीं सदी के स्वयं अंग्रेज़-राजनीतिशास्त्रवेत्ताओं और विद्वानों तक ने भर्त्सना की है, और उसके प्रभाव से स्वयं इंग्लैण्ड के भी भ्रष्ट हो जाने की शंका जाहिर की है। जान ए० हाब्सन, रिचर्ड काब्डन, जार्ज कार्नेवाल लेविस, जान स्टूअर्ट मिल जैसे बहुत से नाम इनमें लिये जा सकते हैं।

मुसलमानों ने आरम्भ में अंग्रेज़ी-शिक्षा का विरोध किया। उनका विश्वास था कि अंग्रेज़ी-शिक्षा के प्रचार-प्रसार से भारतीय मुसलमानों में ईसाई धर्म की ओर झुकाव बढ़ेगा और अपने धर्म के प्रति उदासीनता उत्पन्न होगी। इसी वजह से जब 7 मार्च 1835 को बेंटिक ने इस आशय के आदेश जारी किये, जिसमें केवल अंग्रेज़ी शिक्षा के लिए ही सरकारी अनुदान का प्रावधान था, तो इसके विरोध में 8000 मुसलमानों के दस्तख़त के साथ लार्ड विलियम बेंटिक को एक याचिका दी गई, जिसमें अंग्रेज़ी शिक्षा के लिए सभी सरकारी अनुदान को देने का विरोध किया गया। कुछ धनी मुसलमानों ने जैसाकि अपेक्षित था, अवश्य अंग्रेज़ी शिक्षा का पक्ष लिया, सैयद अहमद खां ने न केवल अंग्रेज़ी शिक्षा का पक्ष लिया, वरन् उन्होंने अंग्रेज़ी-शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए अलीगढ़ मुस्लिम स्कूल की स्थापना की जो आगे चलकर विश्वविद्यालय हुआ, और ब्रिटिश सत्ता के समर्थन की मुस्लिम राजनीति का प्रमुख केन्द्र बना।

हिन्दुओं ने अंग्रेज़ी पढ़ना पहले से ही आरम्भ कर दिया था और इस तरह सरकारी नौकरियों का रास्ता उनके लिए जल्दी खुला। हिन्दुओं के लिए सरकारी कामकाज की भाषा फ़ारसी को सीखना जिस तरह से मुश्किल था, उसी तरह अंग्रेज़ी सीखना भी। इसलिए अंग्रेज़ी जैसे ही सरकारी भाषा का स्थान लेने लगी, अधिक-से-अधिक तादाद में हिन्दू उसकी ओर आकृष्ट हुए। मुसलमान फ़ारसी से अधिक जुड़े हुए थे, आखिर फ़ारसी इस्लाम से जुड़ी हुई थी, उससे विमुख होना मुसलमानों के लिए आसान नहीं था। फिर उलेमा का ऐसा वर्ग था, जो अंग्रेज़ों की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाने के पक्ष में बिलकुल ही नहीं था। लिहाज़ा मुस्लिम अवाम में अंग्रेज़ी पढ़ने की ओर झुकाव बाद में आया। इससे हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों के आर्थिक समीकरण में बदलाव आया। आर्थिक समीकरण के बदल जाने से सामाजिक समीकरण में परिवर्तन आना लाज़िमी था। उच्च वर्ग के मुसलमान पहले हिन्दुओं को अपने बराबर का दरजा देने के लिए तैयार नहीं थे। आखिर उन्होंने 600 साल तक शासन किया था। इस सामाजिक समीकरण के बदलाव से हिन्दुओं के प्रति कटुता का भाव उनमें उत्पन्न हुआ, पर इस कटुता को वे सरेआम ज़ाहिर नहीं कर सकते थे। इसलिए जहां मौक़ा मिला, उन्होंने इसे ज़ाहिर किया। साथ ही हिन्दू-मुसलमान के आपसी सौहार्द के सम्बन्धों में वे दरार डालने लगे। इस व्यवहार की सबसे बड़ी शिकार

ज़बान बनी। उर्दू को उन्होंने अपनी ज़बान मान ली। क्रमशः राजनीतिक और धार्मिक-सामाजिक स्तरों पर वे अपने में सिमटते गये। ब्रिटिश कूटनीति से उन्हें भरपूर बल मिला। यहां यह समझना जरूरी है कि इस सारे दांव-पेंच और अलगाववादी प्रवृत्ति के प्रचार में अंग्रेज़ों के साथ केवल धनी और समर्थ मुसलमान शामिल थे। गांव और कस्बों का मुसलमान तो उसी तरह स्थानीय बोलियां और हिन्दुस्तानी बोल रहा था, हिन्दुओं के धार्मिक पर्वों में शामिल हो रहा था और अपने पर्वों में उन्हें शामिल कर रहा था, जैसे पहले हुआ करता था। उसमें कोई विशेष फ़र्क़ नहीं पड़ा।

अंग्रेज़ी को माध्यमिक और उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया गया। आरम्भिक कक्षाओं में मातृभाषा में शिक्षा देने का प्रावधान भी था। पर ऐसे प्रावधान का कोई विशेष मतलब नहीं रह जाता, जिससे आगे चलकर परेशानी पैदा हो। निचली कक्षाओं में मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने वाला कॉलेज स्तर की शिक्षा कैसे हासिल कर पायेगा जब तक कि वह अंग्रेज़ी भाषा का अच्छा ज्ञान न रखता हो, जो कॉलेज की शिक्षा का माध्यम है। अंग्रेज़ी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाते हुए जो तर्क दिये गये, वे ये थे कि विभिन्न भाषाओं को बोलने वालों के लिए अंग्रेजी के कारण एक-दूसरे से विचार-विमर्श करने में सहूलियत होगी और कॉलेज-स्तर पर वे सभी एक ही भाषा अंग्रेज़ी के माध्यम से शिक्षा हासिल कर सकेंगे।*

---

* यह कितनी अजीब बात है कि सन् 1835 में अंग्रेज़ी को स्थापित करने के लिए जो तर्क दिये जा रहे थे, आज 1990 में भी वे ही तर्क दिये जाते हैं। अनेक भाषा-भाषियों के बीच आपसी विचार-विमर्श या शिक्षा के माध्यम का काम करने वाली कोई लोकप्रिय और हिन्दुस्तान के अधिकांश इलाक़ों में बोली-समझी जाने वाली किसी हिन्दुस्तानी ज़बान को यह दरजा दिया जा सकता है, इस नीति को तब अंग्रेज़ी सत्ता ने जान-बूझकर नहीं अपनाया, क्योंकि उन्हें ब्रिटिश सत्ता को मज़बूत बनाने के लिए अंग्रेज़ी भाषा को फैलाने की ज़रूरत महसूस हुई। अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता तथा मानसिक ग़ुलामी, पश्चिमी तौर-तरीकों का रौब फैलाने की ज़रूरत उनके सामने थी। आज भी कॉलेज-स्तर पर अधिकांश विश्वविद्यालयों में प्रमुखतया अंग्रेज़ी ही शिक्षा का माध्यम है। हिन्दी आसानी से और बखूबी यह स्थान ले सकती है, पर सत्ताधारियों की प्राथमिकताएं आज भी कुछ उसी तरह की हैं, जैसी ब्रिटिश शासन के वक़्त हुआ करती थीं। यानी कि अंग्रेज़ी मानसिकता का आतंक और रौब देश की अधिकांश आबादी पर फैलाना। तब ब्रिटिश सत्ता को मज़बूत और स्थायी बनाने की

1835 के बाद अंग्रेज़ी पढ़ाने वाले शिक्षा-संस्थानों में काफ़ी बढ़ोत्तरी की गई। 1836 में लार्ड आकलैंड और उनकी काउंसिल ने यह निर्णय लिया कि न्यायिक और राजस्व (जुडीशल और रेवेन्यू) सम्बन्धी मुक़दमों की सुनवाई फ़ारसी के बजाय जनता की भाषा में की जाय, और इस तरह 1837 के 29वें ऐक्ट के मुताबिक फ़ारसी का प्रयोग ख़त्म कर दिया गया। 1844 में नौकरियों के लिए अंग्रेज़ी के ज्ञान को आवश्यक कर दिया गया।[7]

बम्बई प्रेजिडेंसी में 1840 में जो शिक्षा-नीति अपनाई गई, उसके मुताबिक भारतीय और अंग्रेज़ी भाषाओं को स्कूल-स्तर पर पढ़ाने का प्रावधान था, पर उच्च अध्ययन के लिए केवल अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम बनाया गया। अंग्रेज़ी पढ़ाने के लिए प्रत्येक ज़िला मुख्यालय तथा दूसरे शहरों में अच्छे अंग्रेज़ी स्कूल खोले गये। इस नीति के कारण पहले की नीति जिसमें यूरोपीय ज्ञान को मातृ-भाषा के माध्यम से देने का विधान था, उसे ख़त्म कर दिया गया और उच्च-शिक्षा के माध्यम के रूप में केवल अंग्रेज़ी को अपनाया गया। इस तरह बंगाल के बाद बम्बई में अंग्रेज़ी माध्यम से उच्च शिक्षा दी जाने लगी। हालांकि बम्बई के शिक्षा बोर्ड ने काफ़ी संख्या (1853 में 216) में ऐसे स्कूलों को बनाये रखा जो हज़ारों विद्यार्थियों (1853 में 12,000) को मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा दे रहे थे।[8]

पश्चिमोत्तर प्रान्त में आगरा में 1824 में, दिल्ली में 1824-25 में और बरेली में 1827 में अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम बनाने वाले कॉलेज खोले जा चुके थे। यह दूसरी बात है कि अंग्रेज़ी-शिक्षा की कोई मांग वहां नहीं थी। यहां

प्राथमिकता थी, आज शासक वर्ग के छोटे-से कुनबे के आतंक और रौब को स्थायी बनाना है। जिस पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता तथा मानसिकता को भारतीयों में पैदा करने में ब्रिटिश सत्ता की सफलता बहुत सीमित थी, वही आज हमारे अपने कहे जाने वाले शासक-वर्ग की मेहरबानी से घर-घर में पहुंच गयी है और दूर-दराज़ के इलाक़ों में भी दरवाज़ों पर दस्तक देने लगी है। शासक-वर्ग ने अंग्रेज़ी को हर क्षेत्र में पूरे तौर पर अपनाकर यह ज़रूरत पैदा कर दी है। आखिर नौकरी और काम-काज तो हर आदमी को चाहिए ही और अगर अंग्रेज़ी ही उसकी कसौटी हो, तो फिर क्या किया जाए, लेकिन इन सबके बावजूद वही दो प्रतिशत है, जो इसे जानता है, उसमें भी अधिकांश लोगों की जानकारी काम-चलाऊ स्तर से ऊपर की नहीं है। इससे अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि कुख्यात इलीट वर्ग कितना छोटा और सिमटा हुआ है, पर वह वर्ग अमरबेल की तरह पूरे देश को अपने पाश में कसे हुए है।

तक कि बनारस के संस्कृत कॉलेज में भी अंग्रेज़ी की कक्षाएं खोल दी गयीं।[9]

उस वक़्त के चार दशकों की शिक्षा-व्यवस्था, जिसने भारतीय जनता को बहुत अधिक प्रभावित किया, उसकी प्रमुख विशेषताओं का डा० ताराचन्द[10] ने बयान किया है। ताराचन्द के अनुसार उन चार दशकों की शिक्षा-व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं चार थीं। उनमें पहली थी : 1. शिक्षा का समाज के उच्च वर्ग में केन्द्रित होना और आम जनता को शिक्षा के दायरे से बहिष्कृत करना; 2. दूसरी विशेषता थी शिक्षा के माध्यम के रूप में स्कूलों और कॉलेज़ों में अंग्रेज़ी को अपनाना, 3. तीसरी बात थी कि शिक्षा में पश्चिमी ज्ञान को प्रमुख विषय के रूप में स्वीकृति, और 4. चौथी विशेषता थी कि शिक्षा के प्रमुख चरित्र का पूरी तौर पर अकादमिक हो जाना और व्यावहारिक तथा तकनीकी प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) की उपेक्षा करना।

डॉ० ताराचन्द ने इस ओर संकेत किया है कि अंग्रेज़ी शिक्षा से सरकार निचली सरकारी नौकरियों के लिए नवयुवकों को तैयार करना चाहती थी, और अंग्रेज़ी शिक्षा को आगे बढ़ाने के पीछे अंग्रेज़ मिशनरियों का उद्देश्य यह था कि वे इस शिक्षा को भारतीय समाज तक पहुंचने और उनमें क्रिश्चियन धर्म को फैलाने के लिए साधन के रूप में इस्तेमाल करें। भारतीयों में भी अंग्रेज़ी शिक्षा को हासिल करने की उत्सुकता दिखाई देती है, जिसका प्रमुख कारण उस स्वार्थ से जुड़ता है, जो अंग्रेज़ी की उपयोगिता से जुड़ा हुआ है।

अंग्रेज़ों के आने के बाद जो मध्य वर्ग पैदा हुआ, वह अंग्रेज़ी शिक्षा के बल पर ही फला-फूला। ब्रिटिश नीति के कारण सरकारी नौकरियों में अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोग ही जा सकते थे। सरकारी नौकरी भी भारतीयों को निचले स्तर की ही मिल सकती थी। डिप्टी कलेक्टर और सहायक जज, यही उसकी ऊपरी सीमा थी। इससे ऊपर की नौकरियों पर अंग्रेज़ बहादुर आसीन थे। व्यवसायों में वकालत, अध्यापन, डॉक्टरी और पत्रकारिता ऐसे व्यवसाय थे जो अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों के लिए सुलभ थे। यह सब मिलाकर मध्य वर्ग बना। इस मध्य वर्ग से, व्यवसायों से जुड़े लोगों ने आज़ादी की लड़ाई में अप्रतिम योगदान दिया। अंग्रेज़ी भाषा के ज्ञान से उन्हें अंग्रेज़ी तौर-तरीकों की जानकारी मिली, ब्रिटेन में ब्रिटिश शासन पद्धति का ज्ञान हुआ। इस बात का ज्ञान हुआ कि ब्रिटिश सरकार ब्रिटेन में और तरह से शासन चलाती है, और हिन्दुस्तान में दूसरे तरह से। एक ही शासन पद्धति एक जगह लोकतांत्रिक है, और दूसरी जगह निरंकुश। इन बातों का अहसास इसी मध्य वर्ग को हुआ। इस बात का अहसास हुआ कि वे बहुत अपमानजनक ज़िन्दगी जी रहे हैं और आज़ादी की लड़ाई की मशाल जली।

अंग्रेज़ी की पढ़ाई से दूसरा बड़ा फ़ायदा यह हुआ कि अंग्रेज़ी के ज़रिये पश्चिम की आधुनिक विचारधारा हिन्दुस्तान में आयी । इस आधुनिक विचार-धारा के अनेक फ़ायदे थे । यहां की बहुत-सी सड़ी-गली रूढ़ियों को निकाल फेंकने की आवश्यकता उजागर हुई । समाज के समूचे ढांचे पर पुनरावलोकन ज़रूरी हो गया । वर्ण-व्यवस्था, जातियों का इन्द्रजाल, अजीबो-ग़रीब रीति-रिवाज़ लोक-प्रचलित बेतुकी धारणाएं—ये सब छान-बीन और आलोचना का विषय बनी । अनेक सुधारवादी संस्थाएं पैदा हुईं। राधाकान्त देव (1823 में गौड़ीय समाज की स्थापना की । हिन्दू धर्म के गौरव की पुनर्स्थापना में योगदान दिया), राजा राममोहन राय (ज. 1774), बालशास्त्री जम्भेकर (ज. 1812), विष्णुशास्त्री बापट, गोपाल हरि देशमुख (ज. 1823), जोतिबा फुले (ज. 1828, लड़कियों के लिए स्कूल खोला, 1854 में अछूतों के लिए स्कूल खोला) सरीखे अनेक सुधारवादी हिन्दुस्तानी समाज के ढांचे में सुधार को लेकर उठ खड़े हुए।

अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से आने वाली आधुनिक सोच काफी बड़े सुधार को लाने वाली सिद्ध हुई, साथ ही सरकारी भाषा बन जाने और सरकारी नौकरियों तथा वकालत, अध्यापन और चिकित्सा जैसे व्यवसायों की एकमात्र भाषा बन जाने के कारण समूचे देश में अंग्रेज़ी पठन-पाठन का ज्वार उठा । हर आदमी की वरीयता अंग्रेज़ी की ओर झुक गयी । सरकारी स्कूलों, मिशनरी स्कूलों और प्राइवेट स्कूलों की बाढ़-सी आ गयी । इसी अनुपात में अंग्रेज़ी शिक्षा के कॉलेज खुले । लेकिन यह बाढ़ शहरों तक ही महदूद रही, जब कि अधिकांश आबादी देहातों में बसर करती थी। सरकार का पूरा ध्यान और अनुदान अंग्रेज़ी स्कूल-कॉलेज तक ही रहा, जिससे लाभान्वित होनेवाले पूरी जनसंख्या के अनुपात में बहुत कम थे—नगण्य जैसी स्थिति थी । जनसंख्या के अधिकांश की ओर सरकार का कोई ध्यान नहीं था, उसने जान-बूझकर उधर से आंखें बन्द कर ली थीं। नतीजा यह हुआ कि अधिकांश जनता अनपढ़ रही । भारतीय भाषाओं के पठन-पाठन के लिए बिलकुल ही कोई व्यवस्था नहीं थी। पाठशालाओं और मदरसों को जो थोड़ा-बहुत अनुदान ईस्ट इंडिया कम्पनी से मिला करता था, वह भी 1835 के बाद बन्द हो गया । मतलब यह कि भारतीय भाषाएं जहां थीं, वहीं थम गयीं । उन्हें पढ़ने के लिए देशवासियों में भी कोई उत्साह नहीं रहा। उत्साह होता भी कैसे, उनसे रोज़ी-रोटी तो मिल नहीं सकती थी । अंग्रेज़ी रोज़ी-रोटी की कुंजी भी थी और उज्ज्वल भविष्य की गारंटी भी । अंग्रेज़ हाकिमों से मेल-जोल बढ़ाने का आसान तरीका भी, और हिन्दुस्तानियों में अपने को विशिष्ट समझने और बताने का ट्रम्प-कार्ड भी । इस सबका नतीजा यह हुआ कि भारतीय भाषाएं एकदम बेसहारा, तिरस्कृत और अंधी गली में होने जैसी स्थिति में आ गईं। उनके विकास की मुख्य धारा में बहुत बड़ा अवरोध पैदा हो

गया। अधिकांश जनता अनपढ़ रही और भारतीय भाषाएं गंवारू बोलियों की संज्ञा से अभिहित हुईं। यह कोई संयोग नहीं है कि अधिकतर अंग्रेज़ लेखकों-इतिहासकारों ने आधुनिक भारतीय भाषाओं को देहाती और गंवारू बोलियों (वर्नाक्यूलर्स) के नाम से याद किया है। और जले पर नमक छिड़कने की तरह स्वनामधन्य हिन्दुस्तानी लेखकों ने अन्य बातों की तरह यहां भी उनका साथ दिया है और उन्हीं के शब्दों को ब्रह्म-वाक्य माना है। मैकाले ने यह कहकर कि समूचा संस्कृत और अरबी साहित्य यूरोपीय साहित्य के केवल एक शेल्फ़ के सामने भी हेच है, 1835 से ही अंग्रेज़ और उनकी दुम के पीछे लगे हिन्दुस्तानी लेखकों का मार्गदर्शन किया है।

शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन की दिशा

इस सबके बावजूद अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार मनचाही गति से नहीं चल पा रहा था। यूरोपीय ज्ञान जिसे अंग्रेज़ शासक जल्दी-से-जल्दी यहां फैलाना चाहते थे, इच्छित गति से नहीं फैल पा रहा था। इस सबको देखते हुए शिक्षा-प्रणाली में कुछ परिवर्तन की ज़रूरत महसूस की गई। यह परिवर्तन 'वुड्स डिस्पैच 1854' के नाम से जाना जाता है। सर चार्ल्स वुड बोर्ड ऑफ़ कंट्रोल के अध्यक्ष थे। 1854 की प्रणाली में खास बात यह थी कि शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी के साथ वर्नाक्यूलर भाषाओं को भी शामिल किया गया। डिस्पैच में यह कहा गया कि अंग्रेज़ी भाषा के साथ ज़िले की वर्नाक्यूलर भाषा को भी पढ़ाया जाय। अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम वहां रखा जाय, जहां इसके द्वारा शिक्षा ग्रहण करने के लिए विद्यार्थी को अंग्रेज़ी का पर्याप्त ज्ञान हो गया हो।

उन जगहों पर जहां अंग्रेज़ी का प्रचार अभी अधिक नहीं हो पाया है, माध्यम के रूप में उस स्थान की वर्नाक्यूलर भाषा को अपनाया जाय। साथ में यह भी कहा गया कि जो अध्यापक और प्रोफेसर हों, उन्हें अंग्रेज़ी के समुचित ज्ञान के साथ-साथ यूरोपीय ज्ञान के विकास की अधुनातन जानकारी होनी चाहिए, जिसे वे मातृभाषा के ज़रिये विद्यार्थियों को दे सकें।

इस रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि हिन्दुस्तानी वर्नाक्यूलर साहित्य को यूरोपीय पुस्तकों के अनुवाद से, तथा उन लोगों की मूल कृतियों से समृद्ध करना चाहिए, जिनका मस्तिष्क यूरोपीय प्रगति की जानकारी से भरा-पूरा है, जिससे वे हिन्दुस्तान के हर वर्ग तक यूरोपीय ज्ञान को फैला सकें। यूरोपीय ज्ञान को प्रसारित करने के लिए अंग्रेज़ी भाषा के साथ-साथ वर्नाक्यूलर भाषाओं के माध्यम की भी ज़रूरत है।

इस रिपोर्ट में सर्वाधिक ग़ौर-तलब बात यह है कि वर्नाक्यूलर भाषाओं के माध्यम की जो बात कही गई है, उसके पीछे मक़सद यह है कि इन भाषाओं के

द्वारा यूरोपीय तौर-तरीक़े और उनका बाहरी बड़प्पन, यूरोपीय ज्ञान की अन्य अनेक बातें, उन लोगों तक भी पहुंचायी जा सकती हैं, जिन तक अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से पहुंचाना आसान नहीं रहा है। अर्थात्, जो लोग अंग्रेज़ी माध्यम से पढ़-लिख रहे हैं, उन तक तो यूरोपीय ज्ञान पहुंचाता ही है, वे स्वतः उस तौर-तरीक़े और ज्ञान के क़ायल हो जाते हैं—आखिर वह शासक की भाषा है, और उस भाषा के ज्ञान से नौकरी और व्यक्तिगत पेशों और आर्थिक लाभ के द्वार खुलते हैं। लेकिन जो लोग अंग्रेज़ी भाषा नहीं पढ़ सके, या अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम को नहीं अपना सकते, उन तक अंग्रेज़ी सभ्यता के महिमा-मंडित ज्ञान को कैसे पहुंचाया जाय, यह प्रश्न अंग्रेज़ी राज के सम्मुख था। 1854 का डिस्पैच उसी कार्य को पूरा करने के लिए था।

साथ ही सत्ताधारी इस बात को भी ध्यान में रखे हुए थे कि देशी भाषाएं समुन्नत न हो पायें, अंग्रेज़ी सभ्यता और ज्ञान के लिए उन्हें माध्यम तो बनाया जाय, पर वे स्वयं समुन्नत न हो सकें। ख़ासतौर पर हिन्दी-उर्दू, जो व्यापक भाषा का आधार ग्रहण किये हुए थीं, उन्हें और पनपने और समृद्धतर होने का मौक़ा नहीं मिला। 1857 में सबसे पहले तीन विश्वविद्यालय कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में खुले। फिर 1882 और 1887 में पंजाब और इलाहाबाद में विश्वविद्यालय खोले गये। "इन विश्वविद्यालयों के द्वारा इस देश में अंग्रेज़ी-विद्या का अद्भुत प्रचार हुआ। बी० ए० और एम० ए० की उपाधियां (डिग्रियां) स्थापित की गईं, और हमारे देश के अनेक विद्वानों ने अंग्रेज़ी के पठन-पाठन में इतनी उन्नति की, जिसे देखकर अंग्रेज़ भी चकित हो गये। परन्तु देशी भाषाओं की शिक्षा और उन्नति पर उचित ध्यान किसी विश्वविद्यालय ने नहीं दिया।

अंग्रेज़ी सरकार शिक्षा पर कितना नगण्य खर्च करती थी, इसे नीचे दिये इस आंकड़े से बख़ूबी जाना जा सकता है। 1856-57 में राजस्व और शिक्षा पर खर्च इस तरह था—

प्रान्त	कर	शिक्षा का खर्च	कुल कर का शिक्षा पर खर्च का प्रतिशत
	पौंड	पौंड	पौंड
बंगाल	11,2,02641	94,322	.841
मद्रास	4,7,18036	34,222	.725
बम्बई	4,6,00478	35,243	.766
पश्चिमोत्तर प्रान्त (एन० डब्ल्यू० पी०)	2,7,24141	33,060	1.213
पंजाब	10,57,987	14,487	1.369[11]

'सरस्वती' पत्रिका (सं. 1) में 1899 ई० के कमीशन का ज़िक्र किया गया है। "1899 ई० में लार्ड कर्जन की गवर्नमेंट ने विश्वविद्यालयों के सुधार के लिए एक कमीशन बैठाया। इस कमीशन के सामने प्राय: जितने पुरुष उपस्थित हुए सबने मुक्त कंठ से इस बात को स्वीकार किया कि विश्वविद्यालयों में देशी भाषाओं पर पूरा ध्यान नहीं दिया जाता, और उनके बी० ए०, एम० ए० उपाधिधारी युवक अपनी मातृभाषा के साहित्य से अनभिज्ञ रह जाते हैं। इस कमीशन ने गवर्नमेंट को सलाह दी कि—1. एम० ए० परीक्षा में देशी भाषाएं भी शामिल की जाएं; इन भाषाओं की पढ़ाई इस प्रकार से हो, जिसमें विद्यार्थी इनमें पूरे विद्वान हों और विश्वविद्यालय का धन ऐसे अध्यापकों को नियुक्त करने में लगाया जाय, जो इन भाषाओं को भली प्रकार पढ़ा सकें। 2. बी० ए० में भी देशी भाषाओं में निबन्ध लिखवाये जाएं; 3. इस सिद्धान्त पर ध्यान रखा जाय कि अंग्रेज़ी भाषा से जो अनुवाद परीक्षा-पत्रों के उत्तर में किया जाय वह देशी भाषा के व्याकरण की रीति से शुद्ध हो, और 4. साहित्य और विज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थों को स्वदेशी भाषा में लिखने के लिए पारितोषिक दिये जाएं। विश्वविद्यालय कमीशन का उद्योग, इस सम्बन्ध में, बिलकुल निष्फल नहीं हुआ। मद्रास विश्वविद्यालय ने तमिल, तेलुगु, कनाडी और मलयालम में एम० ए० परीक्षा देने की आज्ञा दी। बी० ए० में भी अन्य विषयों के साथ ऊपर लिखी हुई भाषाओं के अतिरिक्त उर्दू को भी जगह मिली। जो विद्यार्थी इन भाषाओं को पढ़ते हैं उनको प्रत्येक भाषा के साहित्य के इतिहास और भाषा-तत्त्व-सम्बन्धी सिद्धान्त का जानना भी आवश्यक है। बम्बई के विश्वविद्यालय में विद्यार्थी मराठी, गुजराती और कनाडी में एम० ए० हो सकते हैं, पर उन्हें अंग्रेज़ी साहित्य भी साथ पढ़ना पड़ता है। कलकत्ता विश्वविद्यालय में जो एम० ए० परीक्षा देते हैं, उन्हें एक निबन्ध किसी देशी भाषा में भी लिखना पड़ता है। बस, इन तीन विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त अन्य किसी विश्वविद्यालय ने कुछ नहीं किया। इन तीनों ने भी देशी भाषाओं की उन्नति के लिए जितना चाहिए उतना नहीं किया। ये तीन विश्वविद्यालय भी साहित्य और विज्ञान के ग्रन्थों के लिए पारितोषिक नहीं देते।

"हिन्दी के दुर्भाग्य से जिन तीन विश्वविद्यालयों ने कुछ किया भी उनमें हिन्दी भाषा-भाषियों की संख्या अधिक नहीं है। एक तो कलकत्ता विश्वविद्यालय ने मद्रास और बम्बई की तरह दिल खोलकर देशी भाषाओं को स्थान नहीं दिया। तिस पर जो दो-एक कॉलेज में हिन्दी के अध्यापक नियत किये भी गये वे भी पीछे से हटा दिये गये।

"...जब से विश्वविद्यालय स्थापित हुए हैं, तब से लेकर विश्वविद्यालय सम्बन्धी कमीशन के समय तक इस बात का आश्वासन दिया गया है कि देशी

भाषाओं में भी उच्च-शिक्षा दी जाय, परन्तु अब तक इस ओर पूरा ध्यान नहीं दिया गया···"।

1882-83 में लार्ड रिपन ने 'इंडियन एजूकेशन कमीशन' नियुक्त किया। विलियम हन्टर इस कमीशन के अध्यक्ष (चेयरमैन) बनाये गये। उनके नाम पर इसे 'हन्टर कमीशन' भी कहा जाता है। कमीशन ने देशी शैक्षिक संस्थाओं का रोना रोया और उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए कोशिशों की सिफ़ारिश की रस्म पूरी की।

कमीशन की अन्य सिफ़ारिशों में एक सिफ़ारिश यह थी कि आरम्भिक शिक्षा को जनशिक्षा के रूप में लिया जाना चाहिए, और उनकी शिक्षा देशी भाषाओं (वर्नाक्यूलर) में होनी चाहिए।

कमीशन ने यह भी सिफ़ारिश की कि उन ज़िलों में कम-से-कम एक-एक मॉडल-स्कूल स्थापित किये जायें, जिन ज़िलों की जनता के हित में इसकी ज़रूरत हो, और जहां की जनता स्वयं उन्नति न कर सकी हो और न इतनी धनी हो कि इस तरह का स्कूल केवल सहायता-अनुदान (ग्रान्ट-इन-एड) से स्थापित कर सके।

इस तरह पहले के कमीशन की तरह ही 3 फवररी 1882 से अपना काम शुरू करने वाले हन्टर कमशीन ने भी अच्छी-अच्छी सिफ़ारिशें कीं, पर इसका हश्र भी वही हुआ, जो पहले के कमीशनों और रिपोर्टों का हुआ था। अर्थात् ढाक के वही तीन पात। न तो देशी भाषाओं की ओर, विशेष रूप से हिन्दी-उर्दू की ओर, किसी का ध्यान गया, और न ही ज़िलों में मॉडल स्कूलों की स्थापना की योजना कार्यान्वित हुई। ये सब सिफ़ारिशें कागज़ तक ही महदूद रहीं। देशी भाषाएं उसी तरह उपेक्षित रहीं और अंग्रेज़ी दिन दूनी रात चौगुनी गति से जनता के दिल-दिमाग़ पर छाती रही।

यहां एक और बात की ओर इशारा करने का लोभ मैं नहीं छोड़ पा रहा हूं, और वह यह है कि प्रत्येक जिले में मॉडल स्कूल की जो संकल्पना 1882 के हन्टर कमीशन ने की थी, वही संकल्पना, लगभग वैसी ही रूपरेखाओं के साथ 1986-87 में, आज़ादी के चालीस सालों के बाद हमारी अपनी कही जानेवाली सरकार ने फिर से दुहरा दी। यानी कि सौ सालों के बाद भी मॉडल स्कूल कायम नहीं हुए और दरिद्रनारायण विद्यार्थी फटे टाट से ऊपर नहीं उठ पाया। देशी भाषाओं की स्थिति थोड़े-बहुत फेर-बदल के साथ लगभग वही है जो सौ साल पहले थी। सरकार की ओर से उन्हें रचनात्मक प्रोत्साहन देने का काम कभी भी उठाया नहीं गया। उन्हें प्रोत्साहन देने के लिए खास-तौर पर हिन्दी की उन्नति के लिए आज़ादी के बाद अनुदानों की कमी नहीं रही है, अनुदान दिये जाते हैं, पर वे अनुदान सरकार के आगे-पीछे फिरने वाले कुछ लोगों में बंट जाते हैं। हिन्दी हो या दूसरी देशी भाषाएं हों, सभी में जो प्रगति हुई है, वह वैयक्तिक कोशिशों से

हो सकी है। इसमें सरकार का क़तई कोई योगदान नहीं है। सरकार का आज भी अगर किसी भाषा को आगे बढ़ाने में सक्रिय योगदान है तो वह अंग्रेज़ी को आगे बढ़ाने में है। अंग्रेज़ी को आगे बढ़ाने में ब्रिटिश सत्ता की विरासत को देशी सरकार ने बखूबी संभाला है।

यह भी ध्यान देने लायक बात है कि 1882 में ही बंगला में बन्दे मातरम गीत के साथ 'आनन्द मठ' जैसी सशक्त रचना लिखी गयी। और 1875 में स्थापित आर्य समाज द्वारा हिन्दी का प्रचार हो रहा था, इसी साल अर्थात् 1875 में ही अलीगढ़ में सैयद अहमद खां ने महम्मडन एंग्लो ओरियंटल कॉलेज स्थापित किया, जिसमें उर्दू के पठन-पाठन की विशेष व्यवस्था की गयी थी। उन्हीं वर्षों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी को विकसित करने में जी-जान से जुटे हुए थे। 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल। बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल॥' इस संदेश को वे हर दरवाज़े तक पहुंचाना चाहते थे। उनके सहयोगी और दूसरे समकालीन लेखक प्रतापनारायण मिश्र, पं० बाल कृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहन सिंह, लाला श्रीनिवास दास, बाबू तोताराम आदि हिन्दी के अभावों को भरने में तल्लीन थे। 'कालचक्र' में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 1873 ई० में लिखा कि 'हिन्दी नई चाल में ढली....'। दूसरी देशी भाषाओं में भी धीरे-धीरे प्रगति हो रही थी। पर देशी भाषाओं की यह जो प्रगति हो रही थी, वह कुछ व्यक्तियों की बदौलत थी। सरकार का इसमें रत्ती-भर भी योगदान नहीं था। हां, वह व्यक्तिगत कोशिशों में रोड़े अवश्य अटकाती रहती थी।

देशी भाषाओं में हो रहे विकास और उनमें वर्ग चेतना के सूत्रपात के दबाव की वजह से ब्रिटिश सरकार देशी भाषाओं के हाथों में कभी झुनझुना थमा देती थी और कभी लालीपॉप। सरकार की ओर से इनकी प्रगति के लिए उठाये गये 'ठोस' क़दम यहीं तक महदूद थे। सौ साल पहले की उन स्थितियों में और आज के सरकारी तौर-तरीक़ों में कितना साम्य है, यह सोचकर हैरत होती है।

सन् 1917 में भारत सरकार ने फिर एक कमीशन की नियुक्ति की जो 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन' के नाम से जाना जाता है। इस कमीशन के अध्यक्ष लीड्स विश्वविद्यालय के डॉ० एम० ई० सैडलर बनाये गये, इसीलिए इसे सैडलर कमीशन भी कहा गया था। कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन ने भी शिक्षा के माध्यम के बतौर मातृभाषा को अपनाने की सिफ़ारिश की। कमीशन ने यह विचार भी ज़ोरदार शब्दों में व्यक्त किया कि शिक्षा-व्यवस्था में कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है, जिसकी वजह से युवक शिक्षा-प्राप्ति के बाद भी अपनी मातृ-भाषा को सहज प्रवाह और सही रूप में न तो बोल सकते हैं और न ही उसमें लिख सकते हैं। इसलिए यह निर्विवाद है कि सेकेण्डरी स्कूलों, इण्टरमीडियेट

कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में देशी भाषाओं के गम्भीर अध्ययन को आगे बढ़ाने के लिए व्यवस्थित प्रयास किया जाना चाहिए।

और ज़ाहिर है कि इस रिपोर्ट को भी सरकार ने कूड़े की टोकरी के हवाले किया, बावजूद इसके कि 1882 और 1917 के बीच देश के राजनीतिक, धार्मिक और भाषाई मंच पर बहुत कुछ घट चुका था। आर्य समाज और हिन्दू महासभा (स्थापना 1910) हिन्दी के प्रचार और मुस्लिम लीग उर्दू के प्रचार के साथ-साथ दोनों एक-दूसरे को काटने की राजनीति में लिप्त थे। वैसे हिन्दू-मुस्लिम सहकार की दृष्टि से 1916 से 1921-22 का समय बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। राजनीतिक मंच पर 1905 के बंग विभाजन और 1911 में उसे पुनः रद्द करने के निर्णय के बीच देश ने अपनी करवट बदल ली थी। आंदोलन का महत्त्व और अर्थ देशवासियों को पता चल चुका था। इस सबकी विस्तृत चर्चा अन्यत्र की गई है।

1917 के ठीक बीस वर्षों के बाद 1937 में राष्ट्रीय स्तर पर आरम्भिक शिक्षा को लेकर डॉ० जाक़िर हुसैन की अध्यक्षता में वर्धा एजूकेशन कमेटी बनाई गई। इस कमेटी ने पहली बार बच्चों की शिक्षा को विस्तृत दायरे में रखने और बच्चे के व्यक्तित्व के सभी पहलुओं के विकास पर विचार किया। पहली बार हस्तकला को शिक्षा के अन्तर्गत रखने की बात कही गई। शारीरिक श्रम को इज़्ज़त देने की बात कही गई। और इस बात पर ज़ोर दिया गया कि शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा को अपनाया जाना चाहिए। रिपोर्ट के आठवें भाग में हिन्दुस्तानी को लेकर कुछ सिफ़ारिशें हैं। उन सिफ़ारिशों में यह कहा गया है कि स्कूल-पाठ्यक्रम में हिन्दुस्तानी को आवश्यक विषय के रूप में पढ़ाया जाय। ऐसा करने के पीछे उद्देश्य यह है कि वे सभी बच्चे जो इन राष्ट्रीय विद्यालयों में शिक्षा लें उन्हें जनभाषा (लिंगुआ-फ्रांका) की समुचित जानकारी होनी चाहिए। बड़े होने पर देश के नागरिक के रूप में देश के किसी भी भाग में रहने वाले देशवासियों से वे सहयोग कर सकेंगे। हिन्दुस्तानी पढ़ाने वाले अध्यापकों को चाहिए कि वे विद्यार्थियों के मन-मस्तिष्क में यह समझ पूरी तौर पर बैठा दें कि यह भाषा हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक सहयोग की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है। इसकी समृद्धि और इसकी सम्भाव्यता पर उन्हें गर्व करना सीखना चाहिए और उनके मन में परम श्रद्धा भाव से इसकी सेवा की भावना उत्पन्न होनी चाहिए।

जहां-जहां हिन्दुस्तानी मातृभाषा के रूप में बोली जाती है, वहां विद्यार्थी और अध्यापक दोनों को दोनों लिपियों को सीखना पड़ेगा, जिससे वे उर्दू और हिन्दी दोनों में लिखी पुस्तकें पढ़ सकें। जो हिन्दुस्तानी-भाषी-क्षेत्र नहीं हैं, जहां, वहां की प्रान्तीय भाषा मातृभाषा है, उन क्षेत्रों के स्कूलों के पांचवें और छठे वर्ष

में हिन्दुस्तानी का अध्ययन आवश्यक होगा, लेकिन बच्चे दोनों लिपियों में से किसी एक लिपि को सीखने के लिए स्वतन्त्र होंगे। दोनों लिपियों को सीखना आवश्यक नहीं होगा। जहां तक अध्यापकों का सवाल है, चूंकि उन्हें दोनों तरह के बच्चों को पढ़ाना है, इसलिए उनसे तवक्को है कि वे दोनों लिपियों का ज्ञान हासिल करें। प्रत्येक पब्लिक स्कूल को चाहिए कि वह दोनों लिपियों को सिखाने का समुचित प्रबन्ध करे।

'वर्धा एजूकेशन कमेटी' की रिपोर्ट प्राइमरी शिक्षा के क्षेत्र में एक ठोस रचनात्मक क़दम था। व्यवहार में भी इसे लाने की कोशिश की गई थी। कारण यह था कि 1937 के जनवरी-फरवरी में सम्पन्न होने वाले प्रान्तीय असेम्बली के चुनावों के बाद जुलाई में बिहार, उड़ीसा सेण्ट्रल प्राविंस, संयुक्त प्रान्त, बम्बई तथा मद्रास में कांग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ, और उसने मंत्रिमंडल बनाया। लेकिन कांग्रेस मंत्रिमंडल सवा दो साल तक ही रह सके। कांग्रेस ने 22-23 अक्टूबर 1939 को सभी कांग्रेस मंत्रिमंडलों को त्यागपत्र देने को कहा और 31 अक्टूबर तक सभी कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिया। सुधार से संबंधित अनेक क़दमों के साथ ही 'वर्धा एजूकेशन कमेटी' की रिपोर्ट को भी व्यवहार में उतारने का काम रुक गया। अंग्रेज़ी सरकार ऐसी कोई योजना लागू नहीं करना चाहती थी, जिससे यहां के लोगों में स्वावलम्बन की भावना पैदा होती हो। और फिर इसके बाद तो हिन्दू-मुस्लिम संबंधों में बहुत अधिक कटुता आ गयी। 1940 के मार्च महीने में कांग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग की और इसी वर्ष मुस्लिम लीग ने लाहौर सत्र में पाकिस्तान सम्बन्धी प्रस्ताव पारित किया। कुल मिलाकर स्थिति भयावह होती गयी।

1936-37 में ही एबट-वुड रिपोर्ट भी प्रकाश में आयी। इस रिपोर्ट की सिफ़ारिशों में चौथी सिफ़ारिश यह थी कि जहां तक सम्भव हो हाई-स्कूल स्तर तक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा को बनाया जाय, लेकिन इस स्तर तक सभी विद्यार्थियों के लिए अंग्रेज़ी को आवश्यक बनाया जाय। साथ ही अंग्रेज़ी की शिक्षा को और अधिक वास्तविक रूप दिया जाय।

1944 में एक और रिपोर्ट प्रकाशित हुई—सरजेण्ट रिपोर्ट। इसे विश्वयुद्ध के बाद हुए शैक्षिक विकास पर एक विस्तृत रिपोर्ट का नाम दिया गया। इसे केन्द्रीय सलाहकार (एडवायज़री) शिक्षा-बोर्ड की रिपोर्ट कहा गया है। जान सरजेण्ट भारत सरकार के शिक्षा सलाहकार थे। बेसिक शिक्षा पर केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड की दो कमेटियों ने जो सिफ़ारिशें कीं, उनमें पहली कमेटी की चौथी सिफ़ारिश यह थी कि विद्यार्थियों के लिए शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए। उसकी पांचवीं सिफ़ारिश यह थी कि हिन्दुस्तान के लिए एक समान भाषा (कॉमन-लैंग्वेज) अपेक्षित है, और वह समान भाषा हिन्दुस्तानी होगी, जो

उर्दू और हिन्दी दोनों लिपियों के साथ रहेगी। बच्चों को लिपि के चयन का विकल्प देना होगा। और ऐसा विधान होना चाहिए कि चयन की गई लिपि में बच्चे को शिक्षा मिले। प्रत्येक अध्यापक को उर्दू और हिन्दी दोनों लिपियों की जानकारी होनी चाहिए। कमेटी के कुछ सदस्यों ने यह सुझाव रखा कि यदि रोमन लिपि को अपना लिया जाय तो भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयों का हल मिल सकता है तथा विद्वानों और अध्यापकों का काम इससे काफी कम हो जाता है।

इन दोनों रिपोर्टों में भी मातृभाषा में शिक्षा देने के विचार की रस्म को दोहराया गया है। सरजेण्ट रिपोर्ट में 'हिन्दुस्तानी' को समान-भाषा के बतौर अपनाने की बात वर्धा रिपोर्ट के वजन पर है। हिन्दुस्तानी का उल्लेख यहां इसलिए किया गया है कि कांग्रेस की घोषित नीतियों में एक यह भी थी कि कांग्रेस 'हिन्दुस्तानी' को इस देश की जनभाषा (लिंगुआ फान्का) के रूप में मान्यता देती है। 1942 में 8 अगस्त को कांग्रेस ने हिन्दुस्तान से ब्रिटिश राज के ख़ात्मे की मांग की और इसके लिए जन-संघर्ष की शुरूआत हुई। इन सब आंदोलनों से निश्चय ही भारत सरकार के शिक्षा सलाहकार जॉन सरजेण्ट अप्रभावित नहीं रहे होंगे। हालांकि इसके साथ यह बात भी है कि '44 के एक साल पहले 1943 में मुस्लिम बहुल प्रान्तों पर मुस्लिम लीग का कब्ज़ा हो गया था। और कांग्रेस के रूबरू मुस्लिम लीग पूरी तौर पर खड़ी हो गयी थी। दोनों ने अपनी तलवारें निकाल ली थीं। ब्रिटिश राज अपनी कूटनीतिक चालों की सफ़लता पर प्रसन्न था। लेकिन उसकी प्रसन्नता में भी ग्रहण लगा हुआ था। 1945 में होने वाला ब्रिटेन का आम चुनाव करीब आता जा रहा था और विंस्टन चर्चिल के प्रधान मंत्रित्व में शासन चला रही कंजर्वेटिव पार्टी की स्थिति बहुत मज़बूत नहीं थी। चर्चिल हिन्दुस्तान को हमेशा हिकारत की दृष्टि से देखता रहा। कंजर्वेटिव पार्टी के लिए हिन्दुस्तान गले की हड्डी बना हुआ था। क्योंकि लेबर पार्टी हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता की पक्षधर थी, और 1945 के ब्रिटिश आम चुनाव में हिन्दुस्तान एक प्रमुख मुद्दा बनने वाला था। ये सारी स्थितियां थीं, जो भारत सरकार को हर क़दम पर विशेष सावधानी बरतने की ओर निर्देशित करती थीं।

पर इस रिपोर्ट में रोमन लिपि को अपनाने की सिफ़ारिश भी कुछ सदस्यों ने की है। इसकी क्या वजह हो सकती है? इसकी एक वजह तो यह है कि उर्दू और नागरी लिपियों के प्रबल समर्थक जो एक-दूसरे की लिपि को अपनाने के सख़्त विरोधी थे, रोमन को विकल्प के तौर पर अपनाने के लिए राज़ी हो सकते थे। और अगर ऐसा होता तो न केवल वर्तमान साहित्य का अंग्रेज़ीकरण होता वरन् धीरे-धीरे पुरानी पोथियों को भी रोमन जामा पहनाने के लिए सरकारी अनुदान मुहैया कराया जाता। दूसरी वजह यह थी कि देश में एक वर्ग इस तरह का तैयार हो चुका था, और तो और कांग्रेस में भी था, जो नागरी-फ़ारसी

लिपियों के झमेले से रोमन को तरजीह दे रहा था। यह वह वर्ग था, जो अंग्रेज़ी-संस्कृति का उत्पाद था, और जिसे रोमन लिपि को अपना लेने में कोई ऐतराज़ की बात दिखाई नहीं देती थी।

जब कि उन्नीसवीं शताब्दी से ही अनेक प्रसिद्ध विद्वान जिनमें यूरोपीय विद्वानों की संख्या कोई कम नहीं है, देवनागरी लिपि को संसार की सबसे सुलझी हुई और वैज्ञानिक लिपि बताते आ रहे थे। मोनियर विलियम इसे सर्वोत्कृष्ट बताते हैं—"सच तो यह है कि संस्कृत-लिपि (अर्थात् देवनागरी लिपि) जितनी अच्छी है, उतनी अच्छी और कोई लिपि नहीं है। मेरा तो यह मत है कि संस्कृत लिपि मनुष्यों की उत्पन्न की हुई नहीं है, किन्तु देवताओं की उत्पन्न की हुई है।"

एक-दूसरे विद्वान बेडन की दृष्टि में "संस्कृत-लिपि की सरलता और शुद्धता सबको स्वीकार करनी पड़ेगी। संसार में संस्कृत के समान शुद्ध और स्पष्ट लिपि दूसरी नहीं है।"

बम्बई हाई कोर्ट के चीफ़ जस्टिस रहे सर अस्किन पेरी ने 'नोटस टु ओरियंटल केसेज़' में यह लिखा है कि "इस एक ही बात से संस्कृत-लिपि की सर्वांग पूर्णता सिद्ध होती है कि उसमें प्रत्येक शब्द का उच्चारण केवल अक्षर देखकर होता है। वर्ण परिचय होते ही हिन्दुस्तान के लड़के बिना रुके कोई भी पुस्तक पढ़ सकते हैं। उनको चाहे विषय का ज्ञान न हो, परन्तु पढ़ने में उनको कोई कठिनाई नहीं होती। यूरोप में पुस्तकों को साधारण रीति पर पढ़ने के लिए लड़कों को दो वर्ष लगते हैं, परन्तु इस देश में जहां संस्कृत लिपि का प्रचार है, तीन ही महीने में लड़के पुस्तकें पढ़ने लगते हैं।"

मुसलमान विद्वान शमसुल्उलमा सैयद अली विलग्रामी का मानना है कि "फ़ारसी लिपि की कठिनता ही के कारण मुसलमानों में विद्या का कम प्रचार है। फ़ारसी लिपि शुद्ध भी नहीं है और देखने में भी अच्छी नहीं है। फ़ारसी अक्षरों में थोड़ा बहुत लिखना-पढ़ना आने में दो वर्ष लग जाते हैं। परन्तु देवनागरी लिपि में हिन्दी लिखने-पढ़ने के लिए तीन महीने बस हैं।"

वैसे देवनगरी लिपि की वैज्ञानिकता को सिद्ध करने के लिए विद्वानों के कथनों की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए, क्योंकि लिपि की वैज्ञानिकता और सरलता आदि जो भी उसके गुण हैं, वे उसे प्रयोग में लाने वालों के लिए सहज ही स्पष्ट होते हैं, इसलिए उसकी स्पष्टता या ध्वनिक-लिपि होने को बताने के लिए ढिंढोरा पीटने की क़तई ज़रूरत नहीं है, पर अपने देश में जो इलीट वर्ग रहा है, वह अंग्रेज़ विद्वानों के श्रीमुख से निकले वचनों को स्वयं विषय से भी अधिक प्रामाणिक मानता रहा है। ये दो-चार उद्धरण उन्हीं की सेवा में प्रस्तुत किये गये हैं; वरना संसार की लिपियों की थोड़ी भी जानकारी रखने वाला

देवनागरी की सुबोधता और उसके ध्वनिक-लिपि होने के गुण को बखूबी जानता है।

मैकाले हिन्दुस्तान में जब अंग्रेज़ी शिक्षा को लागू करने की ज़ोरदार वकालत कर रहा था, और अपने तर्कों से लार्ड विलियम बेंटिक को प्रभावित कर रहा था, तो उस वक़्त किसी को सपने में भी इस बात का अहसास नहीं था कि अंग्रेज़ी शिक्षा ही अन्तत: ब्रिटिश साम्राज्य की समाप्ति का कारण बनेगी। मैकाले का तर्क था कि भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रसार करके हम न केवल सरकारी नौकर प्राप्त कर पाएंगे, वरन् एक ऐसे वर्ग को भी जन्म देंगे, जो अंग्रेज़ी के माध्यम से अंग्रेज़ों का पिछलग्गू बनेगा और खान-पान, रहन-सहन में अंग्रेज़ों की नकल करते-करते अन्तत: क्रिश्चियन धर्म को स्वीकार करेगा। समय के साथ ऐसे वर्ग का विस्तार होगा। और भारतीय काले अंग्रेज़ में बदल जाएंगे। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति उनमें कोई विरोध का भाव नहीं होगा।

अंग्रेज़ी-शिक्षा ने हिन्दुस्तान में मध्य वर्ग को पैदा किया। पढ़ा-लिखा मध्य-वर्ग। इसी पढ़े-लिखे मध्य-वर्ग में सबसे पहले राष्ट्रीयता की भावना को विस्तार मिला। अंग्रेज़ी भाषा के ज्ञान से अंग्रेज़ी रहन-सहन के साथ अंग्रेज़ों की राष्ट्रभक्ति भी उनके सामने आयी। यह अहसास भी उन्हें हुआ कि वे गुलाम हैं, और गुलामी की ज़िन्दगी नारकीय है। ये चीज़ें एक नयी रोशनी में उनके सामने प्रकट हुईं। यही कारण है कि राष्ट्रीयता की भावना को फैलाने वाला और धीरे-धीरे भारतीय नेशनल कांग्रेस के माध्यम से स्वाधीनता की आवाज़ को उठाने वाला यही मध्य-वर्ग था। मध्य-वर्ग ही वह वर्ग था जो अंग्रेज़ों की कूटनीति को अच्छी तरह पहचानता था। मैकाले की सोची हुई योजना यहां सफल नहीं हुई थी। जहां तक अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों का क्रिश्चियन धर्म को अंगीकार करने की धारणा का सवाल है, वहां भी मैकाले की दूरदर्शिता कुंठित हो गयी। उसका कारण यह था कि हिन्दुस्तान में प्रचलित धर्मों की जड़ें बहुत गहराई में उतरी हुई हैं। हिन्दुस्तान के दो प्रमुख धर्म, हिन्दू और इस्लाम—प्राचीन धर्म हैं। हिन्दू धर्म तो ईसा के सैकड़ों वर्ष पूर्व से चला आ रहा है। और तो और, इसकी काफी बाद की शाखाएं—बौद्ध और जैन—भी ईसा से शताब्दियों पहले की हैं। हिन्दू धर्म दुनिया का प्राचीनतम धर्म ही नहीं है; वरन् उसकी खूबियां भी विलक्षण हैं। वह हर तरह से आनन्दमय जीवन बिताने में हमारा सहायक होता है, साथ-साथ चलता है। हिन्दुस्तान की बहु-संख्या हिन्दू है। मैकाले को दरअस्ल हिन्दू धर्म की बारीकियों की जानकारी नगण्य थी। अगर उसे थोड़ी बहुत भी जानकारी होती तो वह ऐसा कभी न कहता कि पूरे संस्कृत और अरबी के गौरव-ग्रन्थ यूरोपीय साहित्य के एक शेल्फ़ की बराबरी भी नहीं कर सकते। उसका यह कथन भारतीय और अरबी के

गौरव-ग्रन्थों की शून्य जानकारी को दर्शाने के साथ-साथ उसके ब्रिटिश दम्भ की पोल को भी खोलता है। अंग्रेज़ों ने अपने पूरे शासन-काल में इस बात की हमेशा सायास कोशिश की और उसे हर क़ीमत पर और हर मौक़े पर प्रदर्शित किया कि अंग्रेज़ क़ौम भारतीयों से हर तरह से उच्च और कुलीन है, और कि अंग्रेज़ी नस्ल शासन करने के लिए ही बनी है। हर हिन्दस्तानी के दिल-दिमाग़ पर इस धारणा को जबरन बिठाया गया। रियासतों के राजाओं, ताल्लुक़ेदारों और प्रान्तों के उच्च वर्ग के लोग और प्रोफेशनल्स में से अधिकांश ने तो उन्हें इसी रूप में मान भी लिया था। पर तो भी लोग क्रिश्चियन नहीं हुए। वजह वह थी कि हिन्दू धर्म कोई ऊपर से ओढ़ा हुआ धर्म नहीं था, वह हिन्दुओं की जीवन-प्रक्रिया ही का नाम है। इस्लाम के मानने वाले भी क्रिश्चियन नहीं हुए, क्योंकि इस्लाम धर्म की मान्यताएं बंधित व्यवस्था को अपनाये हुए हैं। मैकाले का भविष्य-सोच इसीलिए ग़लत साबित हुआ था। पर मैकाले की पूरी स्कीम का यह पहलू ज़रूर कारगर साबित हुआ कि अंग्रेज़ी शिक्षा के परिणामस्वरूप भारतीयों ने अंग्रेज़ी भाषा की गुलामी को अपना लिया। यह कितनी परस्पर-विरोधी अवधारणा है कि अंग्रेज़ी पढ़कर भारतीयों ने ब्रिटिश राज की ख़िलाफ़त की टेकनीक को समझा और अपनाया, और स्वाधीनता के नारे को बुलंद किया, पर अंग्रेज़ी भाषा की मानसिक गुलामी को उसने बिना किसी गुरेज़ के अपना लिया। यह एक पैराडाक्स है। और स्वतन्त्र होने के तैंतालीस साल बाद आज हम उस मानसिक ग़ुलामी की गिरफ़्त में अपने को और उलझाते जा रहे हैं।

1857 के पहले यहां के निवासियों को क्रिश्चियन बनाने की मुहिम बहुत तेज़ थी। बहुत से छंटे हुए मिशनरी इस काम में लगे हुए थे। तरह-तरह के लोभ देकर अंधाधुन्ध क्रिश्चियन बनाने का काम चल रहा था। अधिक गरीबी वाले इलाक़ों और अपेक्षाकृत दुरुह जगहों पर आर्थिक लाभ के वशीभूत कुछ लोग क्रिश्चियन बन रहे थे। 1857 की क्रान्ति के बाद इस मुहिम में ढिलाई लायी गई।

क्रान्ति के बाद अंग्रेज़ी सरकार यहां के सामाजिक सुधारों के प्रति भी उदासीन हो चली थी। क्रान्ति के कारणों का विश्लेषण करने पर उन्हें लगा कि उनका टिकना भी तभी सम्भव हो सकता है, जब वे यहां की पुरानी मान्यताओं और राजे-रजवाड़ों को उसी स्थिति में रहने दें, जैसे वे पहले से चले आ रहे हैं। यही वजह है कि क्रान्ति के बाद ब्रिटिश साम्राज्य की प्रत्यक्ष अधीनता में देशी रियासतों का विलय—जिसे डलहौजी ने पूरे जोर-शोर से चला रखा था—बंद कर दिया गया और रियासतों के राजाओं, ताल्लुक़ेदारों से सुलह-सफाई से काम लेने की नींति का अनुसरण किया गया। रायल घोषणा (रायल प्रोक्लेमेशन्स)

1858-1919, सं० 1 द्वारा महारानी विक्टोरिया ने यह आश्वासन दिया कि ब्रिटिश साम्राज्य की सीधी अधीनता में जो क्षेत्र वर्तमान समय में हैं, उनके अलावा उसका और विस्तार नहीं किया जाएगा।

संदर्भ

1. मैकाले योजना
2. 'अ सिंगल शेल्फ ऑफ़ ए गुड यूरोपियन लिटरेचर वाज वर्थ दि होल नेटिव लिटरेचर ऑफ़ इंडिया एण्ड अरेबिया'।
3. मैकाले के मिनिट-1835, 7 मार्च 1835 का रेजोल्यूशन।
4. शार्प, एच०, सलेक्शन्स फ्राम एजुकेशनल रेकार्ड्स, भाग-1, 1781-1839, कलकत्ता, 1920, पृ० 110
5. वही, पृ० 190।
6. रामविलास शर्मा, भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद, खण्ड एक, दिल्ली-1982, पृ० 63-66 से उद्धृत।
7. ताराचंद, हिस्ट्री ऑफ़ दि फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया, भाग-2, 1983, पृ० 198।
8. वही, पृ० 199।
9. वही, पृ० 203।
10. वही, पृ० 206।
11. दि फ्रेंड ऑफ़ इंडिया, 7 फ़रवरी 1861, पृ० 144, ताराचंद, पृ० 209 से उद्धृत।

गौरव-ग्रन्थों की शून्य जानकारी को दर्शाने के साथ-साथ उसके ब्रिटिश दम्भ की पोल को भी खोलता है। अंग्रेज़ों ने अपने पूरे शासन-काल में इस बात की हमेशा सायास कोशिश की और उसे हर क़ीमत पर और हर मौक़े पर प्रदर्शित किया कि अंग्रेज़ क़ौम भारतीयों से हर तरह से उच्च और कुलीन है, और कि अंग्रेज़ी नस्ल शासन करने के लिए ही बनी है। हर हिन्दस्तानी के दिल-दिमाग़ पर इस धारणा को जबरन बिठाया गया। रियासतों के राजाओं, ताल्लुक़ेदारों और प्रान्तों के उच्च वर्ग के लोग और प्रोफेशनल्स में से अधिकांश ने तो उन्हें इसी रूप में मान भी लिया था। पर तो भी लोग क्रिश्चियन नहीं हुए। वजह वह थी कि हिन्दू धर्म कोई ऊपर से ओढ़ा हुआ धर्म नहीं था, वह हिन्दुओं की जीवन-प्रक्रिया ही का नाम है। इस्लाम के मानने वाले भी क्रिश्चियन नहीं हुए, क्योंकि इस्लाम धर्म की मान्यताएं बंधित व्यवस्था को अपनाये हुए हैं। मैकाले का भविष्य-सोच इसीलिए ग़लत साबित हुआ था। पर मैकाले की पूरी स्कीम का यह पहलू ज़रूर कारगर साबित हुआ कि अंग्रेज़ी शिक्षा के परिणामस्वरूप भारतीयों ने अंग्रेज़ी भाषा की गुलामी को अपना लिया। यह कितनी परस्पर-विरोधी अवधारणा है कि अंग्रेज़ी पढ़कर भारतीयों ने ब्रिटिश राज की ख़िलाफ़त की टेकनीक को समझा और अपनाया, और स्वाधीनता के नारे को बुलंद किया, पर अंग्रेज़ी भाषा की मानसिक गुलामी को उसने बिना किसी गुरेज़ के अपना लिया। यह एक पैराडाक्स है। और स्वतन्त्र होने के तैंतालीस साल बाद आज हम उस मानसिक ग़ुलामी की गिरफ़्त में अपने को और उलझाते जा रहे हैं।

1857 के पहले यहां के निवासियों को क्रिश्चियन बनाने की मुहिम बहुत तेज़ थी। बहुत से छंटे हुए मिशनरी इस काम में लगे हुए थे। तरह-तरह के लोभ देकर अंधाधुन्ध क्रिश्चियन बनाने का काम चल रहा था। अधिक गरीबी वाले इलाक़ों और अपेक्षाकृत दुरुह जगहों पर आर्थिक लाभ के वशीभूत कुछ लोग क्रिश्चियन बन रहे थे। 1857 की क्रान्ति के बाद इस मुहिम में ढिलाई लायी गई।

क्रान्ति के बाद अंग्रेज़ी सरकार यहां के सामाजिक सुधारों के प्रति भी उदासीन हो चली थी। क्रान्ति के कारणों का विश्लेषण करने पर उन्हें लगा कि उनका टिकना भी तभी सम्भव हो सकता है, जब वे यहां की पुरानी मान्यताओं और राजे-रजवाड़ों को उसी स्थिति में रहने दें, जैसे वे पहले से चले आ रहे हैं। यही वजह है कि क्रान्ति के बाद ब्रिटिश साम्राज्य की प्रत्यक्ष अधीनता में देशी रियासतों का विलय—जिसे डलहौजी ने पूरे जोर-शोर से चला रखा था—बंद कर दिया गया और रियासतों के राजाओं, ताल्लुक़ेदारों से सुलह-सफाई से काम लेने की नींति का अनुसरण किया गया। रायल घोषणा (रायल प्रोक्लेमेशन्स)

1858-1919, सं० 1 द्वारा महारानी विक्टोरिया ने यह आश्वासन दिया कि ब्रिटिश साम्राज्य की सीधी अधीनता में जो क्षेत्र वर्तमान समय में हैं, उनके अलावा उसका और विस्तार नहीं किया जाएगा।

संदर्भ

1. मैकाले योजना
2. 'अ सिंगल शेल्फ ऑफ़ ए गुड यूरोपियन लिटरेचर वाज वर्थ दि होल नेटिव लिटरेचर ऑफ़ इंडिया एण्ड अरेबिया'।
3. मैकाले के मिनिट-1835, 7 मार्च 1835 का रेजोल्यूशन।
4. शार्प, एच०, सलेक्शन्स फ्राम एजुकेशनल रेकार्ड्स, भाग-1, 1781-1839, कलकत्ता, 1920, पृ० 110
5. वही, पृ० 190।
6. रामविलास शर्मा, भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद, खण्ड एक, दिल्ली-1982, पृ० 63-66 से उद्धृत।
7. ताराचंद, हिस्ट्री ऑफ़ दि फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया, भाग-2, 1983, पृ० 198।
8. वही, पृ० 199।
9. वही, पृ० 203।
10. वही, पृ० 206।
11. दि फ्रेंड ऑफ़ इंडिया, 7 फ़रवरी 1861, पृ० 144, ताराचंद, पृ० 209 से उद्धृत।

4

1857-1900

हिन्दू-मुस्लिम विरोध और अंग्रेज़ों की भूमिका

अधिकतर अंग्रेज़ हिन्दुस्तानियों को किस निगाह से देखते थे, इसके पूरे तारीख़ी-दस्तावेज को अगर देखा जाए, तो इसमें सन्देह नहीं रहता कि अंग्रेज़ों की निगाह में हिन्दुस्तानी जंगली पशुओं से थोड़े ही ऊंचे स्थान के हक़दार थे। 'दि फ्रेंड आॅफ़ इंडिया' पत्रिका, जो सामान्यतया पक्षपात-रहित अखबार समझा जाता था, ने 8 सितम्बर 1858 के अपने अंक में लिखा—"ये (भारतीय) जंगली जानवरों से नाममात्र को ही बेहतर कहे जा सकते हैं और इन पर शासन करने का एक ही तरीका है कि कम्पनी पितृ-तुल्य देख-रेख और बर्ताव की पद्धति छोड़कर आगे से लोहे के डंडे से इन पर शासन करे।" इसी अखबार ने 15 सितम्बर 1859 के अंक में लिखा : "क्रिश्चियन और मूर्तिपूजक, सैक्सन और एशियाटिक, प्रकाश और अंधकार कैसे एक साथ रह सकते हैं।"

लार्ड लिटन ने फुलर मुक़दमे के विषय में सेक्रेटरी आॅफ़ स्टेट को लिखते हुए अंग्रेज़ी न्याय को स्वयं ही पक्षपातपूर्ण बताया। उन्होंने सेक्रेटरी आॅफ़ स्टेट को सूचित किया कि "फुलर पर, हाईकोर्ट की स्वीकृति के साथ, अपने साईस को क़त्ल करने के इलज़ाम में तीस रु० का जुर्माना हुआ। दूसरे दिन चार आने की चोरी करने पर एक हिन्दुस्तानी को आजन्म कारावास की सजा सुनाई गई"।[1]

उन दिनों के अख़बार और दूसरी पत्रिकाएं अंग्रेज़ों के अत्याचार और भारतीयों के अपमान की कहानियों से भरे पड़े हैं। ब्रिटिश-प्रेस आंख मूंदकर अंग्रेज़ अत्याचारियों का साथ देता था। कहने का मक़सद यह है कि हिन्दुस्तान को लूटने, नोंचने, खसोटने और ज़लील करने का महाभोज चल रहा था। हर गोरी चमड़ी का आदमी उसमें शरीक था। शासन अपने स्तर पर और व्यक्ति

अपनी तरह से। ये अत्याचार और शोषण थे, जिन्होंने हर भारतीय के मन में इस फंदे से किसी तरह बाहर निकलने की अकुलाहट भर दी थी।

1857 में जब आज़ादी की पहली लड़ाई का बिगुल बजा था, उस वक़्त हिन्दू और मुसलमान दोनों ने कंधे से कंधा मिलाकर यह लड़ाई लड़ी थी। मेटकाफ़ के अनुसार कानपुर में नाना साहेब के साथ 58000 लोग थे, जिनमें 20000 सिपाही थे। खान बहादुर खान ने कई हज़ार राजपूतों और रोहिल्लों की बागडोर संभाली थी। गोरखपुर के नाज़िम मुहम्मद हसन खान के साथ 12000 लोग थे, जिनमें आधे सिपाही थे। गोरखपुर डिवीजन में सरकार की ख़िलाफ़त के लिए तराई के जंगलों से 51000 लोग थे और दिल्ली में 40000 से 60000 लोग आज़ादी के लिए मैदान में कूद पड़े थे। 10 मई 1857 को बहादुरशाह जफ़र ने एक बार फिर अपने को बादशाह घोषित किया। फर्रूखाबाद में सिपाहियों ने नवाब तफ़ज्जुल हुसेन खान को अपना शासक स्वीकार किया। कानपुर में नाना साहब के प्रमुख सलाहकार अजीमुल्लाह थे। इलाहाबाद में एक स्कूल मास्टर मौलवी लियाकत अली को नेता चुना गया। लखनऊ में नवाब वाजिद अली शाह के कैद किये जाने पर उनके ग्यारह साल के पुत्र बिरजिस कद्र को बेग़म हज़रतमहल की रीजेन्सी में वाजिद अली शाह का वली क़रार किया गया। पर सभी नेताओं के आपसी सहयोग के अभाव में वह लड़ाई जीती नहीं जा सकी। रानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब और तात्या टोपे के होते हुए भी उचित रणनीति, व्यवस्था और कोष के अभाव के कारण मात होती गयी।

1857 की लड़ाई के बाद से लेकर मेय्गो के समय तक अंग्रेज़ों की नीति हिन्दुओं के पक्ष में थी। मुसलमानों को वे अपने दुश्मन के रूप में देख रहे थे। उन्हें क्रान्ति में मुसलमानों की भूमिका अधिक दिखाई दे रही थी। 1857 की क्रान्ति पर लिखते हुए सर अल्फ्रेड लायल ने लिखा है कि "1857 की क्रान्ति के बाद अंग्रेज़ों ने मुसलमानों को अपना असली शत्रु और सबसे ख़तरनाक प्रति-द्वन्द्वी मान लिया था, इसलिए क्रान्ति की असफलता के बाद हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों पर अधिक जुल्म किये गये।"

लेकिन इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि अंग्रेज़ों ने जिन राजाओं और नवाबों से सत्ता हासिल की उसमें ज़तादातर मुसलमान ही थे। आखिर अंग्रेज़ों के पहले यहां ज़्यादातर मुसलमान शासक ही राज्य कर रहे थे। अधिक संघर्ष इन्हें उन्हीं से करना पड़ा। इसलिए उनकी कूटनीतिक चाल यह थी कि हिन्दुओं को जो कि बहुसंख्यक थे, अपनी ओर किया जाये। इसीलिए शुरू में हिन्दुओं को आगे बढ़ाकर अंग्रेज़ों ने उनका पक्ष लिया। 1852 से 1862 के बीच हाईकोर्ट के प्लीडर के रूप में 240 भारतीयों को प्रवेश दिया गया। इसमें मुस्लिम प्लीडर

की संख्या केवल एक थी। 1871 में 2141 सरकारी कर्मचारियों में मुस्लिम कर्मचारियों की संख्या 92 थी और हिन्दू कर्मचारियों की संख्या 711 थी। इस तरह के बहुत से उदाहरण हैं जिनसे हिन्दुओं की ओर झुकाव और पक्षधरता साबित होती है। 1870 तक यही हाल रहा। 1871 का समय वह समय था, जबकि अंग्रेज़ों की नीतियों में परिवर्तन हो रहा था और अंग्रेज़ मुस्लिम समुदाय की ओर अपना झुकाव प्रकट करने लगे थे। तब तक सैयद अहमद खां को अंग्रेज़ अपने प्रभाव में ले चुके थे।

दरअसल हिन्दू धर्म और संस्कृति की परम्परा कुछ ऐसी थी कि वे अंग्रेज़ों के साथ घुल-मिल नहीं सकते थे। एक अदना हिन्दू कर्मचारी भी अपने बड़े अंग्रेज़ अफ़सर से कहीं-न-कहीं मन में अपने को उच्च संस्कार वाला समझता था। राजा और ताल्लुक़ेदार को भी अंग्रेज़ों के साथ घुलने-मिलने में हिचक रहती थी। इसके पहले कई सौ वर्षों तक के मुस्लिम शासन में भी वे मुसलमानों से खान-पान, रहन-सहन जैसे मामलों में घुल-मिल नहीं सके थे। हां, अंग्रेज़ों के ठीक से पैर जमा लेने के बाद थोड़ा बहुत फ़र्क़ ज़रूर पड़ा था। फ़र्क़ इसलिए पड़ा था कि अंग्रेज़ों के साथ पश्चिमी विज्ञान की उपलब्धियां भी आयीं और आधुनिकता की रोशनी भी, जिसका उजाला भारतीय मानस को लुभावना लगा और समाज का उच्च वर्ग उधर खिंचा। पर बहुत बड़े पैमाने पर लोग पश्चिमी रंग में रंग गये हों, ऐसा कुछ नहीं हुआ। अंग्रेज़ों ने धीरे-धीरे अपनी नीति में परिवर्तन किया, उन्हें लगा कि मुसलमान रीति-रिवाज, खान-पान में उनके अधिक नज़दीक बैठते हैं। सैयद अहमद खां और अमीर अली जैसे मुस्लिम नेता, जिन पर मुस्लिम जनता जान छिड़कती थी, सदा उनके मुंह जोहा करते थे। नतीज़तन अंग्रेज़ी कूटनीति में परिवर्तन आया और यह परिवर्तन मुसलमानों के पक्ष में गया। अंग्रेज़ों ने यह भी ख़ास तौर पर ख़याल रखा था कि हिन्दू-मुस्लिम समुदायों में कभी एका न होने पाये।

अंग्रेज़ी सत्ता की अगर कोई नीति हमेशा क़ायम रही तो वह यही थी कि हिन्दुओं और मुसलमानों को विभाजित रखा जाये। वे जानते थे कि दोनों समुदायों में भेद उत्पन्न किये बग़ैर वे अपनी सत्ता को चिरस्थायी नहीं बना पायेंगे। सर चार्ल्स वुड, जो भारतीय मामलों के सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट थे, ने वायसराय लार्ड एलगिन (1862-63) को एक ख़त में लिखा कि "हम हिन्दुओं और मुसलमानों को एक-दूसरे से लड़ाकर अब तक सत्ता बनाये हुए हैं, हमें इसी नीति पर चलते रहना चाहिए...। आपको सतत इस बात का प्रयास करते रहना चाहिए कि (हिन्दू और मुसलमान दोनों क़ौमें) हमारे ख़िलाफ़ एकजुट न होने पायें।"[2]

एक दूसरे पत्र में वुड एलगिन को लिखते हैं—"यदि सम्पूर्ण भारत हमारे ख़िलाफ़ संगठित हो गया तो कब तक हम अपने को बनाये रख सकेंगे।"[3] इसी पत्र में उन्होंने आगे लिखा है—"भारत में अपनी स्थिति को मज़बूत करने के किसी भी साधन को हम छोड़ नहीं सकते। (यहां की) क़ौमों (अर्थात् हिन्दू-मुस्लिम) का एक-दूसरे के प्रति स्वाभाविक विरोध हमारी शक्ति का एक महत्त्व-पूर्ण तत्त्व है।" एक अन्य पत्र में वुड ने एलगिन को लिखा कि "दोनों क़ौमों में भेद पैदा करने वाली स्पिरिट को बनाये रखना ज़रूरी है।"[4] क्रास ने डफ़रिन को लिखा कि "धार्मिक भावनाओं के इस विभाजन से बहुत बड़ी सुविधा मिली हुई है।"[5]

1857 में सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट जार्ज हैमिल्टन ने भी वायसराय लार्ड एलगिन II (1894-9) को हिन्दू-मुस्लिम एकता के ख़िलाफ़ काम करने का निर्देश दिया था।[6]

इस तरह के सैकड़ों उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि अंग्रेज़ शासक हर क़ीमत पर हिन्दुओं और मुसलमानों में वैमनस्य और वैरभाव को पैदा करने और बनाये रखने में प्रयत्नशील रहते थे।

मुस्लिम अवाम

यह सवाल दिमाग़ में उठ सकता है कि जब अरब तुर्क, अफ़गान और मुग़ल किसी-न-किसी तरह से आठवीं सदी की शुरुआत (711-13 ई० में अरबों ने सिंध और मुलतान को जीता) से ही हिन्दुस्तान के किसी-न-किसी हिस्से पर कब्ज़ा जमाये हुए थे, जिसमें बाद में कई सौ वर्षों तक मुग़लों ने पूरे हिन्दुस्तान पर ही शासन किया, तो क्या वजह है कि ब्रिटिश सत्ता के आरम्भिक काल में ही यह महसूस किया गया कि मुस्लिम समुदाय का एक बड़ा वर्ग अशिक्षित और नितान्त ग़रीबी की ज़िन्दगी जी रहा था। इसका सबसे बड़ा और अहम कारण यह समझ में आता है कि आक्रमणकारी विदेशी मुसलमानों ने यहां पैर जमाने के साथ ही हिन्दुओं को मौक़े के अनुसार डरा-धमकाकर या प्रलोभन-भ्रम में फंसाकर मुसलमान बनाना शुरू कर दिया था, जिसका असर उच्च वर्णों के हिन्दुओं पर तो अधिक नहीं पड़ा, पर निम्न जातियों के लोग मुसलमान बनते गये। और हुआ यह कि मुसलमान बन जाने पर भी शासक वर्ग या मुस्लिम देशों से आये मुसलमान उन्हें अपना नहीं सके। वे उसी तरह उपेक्षित रहे। शताब्दियों तक यही हाल रहा, न तो उन्हें शिक्षित होने का मौक़ा मिला, न ही

कोई आर्थिक आधार हासिल हुआ। मुस्लिम कुलीन परिवारों की सियासत में उनकी वक़अत भेड़ों से ज़्यादा नहीं थी। ब्रिटिश काल में भी कमोबेश यही तस्वीर थी।

1857 के पहले ही 1837 में अंग्रेज़ी ने फ़ारसी का स्थान ले लिया था। फ़ारसी के स्थान पर वह सरकारी काम-काज की भाषा बन गयी। इससे मुसलमानों को नुकसान यह हुआ कि फ़ारसी की वजह से जिन सरकारी नौकरियों पर उनका एकाधिपत्य था, वे हाथ से जाती रहीं। दूसरी ओर हिन्दुओं ने अंग्रेज़ी भाषा सीखने और उसमें काम-काज की दक्षता मुसलमानों की अपेक्षा जल्दी हासिल कर ली। मुसलमानों को एक भाषायी स्थिति से दूसरी स्थिति में अपने को ढालने में समय लगा और बाद तक भी वे अंग्रेज़ी सीखने में उतने उत्सुक नहीं हो पाये, बल्कि शिक्षा के प्रति ही उनमें उदासीनता रही; जबकि हिन्दुओं के लिए फ़ारसी भी विदेशी ज़बान थी और अंग्रेज़ी भी। हालात के परिवर्तन से उन्होंने तेज़ी से अंग्रेज़ी को पकड़ना शुरू किया और सरकारी नौकरियों में उनकी भर्ती अधिक होने लगी। मुसलमान इस प्रतियोगिता में पीछे छूट गये।

मुसलमान शुरू से ही अंग्रेज़ी शिक्षा के ख़िलाफ़ थे। लार्ड विलियम बेंटिक के 7 मार्च 1835 के अंग्रेज़ी शिक्षा सम्बन्धी आदेश, जिसके अनुसार शिक्षा सम्बन्धी सम्पूर्ण सरकारी अनुदान को केवल अंग्रेज़ी शिक्षा पर खर्च किये जाने का प्रावधान था, की ख़िलाफ़त करते हुए आठ हज़ार मुसलमानों के हस्ताक्षर के साथ एक याचिका विलियम बेंटिक के समक्ष प्रस्तुत की गई थी।[7] दरअसल मुसलमानों का यह ख़याल था कि अंग्रेज़ी शिक्षा से मुसलमान ईसाई धर्म के प्रभाव में आ जायेंगे और इस्लाम को हानि पहुंचेगी।

मद्रास के डायरेक्टर ऑफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन्स (डी० पी० आई०) ने 1871 में अपनी टिप्पणी[8] में कहा कि मुसलमान शिक्षा के प्रति बिलकुल ही उदासीन हैं। वे मदरसा-ए-आज़म और हैरिस स्कूल से कोई फ़ायदा नहीं उठा पाते। ये संस्थाएं मद्रास में केवल मुसलमानों के लिए खोली गयी थीं। इनके खोलने के तेरह-चौदह साल के दरम्यान केवल एक मुसलमान विद्यार्थी बी० ए० की डिग्री ले सका था।

1871 में बम्बई के डायरेक्टर ऑफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन्स ने लिखा कि विश्वविद्यालय स्नातकों की सूची में केवल एक मुसलमान एम० ए० तथा दो बी० ए० हैं।[9] मि० बुडरों ने यह भी कहा कि मुस्लिम लड़के उतने मेहनती नहीं होते, जितने हिन्दू लड़के। उनके सर्किल के अंग्रेज़ी स्कूलों में दिये जाने वाले 176 वज़ीफ़ों में से केवल एक वज़ीफ़ा मुसलमान विद्यार्थी को दिया जा सका। बंगाल के कुछ स्कूल इंस्पेक्टर्स ने यह लिखा कि मुसलमान लड़के हिन्दू लड़कों की अपेक्षा अधिक सुस्त हैं और उनके घरों का माहौल जो उनको प्रभावित करता है, वह भी

असंतोषजनक है।[10]

1861 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में बी० ए० की परीक्षा में 39 परीक्षार्थी बैठे, जिसमें से 13 उत्तीर्ण हुए। इन 13 उत्तीर्ण विद्यार्थियों में 11 हिन्दू थे, एक क्रिश्चियन था और एक मुसलमान।[11]

इससे यह ज़ाहिर होता है कि मुस्लिम उच्च वर्ग या मध्य वर्ग में उच्च शिक्षा, या यों कहिए कि अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रति जागरूकता नहीं आ पायी थी। मुसलमानों में अंग्रेज़ी शिक्षा को लाने और प्रचारित करने का सेहरा सैयद अहमद खां (1817-1898) के सिर बंधता है।

मुसलमानों के पिछड़ेपन में दूसरी बात यह हुई कि 1793 में कार्नवालिस ज़मीन के स्थायी बंदोबस्त (परमानेंट सेटलमेंट) के परिणामस्वरूप मुसलमान जमींदारों की अधिकांश ज़मीनें हाथ से निकल चुकी थीं। इसलिए उनकी आर्थिक अवस्था ऐसी नहीं थी कि वे अपने यहां मुसलमान कर्मचारियों को रख सकते। ज़ाहिर है कि पहले ज़मींदारों के यहां अनेक कर्मचारी कार्य करते रहे होंगे, जो कार्नवालिस की इस भू-व्यवस्था के कारण बेकार हो गए होंगे। दूसरी ओर इस भू-व्यवस्था से प्राप्त फालतू ज़मीन का नया स्वामित्व या पट्टा जनसंख्या में बहु-संख्य होने के कारण अधिकतर हिन्दुओं को मिला।

तीसरी बात यह हुई कि 1857 की क्रांति में वैसे तो हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों ने मिल-जुलकर भाग लिया, पर क्रांति के असफल हो जाने पर अंग्रेज़ों का कोपभाजन अधिकतर मुसलमानों को बनना पड़ा। क्रांति की अगुवाई करने के लिए अन्तिम मुगल सम्राट बहादुरशाह ज़फ़र को चुना गया। हालांकि यह अगुवाई सिर्फ प्रतीकात्मक थी, फिर भी लोगों को एक झंडे के नीचे खड़ा करने के लिए इसकी ज़रूरत थी। क्रांति के विफल हो जाने पर अंग्रेज़ों ने बदला तो सारे देश से लिया, पर मुसलमान इसके अधिक शिकार हुए। अंग्रेजों के मन में यह बात बैठ गई थी कि मुसलमानों ने अपने खोये हुए साम्राज्य को फिर से हासिल करने के लिए 1857 की क्रांति को बढ़ावा दिया था। परिणामतः अंग्रेज़ मुसलमानों को शक की नज़र से देखते थे। सैयद अहमद खां की लगातार कोशिशों के बाद ही कहीं जाकर मुसलमानों के प्रति अंग्रेज़ों की शक्की निगाहों में परिवर्तन आ सका था।

चौथी बात यह थी कि अंग्रेज़ों ने शुरू में मुस्लिम शासन के अत्याचारी चरित्र को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर लिखा और प्रचारित किया। साथ ही यह बताना भी वे नहीं भूले कि इस अत्याचारी शासन से अंग्रेज़ों ने इस देश को मुक्त किया है। इस देश की जनता को इसके लिए अंग्रेज़ों का शुक्रगुजार होना चाहिए। उन्होंने ऐसे योजनाबद्ध तरीके से काम किया कि हिन्दू-मूस्लिम एकता, जो सैकड़ों साल से एक सूत्र में बंधी थी, वैमनस्य में बदलने लगी। एक अविश्वास की भावना दोनों

क़ौमों में आपस में पैदा होनी शुरू हुई। ऐसा करने के पीछे ठोस कूटनीतिक कारण थे। अंग्रेज़ों के सम्मुख सम्भाव्य दुश्मन पदच्युत मुस्लिम शासक थे। जनता में उन पदच्युत शासकों के प्रति सहानुभूति का होना भी स्वाभाविक था। जनता की यह सहानुभूति ब्रिटिश शासन को स्थायी बनाने में बहुत बड़ा रोड़ा बन सकती थी। अंग्रेज़ों के लिए यह ज़रूरी था कि मुस्लिम शासक वर्ग के प्रति जनता की सहानुभूति को खत्म करें और अपनी ओर उसे मोड़ें। इसीलिए अपने आरम्भिक शासन-काल में अंग्रेज़ी सत्ता ने मुसलमानों के प्रति विरोध और विद्वेष के भाव को बढ़ावा दिया।

पूरे शासनकाल में अंग्रेज़ हिन्दू-मुस्लिम एकता को नष्ट करने में लगे रहे। पहले मुसलमानों के ख़िलाफ़ होकर और बाद के शासनकाल में उन्हें बढ़ावा देकर। जैसा कि ऊपर कहा गया, हिन्दुओं के प्रति अंग्रेज़ शुरू में नरम थे, उन्हें विभिन्न सरकारी नौकरियों में बढ़ावा दे रहे थे। मुसलमानों के प्रति उनमें घृणा का प्रचार कर रहे थे। लेकिन यह स्थिति बाद में बदल गयी। भारतीय नेशनल कांग्रेस में हिन्दू अधिसंख्यक थे। कांग्रेस की ओर से जब धीरे-धीरे अंग्रेज़ी सत्ता से जनता के लिए विभिन्न सुविधाओं की मांग आने लगी, तो अंग्रेज़ी शासन के कान खड़े हुए और उन्होंने मुसलमानों के प्रति झुकाव की नीति को और तेज कर दिया। मिंटो का मुसलमानों की मांगों को लेकर अत्यन्त नरम रुख अख़्तियार करना और उनकी अनेक मांगों को, जिनका कि उस वक़्त का कोई भी राजनीतिविद उम्मीद भी नहीं कर रहा था, मान लेना उसी झुकाव को ज़ाहिर करता है। यह इस बात का संकेत भी है कि वे मुसलमानों को उकसा रहे थे। बंगाल-विभाजन इसी तरह की एक दूसरी बड़ी कार्यवाही थी। ब्रिटिश प्रोत्साहन से मुस्लिम-लीग जिसने अन्ततः देश के दो टुकड़े करवा दिये, की स्थापना (1906 में) भी उनमें से एक है। 1885-86 से लेकर कुछ वर्षों तक का समय अंग्रेज़ी सत्ता-नीति के ख़याल से संक्रान्ति का समय है, जब अंग्रेज़ अपनी नीति का पहलू बदल रहे थे। मुसलमानों की ओर से निश्चिन्त हो रहे थे और हिन्दू मध्य वर्ग (जो अभी उभरा-उभरा ही था) से आशंकित हो रहे थे। कांग्रेस में नयी शक्ति स्फुरित हो रही थी। सैयद अहमद खां अंग्रेज़ों को मुस्लिम समर्थन से आश्वस्त कर चुके थे।

डॉ॰ ताराचंद[12] ने 1857 की क्रान्ति की विफलता की मुसलमानों में हुई प्रतिक्रिया को दो भागों में बांटा है—उनके हिसाब से पहली स्थिति यह थी कि मुसलमान अपने दुर्भाग्य को चुनौती के रूप में लेते और वे कमर कसकर अपनी गिरी हुई मानसिकता को उठाने की कोशिश करते, एक साफ़-सुथरे, ईश्वर-भीरू और पवित्र क़ुरान की शिक्षाओं पर आश्रित नये समाज की रचना करते। दूसरे धर्मों के अनुयायियों के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर देश को और खुद को आगे

ले जाने की कोशिश करते। दूसरी स्थिति यह होती कि स्वतंत्र होने की बात को हमेशा के लिए भुलाकर अंग्रेज़-शासकों की सेवा करके उनके कृपाभाजन बनने की कोशिश करते और म्यूनिसिपल काउंसिल या लेजिस्लेटिव काउंसिल की मेम्बरी लेकर प्रभावशाली बनने की कोशिश करते। इन दो विकल्पों में से पहले को उलमा ने अख़्तियार किया, जो पारम्परिक शिक्षा और आदर्शों में आस्था रखते थे और दूसरे को मुस्लिम नेताओं ने अपनाया—जिनकी शिक्षा-दीक्षा आधुनिक तरीकों के स्कूलों में हुई थी और जो नये ढंग से सोच रहे थे।

अंग्रेज़ आगमन के बाद मुसलमानों में धार्मिक विचारों और दूसरी बातों की दृष्टि से दो वर्ग बन गये। एक वर्ग तो परम्परावादी ही था, पर एक दूसरा वर्ग आधुनिकतावादी हो गया था। परम्परावादी तो अरबी-फ़ारसी मदरसों से शिक्षा लेकर निकले थे, आधुनिकतावादी पश्चिमी ढंग की शिक्षा-दीक्षा लेकर एक नये ढंग की ज़िन्दगी के प्रति आकृष्ट थे। फिर 1857 की क्रान्ति की विफलता से परम्परावादियों की लोकप्रियता को काफी धक्का लगा था। इससे इस्लाम के दुश्मन (अर्थात् अंग्रेज़) के प्रति मुस्लिम जनता के रवैये में परिवर्तन आया था। अंग्रेज़ी सरकार भी इस रवैये से फ़ायदा उठाना चाहती थी। इस काम में आधुनिकतावादी मुस्लिम नेता उनके द्वारा इस्तेमाल किये जा सकते थे। इन आधुनिकतावादी मुस्लिम नेताओं ने मुसलमानों के लिए सरकार से सुविधाओं की मांग की। सैयद अहमद खां इसी तरह के मुस्लिम नेता थे और एक लम्बे समय तक मुस्लिम राजनीति के केन्द्र में सरकारी नौकरियों और दूसरे सरकारी ओहदों और सुविधाओं को हासिल करने तक महदूद रहे।

देवबन्द मदरसा उन उलमा द्वारा स्थापित किया गया, जिन्होंने अंग्रेज़ों को इस्लाम के दुश्मन के रूप में देखा था और 1857 की क्रान्ति में सक्रिय रूप से हिस्सा लिया था। मदरसा के दो मुख्य उद्देश्य थे, पहला मुसलमानों में कुरान और हदीस की शिक्षा और दूसरा हिन्दुस्तान से विदेशी शासन के ख़िलाफ़ जिहाद की भावना को बनाये रखना। सैयद अहमद खां और देवबन्द एक-दूसरे के रूबरू खड़े थे। देवबन्द ने इंडियन नेशनल कांग्रेस की हिमायत की, सैयद अहमद ने कांग्रेस को हिन्दुओं का संगठन बताया और खुलकर उसकी भर्त्सना की। आखिर देवबन्द-उलमा को सैयद अहमद के संगठन 'पैट्रियाटिक एसोसिएशन' के ख़िलाफ़ फ़तवा देना पड़ा। कांग्रेस की ख़िलाफ़त करने के मक़सद से ही पैट्रियाटिक एसोसिएशन की स्थापना की गई थी। एसोसिएशन का मुख्य मक़सद अंग्रेज़ी-सत्ता की हर तरह से हिमायत करना था। सैयद अहमद की इस हरकत से मुसलमानों को फ़ायदा होने की बजाय नुक़सान की सम्भावना अधिक थी। सैयद अहमद मुसलमानों का तुरत-फुरत का फ़ायदा देख रहे थे, कि इस तरह से सरकार से मुसलमानों के लिए अधिक नौकरियां और दूसरी सहायता हासिल कर

लेंगे। पर इससे मुसलमान मुख्य धारा से कट जायेंगे, इसकी ओर सैयद अहमद का ध्यान नहीं था, या यों कहें कि इस ओर वे ध्यान देना ही नहीं चाहते थे। अंग्रेज़ यही चाहते थे। वे चाहते थे कि मुसलमान देश की मुख्य धारा से कटे रहें, हिन्दुओं से कभी उनका मेल-मिलाप न हो पाये। हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे के मुक़ाबिल खड़े हो जायें, तभी अंग्रेज़ी-सत्ता मजबूत हो सकेगी। मुसलमानों को गाहे-बगाहे छोटी-मोटी छूट या विशेष अधिकार देकर अपने इसी मक़सद को वे पूरा कर रहे थे। सैयद अहमद ने जब 'पैट्रियाटिक एसोसिएशन' की स्थापना की और कांग्रेस बायकाट का नारा दिया, तो मुस्लिम उलमा, जो हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक थे, ने उनके ख़िलाफ़ एक फ़तवा दिया जिसमें उनकी भर्त्सना की गई और हिन्दुओं के साथ सहयोग करने की मुसलमानों से अपील की गई। इस फ़तवे पर हिन्दुस्तान भर के लगभग एक हज़ार मौलवियों ने दस्तख़त किये, नुसरत-अल-अबरार (अर्थात् खुदा की विजय) के शीर्षक के साथ इसे प्रकाशित किया गया और इलाहाबाद में 1888 दिसम्बर की बैठक में इसे बांटा गया। यह फ़तवा शाह मुहम्मद की पेशकश से लिखा गया। शाह मुहम्मद अब्दुल क़ादिर के बेटे थे, जिन्होंने 1857 की क्रान्ति में सक्रिय योगदान दिया था।

मुसलमानों का एक बड़ा वर्ग जमायतुल-उलमा का समर्थक था, जो हिन्दू-मुस्लिम एकता का हामी था। जमायतुल-उलमा की वजह से अंग्रेज़ों की शह पर स्थापित कट्टरपंथी मुस्लिम-लीग कभी आगे नहीं आ पायी थी। 1936 ई० तक यह स्थिति थी, पर इसके बाद मुस्लिम-लीग आगे आ गई और साम्प्रदायिक हवा तेजी से चलने लगी। 1940 में लीग ने पाकिस्तान प्रस्ताव सिर्फ कुछ सहूलियतें हासिल कर लेने के विचार से रखा था। कौन जानता था कि यह एक कटु यथार्थ में बदल जायेगा। दरअसल मोर्ले (भारतीय मामलों का ब्रिटिश सचिव, जो कि वास्तव में ब्रिटिश पार्लियामेंट में भारतीय शासन का सर्वेसर्वा हुआ करता था) और मिन्टो (उस वक़्त का भारत का वायसराय) की नीति ने पाकिस्तान की नींव बहुत पहले ही रख दी थी, उसी दिन जिस दिन आगा खान की अध्यक्षता में मुसलमानों के एक वर्ग ने वायसराय के सामने अपनी कुछ मांगें रखी थीं और वायसराय मिन्टो ने साम्प्रदायिक आधार पर अलग निर्वाचक मंडल की पद्धति को स्वीकृति दी थी।

मुस्लिम नेतृत्व

1857 की क्रान्ति के बाद मुसलमानों का नेतृत्व तीन हिस्सों में बंट गया था। "वैसे प्रवृत्ति रूप में तीन हिस्से पहले से चले आ रहे थे, पर क्रान्ति के बाद वे

अधिक स्पष्ट हो गये थे।

इनमें मुस्लिम नेतृत्व का पहला वर्ग अलीगढ़ कॉलेज से जुड़ा था। कॉलेज के प्रिंसिपल थ्योडोर बेक ब्रिटिश सत्ता की नीति को बड़ी सफाई से मुस्लिम उच्च वर्ग में लोकप्रिय बनाने का काम कर रहे थे। सैयद अहमद अनजाने में धीरे-धीरे उनके माध्यम बनते जा रहे थे। शिबली नूमानी के जीवनीकार सैयद सुलेमान नादवी[13] ने सैयद अहमद के बारे में लिखा है कि "वे (सैयद अहमद) अलीगढ़ कॉलेज के अंग्रेज़ प्रोफ़ेसरों के जादू से इतने सम्मोहित थे कि उनके अपने ख़यालात उस जादू में खो गये और अब वे (सैयद अहमद) जो कुछ देखते हैं उसे मि० बेक और दूसरे अंग्रेज प्रोफेसरों की आंखों से देखते हैं और जो कुछ सुनते हैं, उन्हीं के कानों से सुनते हैं।" जो सैयद अहमद हिन्दू और मुसलमान को हिन्दुस्तान की दो आंखें कहते थे, अपने को हिन्दू कहने पर जोर देते थे, हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक होने का दावा करते थे, वही सैयद अहमद धीरे-धीरे बेक के प्रभाव में आकर हिन्दुओं के कट्टर दुश्मन बन गये थे।

सैयद अहमद खां वास्तव में हर क़ीमत पर इस कोशिश में थे कि मुस्लिम क़ौम की बेहतरी के लिए वे कुछ करें। 1857 के बाद मुसलमानों की स्थिति काफी दयनीय हो गयी थी। मुस्लिम उच्च वर्ग उखड़ चुका था। सैयद अहमद की मंशा और मूल सोच उच्च वर्ग के मुसलमानों को आगे बढ़ाने की थी। निम्न वर्ग और पिछड़े हुए मुस्लिम समुदाय से उनका अधिक सरोकार नहीं था। वे उच्च वर्गीय रहन-सहन के कायल थे। उनकी धार्मिक कट्टरता के पीछे कारण के तौर पर हिन्दुओं का 1867 में हिन्दी को कचहरियों की भाषा बनाने की मांग और 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना आदि बताये जाते हैं, पर सैयद अहमद जिस स्तर के नेता थे उनके लिए ये समस्यायें कोई ऐसी नहीं थीं, जिनके लिए अपने सिद्धान्त को ही बदल देने की जरूरत पड़े। कांग्रेस को वे हिन्दुओं का संगठन कहते थे जो यथार्थ में सही नहीं था। निश्चय ही ऐसा उनके मानने या कहने के पीछे अंग्रेज़ों की साज़िश थी। हिन्दी-उर्दू सवाल पर भी अंग्रेज दोहरी नीति अपनाये हुए थे। 'अलीगढ़ इन्स्टिट्यूट गज़ट' जिसके सम्पादक सैयद अहमद थे, बाद के दिनों में बतौर सम्पादक सैयद अहमद का नाम शाया ज़रूर होता था, पर असल सम्पादक थ्योडर बेक थे। वही पत्रिका को पूरी तरह देखते-भालते थे। पत्रिका में सबसे अधिक आपत्तिजनक सामग्री इसी दौर में शाया हुई थी। अंग्रेज कहीं नाराज़ न हो जाएं, सैयद अहमद के ऊपर यह ख़ौफ़ हमेशा तारी रहता था। वे यह भी मानते थे कि अंग्रेजों को कभी भगाया नहीं जा सकता, और कि अंग्रेजों का क़ृपा-भाजन बनकर ही क़ौम को ऊपर उठाया जा सकता है। वे यह भी मानते थे कि अंग्रेज़ी शिक्षा-दीक्षा और उनके तौर-तरीकों को अपनाये बग़ैर मुस्लिम क़ौम आगे नहीं बढ़ सकती। इन बातों के मद्देनज़र

उन्होंने अलीगढ़ स्कूल और विश्वविद्यालय की स्थापना की, जिससे मुसलमानों को अंग्रेज़ी शिक्षा दी जा सके। अंग्रेज़ी सत्ता के ख़ौफ़ से उन्होंने 1881 में अरबी पाशा के विद्रोह पर, और 1897 के तुर्की-ग्रीक युद्ध में पश्चिमी शक्तियों का पक्ष लिया था। अंग्रेज़ों को खुश करने के लिए यह घोषणा की कि ख़िलाफ़त (ख़लीफ़ा का पद, मुहम्मद साहब का धार्मिक और राजनीतिक उत्तराधिकारी) मुहम्मद साहब की मृत्यु के तीस साल बाद इमाम हसन के साथ समाप्त हो गया। और तुर्की के सुलतान को ख़लीफ़ा मानना उचित नहीं है।"[14] यह उन्होंने तब कहा था जब विश्व भर के मुसलमान तुर्की का पक्ष लेकर, अंग्रेज़ों की भर्त्सना कर रहे थे। सैयद अहमद की मूलनीति अंग्रेज़ी सत्ता के प्रति स्वाभिभक्ति की थी, बदले में सरकारी नौकरियां, म्यूनीसिपल्टियों की सीटें और कुछ सरकारी सुविधायें प्राप्त करने का लक्ष्य था।

शुरू में सैयद अहमद ने यह भी कोशिश की कि हिन्दुओं के साथ मेल-मिलाप बना रहे। पटना में 27 जनवरी 1883 के अपने भाषण में उन्होंने कहा कि "आज हम दोनों (हिन्दू और मुसलमान) हिन्दुस्तान की हवा में सांस ले रहे हैं, गंगा और जमना के पवित्र जल को पीते हैं और हिन्दुस्तान की ज़मीन में उपजे अनाजों पर जिन्दा हैं, हम दोनों ज़िन्दगी और मौत दोनों में साथ हैं··· मुसलमानों ने बहुत-सी हिन्दू-प्रथाओं को अपनाया है, हिन्दुओं ने बहुत-सी मुस्लिम 'खासियतों' को ग्रहण किया है। हम दोनों एक-दूसरे में ऐसे घुल-मिल गये हैं कि हमने एक नयी ज़बान उर्दू को विकसित किया है, जो कि न तो हमारी ज़ुबान थी और न ही हिन्दुओं की।[15]

उन्होंने यह भी कहा था कि हिन्दू और मुसलमान खूबसूरत दुल्हन की दो आंखों के समान हैं, जिसकी सुन्दरता दोनों आंखों के बरकरार रहने पर ही बनी रह सकती है, दोनों में से कोई आंख अगर जख़्मी हो जाय तो दुल्हन का खूबसूरत चेहरा बिगड़ जायेगा।

पंजाब के हिन्दुओं के समक्ष अपने एक भाषण के दौरान उन्होंने अपने को हिन्दू बताया। उन्होंने कहा कि "आप लोगों ने अपने लिए हिन्दू शब्द का इस्तेमाल किया है। यह सही नहीं है। क्योंकि मेरी दृष्टि में हिन्दू शब्द किसी धर्म विशेष का द्योतक नहीं, बल्कि वे सभी अपने को हिन्दू कहने के हक़दार हैं, जो हिन्दुस्तान में रहते हैं। इसलिए मुझे बहुत-बहुत दुख है कि यद्यपि मैं भी हिन्दुस्तान ही का निवासी हूं, पर तो भी आप मुझे हिन्दू नहीं मानते।"

27 जनवरी 1883 को पटना वाले अपने भाषण में सैयद अहमद ने यह भी कहा, "यह याद रखिये कि हिन्दू और मुसलमान धार्मिक शब्द हैं। वास्तव में हिन्दुस्तान के सभी निवासी चाहे वे हिन्दू हों, मुसलमान हों या क्रिश्चियन हों; यहां के निवासी होने की वजह से एक ही राष्ट्र (नेशन) हैं।···वह समय बीत

चुका है जब केवल धर्म के आधार पर एक ही देश के निवासी दो अलग नेशन के सदस्य समझे जाते थे।"[16]

27 जनवरी 1884 को गुरदासपुर में बोलते हुए उन्होंने कहा कि "हमें, हिन्दू और मुसलमान, यह कोशिश करनी चाहिए कि हम एक मन, एक आत्मा होकर एकजुट मिलकर काम करें। संगठित होकर हम एक-दूसरे की मदद कर सकते हैं। अगर हम संगठित नहीं हैं, तो दोनों के नाश और अवनति का यह कारण होगा। एक और स्थान पर उन्होंने मुसलमानों को सम्बोधित करते हुए कहा, "यदि गोबध को छोड़ देने से हिन्दुओं और मुसलमानो में एकता और दोस्ती क़ायम करने में मदद मिलती है, तो यह हज़ार बार अच्छा होगा कि आप गोबध न करें"[17] पर अंग्रेज़ों को कूटनीतिक फंदे में धीरे-धीरे सैयद अहमद फंस जाते हैं। और अन्ततः अंग्रेज़ उनकी जबान पर आसीन होने में कामयाब होते हैं। अंग्रेज़ों के लिए वे एक नायाब और बेशक़ीमती मोहरा थे। और भी बहुत से बेश-कीमती मोहरे अंग्रेज़ों के खजाने में थे, जिन्हें आगे सरकाकर वे हिन्दुस्तान की सामाजिक व्यवस्था में दरारें डाला करते थे, जिससे उनके राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति हो सके।

1885 में चर्चिल जो उस वक़्त ब्रिटेन के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट (भारत) थे, हिन्दुस्तान आये और उन्होंने मुसलमानों के प्रति ब्रिटिश सरकार के नरम रवैये और पक्षपात को प्रदर्शित किया। इसके पहले 1871 में डब्ल्यू० डब्ल्यू० हन्टर की पुस्तक 'इंडियन मुसलमान्स' प्रकाशित हो चुकी थी, जिसमें मुसलमानों की स्थिति को बताते हुए हन्टर ने ब्रिटिश सरकार से मुसलमानों के प्रति अधिक ध्यान देने की अपील की थी। इसके बाद एक के बाद दूसरे ऐसे मौक़े सरकार की ओर से निकाले गये, जिसमें अंग्रेज मुसलमानों की ओर झुकाव को प्रदर्शित करते रहे। इस काम के लिए अलीगढ़ कॉलेज को विशेष रूप से चुना गया। जान स्ट्रेची ने अंग्रेज़ों से अपील की कि वे अलीगढ़ मुस्लिम कॉलेज को दिल खोलकर दान दें। लार्ड नार्थ ब्रुक ने कॉलेज को 10,000 रुपये का अनुदान दिया। आकलैण्ड कालविन ने ब्रिटिश सरकार के प्रति वफ़ादार रवैये के लिए कॉलेज की भूरि-भूरि प्रशंसा की। डफ़रिन[18] ने मुसलमानों द्वारा दिये गये अपने विदाई समारोह में मुसलमानों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहा कि "आप लोग हिन्दुस्तान के शासकों के वंशज हैं, आप लोग शासकों की जिम्मेदारियों को बखूबी समझते हैं।"

1893 में 30 दिसम्बर के दिन सैयद अहमद के घर पर कुछ प्रभावशाली मुस्लिम नेताओं की बैठक हुई। इस बैठक में एक मुस्लिम संगठन की रूपरेखा तय की गई, जिसके परिणामस्वरूप 'मोहम्मडन एंग्लो-ओरियंटल डिफेंस एसोसिएशन' की नींव पड़ी, जिसका प्रमुख कार्यालय अलीगढ़ में रखा गया।

'फाउंडेशन्स ऑफ़ पाकिस्तान' के सम्पादक सैयद शरीफुद्दीन पीरज़ादा ने लिखा है कि 1894-96 के दौरान डिफेंस एसोसिएशन की गतिविधियां इस तथ्य की ओर पर्याप्त संकेत देती हैं कि यह एसोसिएशन मुस्लिम लीग का सही मायने में पूर्वाधिकारी संगठन था।

थ्योडोर बेक, जो अंग्रेज़ी सत्ता और मुस्लिम नेताओं के बीच एक सेतु थे, मुस्लिम नेताओं के दिलों में साम्प्रदायिक भावना भरने में अहम् भूमिका अदा कर रहे थे। बेक, जैसा कि पीछे कहा गया है, अलीगढ़ मोहम्मडन एंग्लो-ओरियंटल कॉलेज के प्रिंसिपल थे, साथ ही सैयद अहमद के राजनीतिक सलाहकार थे, मोहम्मडन डिफेन्स एसोसिएशन (स्थापना 1893 ई०) के सचिव थे, और इससे भी बढ़कर एंग्लो-मुस्लिम एलायंस के कर्ता-धर्ता और 'हिन्दू-मुस्लिम दो अलग राष्ट्र हैं' के प्रचारक थे। इसलिए बेक की मृत्यु के बाद सर जान स्ट्रेची ने 1899 में उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा कि वे ऐसे अंग्रेज थे, जिन्होंने सुदूर देश भारत में अंग्रेजी साम्राज्य को मजबूत करने में अपना जीवन लगाया।

सैयद अहमद की मृत्यु (1898) के बाद अलीगढ़ कॉलेज से जुड़ी गतिविधियों में काफी कमी आ गई थी। थ्योडोर बेक के उत्तराधिकारी थ्योडोर मोरिसन ने सियासी गतिविधियों से कॉलेज को काफी कुछ अलग कर लिया था। कॉलेज के स्नातक ब्रिटिश सत्ता के स्वामिभक्त कर्मचारी बनते जा रहे थे। कहीं कोई दिक़्क़त नहीं थी। सैयद अहमद के उत्तराधिकारी मोहसिन उल-मुल्क भी उसी रंग में रंगे हुए थे। दूसरी ओर कलकत्ता में सैयद अमीर अली का प्रभाव था, जो कट्टर पंथी मुसलमान थे। उनकी मान्यता थी कि हिन्दुओं और मुसलमानों में कभी एका हो ही नहीं सकता। जो लोग हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के बारे में सोचते हैं, वे वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञ हैं।

दूसरे वर्ग का मुस्लिम नेतृत्व मौलवियों और मज़हबी नेताओं का था, जिसे बाद में देवबन्द-आन्दोलन भी कहा गया। इसमें वे उलमा और मुस्लिम-धार्मिक नेता शामिल थे, जिन्होंने अंग्रेज़ी सत्ता से कभी समझौता नहीं किया, जो अंग्रेज़ों को हिन्दुस्तान से खदेड़ने के पक्ष में थे। सत्तावन की क्रान्ति में इन्होंने खुलकर हिस्सा लिया था। दरअसल यह वह वर्ग था जो कभी भी मुस्लिम सत्ता के अवसान को मन से स्वीकार नहीं कर पाया। ये शुरू से ही अंग्रेज़ी सत्ता की ख़िलाफ़त कर रहे थे। सत्तावन की क्रान्ति की असफलता इनके लिए बहुत बड़ी चोट थी। दिल्ली के शाह वली उल्लाह इसके आरम्भिक नेता थे। उनके बाद उनके पुत्र ने 1803 में दिल्ली विलय के बाद एक फ़तवा जारी किया, जिसमें हिन्दुस्तान को दार-उल-हर्ब (देश, जहां गैर मुस्लिम हुकूमत है, और मुस्लिम धार्मिक क्रियाकलापों की मनाही है) घोषित किया गया और मुसलमानों से यह कहा गया कि वे जिहाद में शामिल हों या किसी मुस्लिम देश की शरण लें। उलमा ने 1867 में सहारनपुर

जिले के देवबन्द में एक मदरसा स्थापित किया, जिसका प्रमुख उद्देश्य धार्मिक शिक्षा देना था।

देवबन्द मदरसा ने अपने सामने पांच उद्देश्य रखे, जिनमें से दो लक्ष्य ऐसे हैं जो सैयद अहमद के अलीगढ़ आन्दोलन की भूलसुधार में मानो दिये गये हों। सर सैयद अहमद का मूलमंत्र अंग्रेज़ों की जी-हुज़ूरी और खुशामद का था। देवबन्द ने अपने सामने यह लक्ष्य रखा कि ब्रिटिश सरकार से किसी भी तरह के सहयोग को मदरसे के लिए हानिकारक समझा जायेगा। एक और लक्ष्य में मदरसे ने अभिजातवर्गीय और स्वेच्छाचारी ढंग के रहन-सहन की अवहेलना करके एक-दूसरे के सहकार से काम करते हुए प्रशासन में लोकतंत्रीय और रिपब्लिकन पद्धतियों के उदाहरण रखने की बात कही। ज़ाहिर है यह लक्ष्य भी सैयद अहमद के मूल सोच से एकदम उलटा था। सैयद अहमद अभिजातवर्गीय रहन-सहन के कायल थे और अंग्रेज़ों की साम्राज्यवादी शक्ति में उनकी आस्था थी। इसी तरह 1885 में जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई तो देवबन्द स्कूल ने पूरी तौर पर अनुकूल प्रतिक्रिया ज़ाहिर की, और उस वक़्त के स्कूल के अध्यक्ष रशीद अहमद गंगोही ने शाह अब्दुल अजीज के फतवे का हवाला देकर (कि भारत दार-उल-हर्ब है, इसलिए अंग्रेज़ों को भगाने के हर प्रयास का स्वागत होना चाहिए) कांग्रेस की हिमायत की। बल्कि रशीद अहमद गंगोही कांग्रेस से भी कई क़दम आगे थे, वे हिन्दुस्तान की पूर्ण स्वतंत्रता के पक्ष में थे। कहने का मकसद यह है कि देवबन्द स्कूल के सोच का दायरा सैयद अहमद के सोच के दायरे से एकदम भिन्न धरातल पर स्थित था। देवबन्द स्कूल के प्रमुख लोगों में मुहम्मद क़ासिम नानौतवी (1837-1880) तथा रशीद अहमद गंगोही (1825-1905) आदि थे। सैयद अहमद के मुस्लिम समाज सुधार की खिलाफ़त करने वालों में कलकत्ता के नवाब अब्दुल लतीफ़ खान, भोपाल के नवाब सिद्दीक़ हसन खान, हैदराबाद के नवाब रसूल यार खान, पश्चिमोत्तर प्रान्त तथा अवध के नवाब इमदाद अली आदि प्रमुख थे। जिन लोगों ने सैयद अहमद का साथ दिया था, उनमें सैयद अमीर अली, सैयद मेंहदी अली (मोहसिन-उल- मुल्क) और मौलवी चिराग अली खास थे।

तीसरे वर्ग का मुस्लिम नेतृत्व राष्ट्रीयतावादी मुस्लिम नेताओं का था। बदरुद्दीन तैयब जी उनमें प्रमुख थे। मुसलमानों का यह वर्ग सैयद अहमद की तरह पश्चिमी शिक्षा का क़ायल तो था, पर देश की मुख्य धारा से मुसलमानों को अलग-थलग करने के पक्ष में नहीं था। ये अपने को उतना ही राष्ट्र-भक्त समझते थे, जितना कोई भी भारतीय हो सकता था। बदरुद्दीन तैयबजी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 1887 के मद्रास सत्र के अध्यक्ष चुने गये थे। उन दिनों के कांग्रेस के प्रमुख नेताओं में तैयबजी का खास स्थान था।

1885 में जब कांग्रेस की स्थापना हुई, तब अंग्रेजों के मन में इसके प्रति कोई आशंका नहीं थी, एक तरह का मैत्री-भाव ही था, पर तब भी चूंकि इसके सदस्य और कर्ता-धर्ता अधिकतर हिन्दू थे, इसलिए सैयद अहमद इसे शंका की निगाह से देख रहे थे। आगे उनके मन में यह बात भी बैठ गयी थी कि कांग्रेस के माध्यम से हिन्दू अंग्रेज़ी सरकार से अनेक सुविधाओं की मांग करेंगे। बाद में जब अंग्रेज़ों ने कांग्रेस को शक की निगाह से देखना शुरू किया तब तो सैयद अहमद को अपनी नफ़रत को उचित बताने का खुलकर मौक़ा मिला और उन्होंने हर मौक़े पर इसकी मज़म्मत करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। कांग्रेस द्वारा प्रस्तावित प्रतिनिधि सरकार (रिप्रज़ेन्टेटिव गवर्नमेंट) का जब मसला आया तो अंग्रेज़ी सत्ता ने अनेक स्तरों पर अनेक ढंग से उसकी तीव्र आलोचना की। लार्ड डफ़रिन ने कलकत्ता में सेंट एंड्रज़ के भोज के अवसर पर 30 नवम्बर 1888 को इसकी भर्त्सना की। साथ में उन्होंने यह कहा कि भारत में विशाल ब्रिटिश पूंजी लगी हुई है, और उससे ब्रिटिश स्वार्थ (सरकारी और गैर-सरकारी) जुड़ा हुआ है। भारत की इस विशिष्ट स्थिति की ओर भी उन्होंने इशारा किया कि इसमें दो बहुसंख्यक धर्मों—हिन्दू और मुसलमान —के अनुयायियों के साथ सिख, क्रिश्चियन और एंग्लो-इंडियन धर्मों के मानने वाले रहते हैं। 20 करोड़ जनसंख्या वाले इस विशाल देश की अधिकांश जनसंख्या निरक्षर है। डफ़रिन ने आगे कहा कि "इस 20 करोड़ जनसंख्या में से केवल कुछ हज़ार लोग ही इस योग्य हैं कि वे जटिल और संग्रथित आर्थिक तथा राजनैतिक सवालों, जो कि पूरे देश के भाग्य का फैसला करते हैं, को समझने और उन पर विचार क़ायम करने की योग्यता रखते हैं।" इसी भाषण में डफ़रिन ने घोषणा की कि हिन्दुस्तान की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए यह सम्भव नहीं है कि प्रतिनिधि सरकार कारगर हो सकती है। उन्होंने यह भी कहा कि अंग्रेजी साम्राज्य से बेहतर कोई विकल्प नहीं है।

मुस्लिम एंग्लो ओरियन्टल कॉलेज अलीगढ़ के प्रिंसिपल थ्योडोर बेक ने भी बड़े जोर-शोर से प्रतिनिधि सरकार के ख़िलाफ़ आवाज़ उठानी शुरू की। थ्योडोर बेक की शह पर पढ़े-लिखे मुसलमानों के एक समूह ने प्रतिनिधि सरकार की कांग्रेस की मांग की ख़िलाफ़त की। बहाना यह था कि इससे मुस्लिम हितों को हानि पहुंचेगी। बहुसंख्यक हिन्दू अल्पसंख्यक मुसलमानों को दबा देंगे। साथ में यह भी जोड़ दिया गया कि इसलिए शासन की बागडोर अंग्रेज़ों के हाथ में ही रहनी चाहिए। इस आशय का एक पत्र जनवरी 1887 में शिक्षित मुसलमानों में वितरित किया गया।[19]

जैसा कि पहले कहा गया, 1857 की क्रान्ति के तुरंत बाद अंग्रेज़ों ने जो नीति निर्धारित की वह हिन्दुओं के पक्ष में थी। उनके मन में यह बात समायी हुई थी कि क्रान्ति के लिए जिम्मेदार तत्त्व मुस्लिम ताल्लुक़ेदार और धनी वर्ग हैं।

इसलिए वे हिन्दुओं को छोटी-मोटी सुविधायें देकर मुसलमानों से उन्हें काट देना चाहते थे। लेकिन जैसे ही हिन्दुओं में सामाजिक और धार्मिक पुनरुत्थान के आन्दोलन शुरू हुए और उनका ध्यान अपने गौरवपूर्ण इतिहास की ओर गया, अंग्रेज़ों ने अपनी नीति में परिवर्तन करने शुरू कर दिये। सैयद अहमद खां, अब्दुल लतीफ़ खां और अमीर अली जैसे कट्टर मुस्लिम नेता अंग्रेज़ों की इसी नीति की वजह से प्रकाश में आये। अंग्रेज शासक उनकी बातों पर ग़ौर करने का नाटक करते थे और गाहे-बगाहे उन्हें उकसाते रहते थे। थ्योडोर बेक तो बाकायदा सैयद अहमद की ज़बान पर ही बैठ गये थे। अलीगढ़ इंस्टिंटयूट गजट के सम्पादक सैयद अहमद थे, पर सम्पादन की सारी जिम्मेदारी और ग़ज़ट की नीति सम्बन्धी निर्णय बेक के ही हाथ में रहता था। वैसे भी वे अधिकारिक तौर पर सैयद अहमद के राजनीतिक सलाहकार थे। अलीगढ़ कॉलेज के प्रिंसिपल तो थे ही। यह बताने की यहां ज़रूरत नहीं होनी चाहिए कि मुस्लिम समुदाय की एक खासी बड़ी संख्या अलीगढ़ आन्दोलन के प्रभाव में थी। उसमें भी मुस्लिम नवाबों, ताल्लुक़ेदारों और उच्च वर्ग के मुसलमानों का समूह अधिक था।

भारतीय कांग्रेस के अस्तित्व में आने से, और उसके कुछ वर्ष पहले सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के सम्पूर्ण भारत में राजनीतिक चेतना फैलाने के मक़सद से किये गये दौरों से अंग्रेज़ों के कान खड़े हुए, और उन्होंने ताबड़तोड़ अनेक तरह की सुविधायें मुसलमानों को देकर उन्हें अपनी तरफ पक्का करने की कोशिश की थी। दूसरी ओर मुस्लिम नेताओं के मन में यह बात बैठा दी गयी कि कांग्रेस हिन्दुओं का संगठन है, और वह हिन्दुओं की ही हित-रक्षा का ध्यान रखेगी। अंग्रेज़ों के इस नीतिगत संकेत को ग्रहण कर सैयद अहमद ने कांग्रेस के अस्तित्व में आने के बाद से ही उसकी ख़िलाफ़त शुरू कर दी थी, और पूरी ज़िन्दगी वे कांग्रेस को नफ़रत की निगाह से देखते रहे। कांग्रेस के अधिवेशनों में क्रमश: मुस्लिम डेलीगेट्स की तादाद में वृद्धि के बावजूद* और 1887 के मद्रास अधिवेशन में बदरुद्दीन तैयबजी के अध्यक्ष बनाये जाने के बावजूद, सैयद अहमद उसे हिन्दुओं का संगठन बताते रहे।

सैयद अहमद राष्ट्रीय आन्दोलन को सियारों और कौवों की चिल्लाहट कहा करते थे, और अंग्रेज़ों को यह सलाह देते थे कि वे हिन्दुस्तानियों पर शासन करने के लिए और अधिक सख्ती से काम लें, क्योंकि हिन्दुस्तान में कोई समान

---

* कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में मुसलमान डेलीगेट्स दो थे, दूसरे साल कलकत्ता अधिवेशन में 33 हुए, मद्रास अधिवेशन में 81 संख्या थी और 1890 के छठे अधिवेशन में कुल डेलीगेट्स की संख्या 702 में से 156 मुस्लिम डेलीगेट्स थे।

राष्ट्रीयता, समान खून, समान उद्देश्य और समान विचारधारा नहीं है। उन्होंने अंग्रेज़ों को आश्वासन दे रखा था कि कोई भी मुसलमान जो सही मायने में मुसलमान है, राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग नहीं लेगा।

1887 में मद्रास में कांग्रेस का तीसरा अधिवेशन, जिसके अध्यक्ष बम्बई के सम्मानित मुस्लिम नेता बदरुद्दीन तैयब जी थे, जिस वक़्त चल रहा था, लगभग उसी समय (28 दिसम्बर 1887) सैयद अहमद खां लखनऊ में मुसलमानों की एक बड़ी सभा को सम्बोधित कर रहे थे। उस सभा में अवध के ताल्लुक़ेदार, सैयद, शेख, पठान, सरकारी नौकरियों और फौज़ में काम करने वाले मुसलमान, वकील तथा दूसरे व्यवसायों के मुसलमान, जिनमें शिया और सुन्नी दोनों समुदायों के लोग थे, वहां मौजूद थे। सैयद अहमद ने कांग्रेस की जी खोलकर भर्त्सना की और कहा कि कांग्रेस हिन्दुओं की संस्था है, और हिन्दू और मुसलमान कभी एक नहीं हो सकते। ये दोनों "दो भिन्न राष्ट्र (नेशन) हैं", बावजूद इसके कि दोनों "एक ही कुएं का पानी पीते हैं, एक ही शहर की हवा में सांस लेते हैं, और अपनी ज़िन्दगी (की जरूरतों) के लिए एक-दूसरे पर निर्भर हैं।"[20] उन्होंने आगे कहा कि भारतीय मुसलमानों को अपने हितों की रक्षा के लिए और प्रशासन में कारगर हिस्सेदारी के लिए पूरी तौर पर ब्रिटिश सत्ता पर निर्भर रहना चाहिए, क्योंकि ब्रिटिश को छोड़कर क़ुरान के अनुसार हमारा राष्ट्र (मुस्लिम नेशन से तात्पर्य) किसी और जनता से दोस्ती और अपनत्व की आशा नहीं कर सकता।[21]

जैसा कि पहले गया है, सर सैयद अहमद खां मुस्लिम सुधारवादी और ब्रिटिश सत्ता-पिट्ठू नेता थे। मेयो ने 1871 में जो नयी ब्रिटिश नीति लागू की थी, उसमें मुसलमानों की नयी पौध को ऊपर आने में मदद पहुंचाने का विधान था। ऐसी नयी पौध जो अंग्रेज़ी पढ़ी-लिखी हो और साथ में अपना धार्मिक स्थान भी रखती हो, जिससे क़ौम में उसकी इज़्ज़त हो सके।[22] सैयद अहमद उच्च वर्ग के अंग्रेज़ी शिक्षित और पश्चिमी ढंग के रहन-सहन वाले मुसलमानों के नेता थे। अलीगढ़ कॉलेज का खुलना इसी ब्रिटिश नीति के मद्देनजर था, जिसे पश्चिमी संयुक्त प्रान्त के उच्च वर्गीय मुसलमानों ने काफी प्रोत्साहन दिया था, और जिसे वायसराय लार्ड नार्थब्रुक ने दस हजार रुपये का अपना व्यक्तिगत अनुदान दिया था, जो उस वक़्त एक असाधारण क़दम के रूप में माना गया था।

परन्तु मुस्लिम क़ौम के जो धार्मिक नेता थे, वे सैयद अहमद की राजनीति से सहमत नहीं थे। वे पुनरुत्थानवादी (रिवाईवलिस्ट) नेता थे मुहम्मद कासिम नानावतवी और रशीद अहमद गंगोही। इस तरह मुस्लिम राजनीति में धार्मिक और शैक्षिक फ्रंट पर दो विपरीत दिशाओं की ओर चलने वाले आन्दोलन उठ खड़े हुए थे—अलीगढ़ स्कूल और दारूल उलूम। एक ब्रिटिश सत्ता का दोस्त

था, दूसरा ब्रिटिश सत्ता का कट्टर दुश्मन। सैयद अहमद कभी भी राष्ट्रीयतावादी नहीं हो पाये, दारुल-उलूम राष्ट्रीयतावाद का समर्थक था और कांग्रेस का उसने साथ दिया। यह बात कितनी अजीब है कि जो सुधारवादी होने को भुना रहा था, वह अपनी सोच में, अपने क्रिया-कलापों में गहरे तक साम्प्रदायिक था, और जो पुनरुत्थानवाद को लेकर चल रहा था, वह राष्ट्रीयतावाद का समर्थन कर रहा था।

पीटर हार्डी[23] के इस हवाले से कि "इन्डस्ट्री पूर्व के निम्न मध्यवर्ग के छोटे जमींदार, छोटे शहरों, कस्बों के मुल्ला, मदरसों के अध्यापक, क़िताबों के दुकानदार, छोटे दुकानदार, निचले स्तरों पर काम करने वाले कर्मचारी और दस्तकार (तथा) वर्नाक्यूलर में साक्षर लोग जल्दी ही धार्मिक उन्माद की लपेट में आ जाते हैं," सुमीत सरकार[24] ने यह कहा है कि अलीगढ़ के लिए शुरूआती ब्रिटिश समर्थन इसलिए नहीं था कि वे कांग्रेस की राष्ट्रीयता का प्रति-सन्तुलन (काउंटर प्वायज़) बनाना चाहते थे (जिससे उस वक़्त कोई अधिक खतरा नहीं था) बल्कि समर्थन इसलिए था कि तथाकथित धार्मिक कट्टरता तथा विदेशियों के विरुद्ध मानसिकता, जिसकी शिक्षा कुछ धार्मिक नेता दे रहे थे, जैसी हिन्दुस्तानी इस्लाम के अन्दर पैदा होने वाली प्रवृत्तियों को लेकर अधिकारी वर्ग डरा हुआ था।

दूसरा कारण यह भी था कि विश्व-इस्लामबाद की प्रवृत्ति हिन्दुस्तानी मुसलमानों में फैल रही थी जो कि 1876-78 की बल्कान लड़ाई और 1896-97 की ग्रीक-तुर्की लड़ाई में उभरती हुई दिखाई देती है, जिसमें हिन्दुस्तानी मुसलमान ब्रिटिश सत्ता की मर्जी और हितों के ख़िलाफ़ तुर्की के ख़लीफ़ा का समर्थन करते हैं। जमालअल-दीन-अल-अफ़गानी जो कि आधुनिक विश्व-इस्लामवाद के संस्थापक कहे जा सकते हैं, 1879 और 1882 के बीच भारत में थे। उन्होंने कलकत्ता में विद्यार्थियों के समक्ष भाषण देते हुए हिन्दू-मुस्लिम एकता की ज़ोरदार अपील की। कलकत्ता और हैदराबाद में जमालअल-दीन ने अनेक भाषण दिये। उन्होंने अंग्रेज़ों के पिट्ठूपने को लेकर सैयद अहमद की मज़म्मत भी की थी।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है कि मुस्लिम धार्मिक नेताओं और उलमा का विदेशी शासन, राष्ट्रीयता और विभिन्न धार्मिकसमुदायों की एकता जैसे सवालों पर सोच प्रगतिशील कहे जाने वाले और अंग्रेज़ी ढंग पर शिक्षित मुसलमानों की सोच से भिन्न थी। इसमें महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उलमा राष्ट्रीयता और अंग्रेज़ी सत्ता को ख़त्म करने के सवाल पर कांग्रेस और दूसरे राष्ट्रीयतावादी संगठनों के साथ शामिल थे। अंग्रेज़ों के विरुद्ध लड़ाई में वे पूरी तरह सक्रिय थे जबकि आधुनिक शिक्षा की तर्ज पर शिक्षित मुसलमान

हर तरह से अंग्रेज़ों का साथ दे रहे थे और मौक़ा मिलने पर दूसरे मुसलमानों को भी, उनकी धार्मिक भावनाओं को उकसाकर धार्मिक असहिष्णुता को बढ़ावा दे रहे थे। इसके कई कारण थे।

इसका एक कारण तो यह था कि हर मसले को ब्रिटिश सरकार इस ढंग से रखती थी कि उसमें धर्म के आधार पर भेदभाव बना रहता था और पक्षपात दिखाई देता था। काउंसिलों में प्रतिनिधित्व का मसला इसका एक उदाहरण है। दूसरा कारण यह था कि सरकारी नौकरियों आदि में शिक्षित मुसलमानों का सीधा टकराव शिक्षित हिन्दुओं से रहता था और उस प्रतिद्वन्द्विता में पक्षपात हासिल करने की उम्मीद में स्वाभाविक रूप से वे अंग्रेज़ों की ओर झुकते थे, क्योंकि शिक्षित हिन्दुओं की तादाद काफ़ी थी। तीसरा कारण यह था कि सैयद अहमद और अमीर अली जैसे ब्रिटिश-सत्ता-परस्त मुस्लिम नेताओं ने शिक्षित और उच्च वर्गीय मुसलमानों के मन में यह बात बैठा दी थी कि अंग्रेज़ी सत्ता हिन्दुस्तान से कभी खत्म नहीं हो सकती। 1857 की क्रान्ति की विफलता उनके सामने अकाट्य तर्क थी। इसलिए मुसलमानों को अंग्रेज़ों का कृपापात्र बने रहकर अधिक से अधिक लाभ उठाने की कोशिश करते रहना चाहिए, इसी में उनकी भलाई है। अंग्रेज़ अधिकारी भी इस धारणा को उनके मन में बनाये रखने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते थे।

सत्तावन की क्रान्ति के बाद 1858 में देश की बागडोर ईस्ट इंडिया कम्पनी के निदेशकों के हाथ से निकलकर ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाथ में चली गयी। 1859 में महारानी विक्टोरिया ने आम-माफ़ी की घोषणा की। महारानी ने कुछ धुंधला-धुंधला-सा यह वायदा भी किया कि धीरे-धीरे हिन्दुस्तानियों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व दिया जायेगा। दिल्ली की जामा मस्जिद में करीब 15000 मुसलमान 28 जुलाई 1859 को एकत्रित हुए। उद्देश्य था महारानी को धन्यवाद देना।

इस ओर संकेत किया जा चुका है कि 1857 की क्रान्ति के बाद मुस्लिम नेतृत्व मुख्य रूप से दो वर्गों में बंट गया था। उलमा यह चाहते थे कि क्रान्ति की आग सुलगती रहे। इस आग को सुलगाये रखने में वे हिन्दुओं के साथ मिल-जुल-कर रहना चाहते थे। उलमा को अपना सबसे बड़ा दुश्मन अंग्रेज़ दिखाई दे रहा था, जो राजनीतिक सत्ता हथियाने के बाद इस्लामी संस्कृति के लिए भी खतरे के रूप में दिखाई दे रहा था। उलमा की समझ में यह बात आ चुकी थी कि हिन्दुओं के साथ एकजुट हुए बग़ैर अंग्रेज़ों का मुक़ाबला नहीं किया जा सकता। सत्तावन के बाद अंग्रेज़ नवाबों, ताल्लुक़ेदारों, मुस्लिम ज़मींदारों के विरुद्ध हो गये थे। उनका ख़याल था कि क्रान्ति की साजिश में सबसे अधिक हाथ इन्हीं लोगों का है। सत्तावन के बाद एक अरसे तक यह वर्ग अंग्रेज़ी सत्ता से कटा

रहा। इस दौरान सरकारी नौकरियों को हासिल करने तथा अंग्रेज़ी शिक्षा आदि में मुसलमान बहुत पीछे रह गए। इसके बाद क्रमशः जब ब्रिटिश नीति में परिवर्तन आया, जिसके तहत हिन्दुओं की उन्नति को रोकना ज़रूरी हो गया, और दूसरी ओर सैयद अहमद और कुछ दूसरे मुस्लिम नेता उभरे, जिन्होंने अंग्रेज़ों को यह विश्वास दिलाया कि वे ब्रिटिश सत्ता के एकनिष्ठ स्वामिभक्त हैं, तो कहीं जाकर अंग्रेज़ों की नीति मुसलमानों के पक्ष की ओर झुकी। यहां इस तथ्य की ओर संकेत करना भी ज़रूरी है कि मुस्लिम अवाम हमेशा ही हिन्दुओं के साथ मेल-मिलाप की पक्षधर रही है, और उसने हमेशा ही अंग्रेज़ों की खिलाफ़त उसी तरह की है, जिस तरह आम हिन्दुओं ने की। उसने हिन्दुओं के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर आज़ादी की लड़ाई लड़ी है।

इस तरह उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से, जैसा कि ऊपर कहा गया है, राजनीति के दो छोर बहुत स्पष्ट हो जाते हैं—एक छोर पर देवबन्द का दार-उल-अलूम है, जिसकी स्थापना 1867 में मुहम्मद क़ासिम नानावतवी और रशीद अहमद गंगोही ने देवबन्द में की थी। देवबन्द स्कूल हर क़ीमत पर अंग्रेज़ों को देश के बाहर खदेड़ने का पक्षधर था। दूसरे छोर पर सैयद अहमद खां थे, जो चाहते थे कि मुसलमानों में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रसार हो और मुसलमान ब्रिटिश सत्ता का समर्थन करके उससे अधिक से अधिक फायदा उठायें। सैयद अहमद की नीति अंग्रेज़ों के बहुत अनुकूल थी। वे सर सैयद की पीठ थपथपाकर मुस्लिम क़ौम के एक बड़े वर्ग और वह भी ताल्लुक़ेदारों, ज़मींदारों और उच्च वर्ग के मुसलमानों का समर्थन प्राप्त कर रहे थे। इससे ब्रिटिश सत्ता को दो तरह के फ़ायदे ऐसे थे जो बहुत ठोस थे। पहला यह कि इस तरह अंग्रेज़ उलमा के विरोध का काट मुस्लिम क़ौम के अन्दर से तैयार कर रहे थे, और दूसरा यह कि देश में हिन्दुओं (जो उस समय तक सजग हो चुके थे) और मुसलमानों के बीच कई स्तरों पर झगड़ों की लगातार आने वाली स्थितियां बनाये रखी जा सकती थीं। वे स्थितियां जो हिन्दुओं और मुसलमानों को कभी एक न होने दें। जब अलीगढ़ कॉलेज खुला तो अंग्रेज़ों का उसे इतना संरक्षण और इतनी अधिक मदद मिली जो उस वक़्त किसी भी संस्था के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकती थी।

29 दिसम्बर 1891 के अलीगढ़ इंस्टिट्यूट गज़ट के अनुसार जून 1875 में अलीगढ़ में केवल स्कूल की स्थापना की गई थी, जिसे 1878 में कॉलेज बनाया गया। कॉलेज में कलकत्ता विश्वविद्यालय के कला विषयों के कोर्स को रखा गया। नाम हुआ मोहम्मडन एंग्लो ओरियंटल कॉलेज। इस कॉलेज को बनाने में हिन्दू दानकर्ताओं का भी काफ़ी योगदान था। कुछ प्रमुख दानकर्ताओं

के नाम कॉलेज हॉल में लिखे हुए हैं। इनमें मध्यवित्त हिन्दुओं के साथ पटियाला और विजयानगरम् के महाराजा भी शामिल थे।

अंग्रेज़ अलीगढ़ कॉलेज को मुस्लिम गतिविधियों का केन्द्र बनाना चाहते थे, ऐसी गतिविधि जो उनकी दिखाई हुई दिशा में बढ़े और उनकी नीतियों को मुस्लिम समुदाय में प्रचारित करे। वे यह भी चाहते थे कि अपने सांचे में ढालकर और अपनी ज़रूरत के मुताबिक काट-छांटकर मुस्लिम युवकों की पीढ़ियां तैयार करें, जिससे उनमें कभी भी अंग्रेज़ों के विरोध में खड़े होने की हिम्मत पैदा न हो सके। शुरू से ही कॉलेज के प्रिंसिपल अंग्रेज़ रहे (जिनमें थ्योडोर बेक 1885 से 1899 तक, मोरिसन 1900 से 1905 तक और आर्चिबाल्ड 1905 से 1910 तक प्रमुख हैं) अनेक अध्यापक भी अंग्रेज़ थे। और अलीगढ़ कॉलेज लम्बे समय तक अंग्रेज़ों से भी अधिक ब्रिटिश सत्ता का समर्थक रहा। देश में बहने वाली राष्ट्रीयता की हवाओं को लम्बे समय तक अलीगढ़ में आने की मनाही थी। ब्रिटिश-भक्त और चापलूस नवाबों, ताल्लुक़ेदारों और ज़मींदारों की हलचलों का सबसे बड़ा केन्द्र था। अपने को जागरूक कहने वाले अलीगढ़ स्कूल के मुसलमान दरअसल दोहरी ग़ुलामी को ढो रहे थे। इस दोहरी ग़ुलामी (एक वास्तविक जो उन पर थोपी हुई थी, और दूसरी मानसिक जिसे उन्होंने सहर्ष अपना लिया था) का शिकार हिन्दुओं की और भी बड़ी संख्या थी, पर दूसरे तरह की और कम-से-कम मन से इस गुलामी को अस्वीकार करने वाले हिन्दुओं की तादाद उससे कहीं बहुत बड़ी थी। इसके अनेक उदाहरणों में से इंडियन नेशनल कांग्रेस का कट्टर विरोध भी एक था, जिसे अंग्रेज़ों की शह पर सैयद अहमद हिन्दुओं की संस्था कहकर शुरू से ही उसके कट्टर विरोधी रहे। वरना यह सोचना कितना अजीब लगेगा कि अलीगढ़ स्कूल के लोग जो अपने को जागरूक समझ रहे थे, वे कांग्रेस को हिन्दुओं की संस्था कहते, और उलमा जिन्हें सहज ही कट्टरपंथी समझा जा सकता था, उन्होंने कांग्रेस का समर्थन किया। कांग्रेस के समर्थन के लिए फतवे तक दिए। इलाहाबाद में सम्पन्न हो रहे कांग्रेस के चौथे सत्र के मौक़े पर ब्रिटिश सत्ता के बहकावे में न आने के लिए, और कांग्रेस को समर्थन देने के लिए लखनऊ के सुन्नी मुस्लिम समुदाय के धार्मिक नेता शेख रज़ा खान ने फतवा जारी किया, जिसमें कहा गया कि ब्रिटिश प्रचार से अपने को दूर रखकर मुसलमान कांग्रेस का समर्थन करें, क्योंकि मुसलमान भी कांग्रेस का अंग हैं।

सैयद अहमद अलीगढ़ कॉलेज के फंड कमेटी के आजीवन सचिव थे। फंड कमेटी ने जो नियम संहिता बनायी थी, उसमें यह भी था कि इस कमेटी की सदस्यता सिर्फ़ मुसलमानों के लिए होगी, और सदस्य अपनी क़ौम के अलावा क्रिश्चियनों से चंदा मांगेंगे। नियमों में खास तौर पर यह दिया हुआ है कि सदस्य

किसी और व्यक्ति जो भिन्न 'नेशन' (तात्पर्य हिन्दू से था) से ताल्लुक़ रखता है, उससे चन्दा नहीं मांगेगा। ऐसा करना नियम-विरुद्ध होगा। लेकिन अगर दूसरे 'नेशन' का व्यक्ति अपनी मर्जी से फंड में कुछ योगदान देता है तो उसे स्वीकार करने में कोई हर्ज़ नहीं है।[25]

सैयद अहमद के इन कामों को देखते हुए यह शक पुख़्ता होता है कि दरअसल सैयद अहमद शुरू से ही फ़िरका-परस्ती के क़ायल थे, अंग्रेज़ों ने उन्हें इसी वजह से अपने काम का आदमी समझकर चुना था और ऊपर उठाया था। इन बातों से यह भी शक होता है कि गाहे-बगाहे जो उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता की बातें कह दी हैं, वह महज कूटनीति का एक तक़ाज़ा था।

1868 में सैयद अहमद ने अपने रहन-सहन और तौर-तरीकों को पश्चिमी रंग में रंग लिया था। उनके इस बदलाव पर अकबर इलाहाबादी ने उम्दा व्यंग्यात्मक शेर कहे हैं। इस पश्चिमीकरण की झोंक में सैयद अहमद अपने अंग्रेज़ आक़ाओं के साथ बिना हलाली गोश्त भी खाने लगे, जिसकी उस वक़्त के मुस्लिम समाज में काफी भर्त्सना की गयी थी। 1869-70 में उन्होंने इंग्लैण्ड का दौरा किया। 1888 में उन्हें नाइटहुड की उपाधि मिली। 1886 में सैयद अहमद ने 'मोहम्मडन एंग्लो ओरियंटल एजूकेशनल कांफ्रेंस' की स्थापना की, जिसके कई मक़सद थे। उनमें से एक मक़सद यह था कि इसके द्वारा राजनीतिक दबाव डाला जा सके, जिससे सभी सरकारी और प्राइवेट स्कूलों में उर्दू को दूसरी भाषा (सेकेन्डरी लैंग्वेज़) के तौर पर मान्यता मिल सके। सैयद अहमद ने उर्दू का एक रिसाला 'तहजीब अल-अख़लाक़' नाम से निकाला। इस रिसाले ने उर्दू गद्य को आसान बनाया। उर्दू अख़बारनवीसी को एक नयी ज़मीन मिली। रिसाले में हर तरह के विषयों से ताल्लुक़ रखने वाले लेख शाया होते थे।

ऊपर कहा गया है कि 1876-78 के बल्कान युद्ध और 1896-97 के ग्रीक-तुर्की युद्ध के दौरान विश्व-इस्लामवाद की तेज़ लहर चल रही थी। हिन्दुस्तानी मुसलमानों का भी एक बड़ा वर्ग इस लहर की चपेट में था, जो मूल रूप से ब्रिटिश सत्ता के लिए खतरनाक साबित हो सकता था, बल्कि हो रहा था। आधुनिक विश्व इस्लामवाद के प्रवर्तक जमाल-अल-दीन अल-अफ़गानी 1879 से 1882 तक भारत में विश्व-इस्लामवाद के प्रचारार्थ थे, साथ ही वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के भी समर्थक थे। इस स्थिति की वजह से अंग्रेज़ों का घबड़ा उठना स्वाभाविक था। सैयद अहमद और अलीगढ़ के ऊपर अंग्रेज़ों के वरदहस्त के पीछे इस तरह के भी अनेक कारण थे।

लेजिस्लेटिव काउंसिलों में भारतीयों के प्रतिनिधित्व का सवाल जब 1883 ई० में आया, तो इंग्लैण्ड में कंजरवेटिव समूह के लोगों ने इसका जमकर विरोध किया था। जान सीले[26] ने लिखा कि म्युटिनी को वक़्त से दबा देने में जो सबसे

कारगर उपाय साबित हुआ था, वह हिन्दुस्तान की हिन्दू-मुस्लिम जनता को एक दूसरे के आमने-सामने खड़ा कर देना था। सीले ने यह भी कहा कि जब तक भारतीय लोग अंग्रेज़ी सरकार की आलोचना की आदत को नहीं अपनाते, तभी तक अंग्रेज़ यहां शासन करने में समर्थ हो सकेंगे। इसलिए जहां तक सम्भव हो भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाया जाना चाहिए। सैयद अहमद खां अंग्रेज़ों के इस विचार से वाक़िफ़ थे, इसीलिए उन्होंने कांग्रेस की ज़ोरदार ख़िलाफ़त की थी। 1887 की 'मुहम्मडन एजुकेशनल कांफ्रेंस' लखनऊ में कांग्रेस को बहुत बुरा-भला कहा था। उसी सभा में उन्होंने कहा कि "हम वह हैं जिन्होंने हिन्दुस्तान पर छः-सात सदी तक राज्य किया है।...हमारी क़ौम उन लोगों के खून से बनी है, जिनसे न केवल अरब बल्कि एशिया और यूरोप भी कांपते थे।" 'अलीगढ़ इंस्टिट्यूट गज़ट' में कांग्रेस की बुराइयों पर काफी कुछ लिखते रहे। ज़िन्दगी के आख़िर तक वे कांग्रेस के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने कांग्रेस की सभी मांगों का अपनी ओर से खुलकर विरोध किया, और ब्रिटिश सरकार से उन मांगों को न मानने की दरख़्वास्त की, जबकि कांग्रेस की मांगें ऐसी नहीं थीं जिनसे मुसलमानों को नुकसान पहुंचता हो। उनमें पहली मांग थी लेजिस्लेटिव काउंसिलों के विस्तार की, जिससे चुने हुए प्रतिनिधियों की उचित संख्या उनमें भेजी जा सके। दूसरी मांग थी कि इंग्लैण्ड के साथ ही साथ भारत में भी आई. सी. एस. की परीक्षाओं का प्रावधान हो, और तीसरी मांग सेना पर किए गए खर्चों में थोड़ी कटौती से सम्बन्धित थी। जाहिर है इनमें ऐसी कोई मांग नहीं थी, जिससे सैयद अहमद के मुसलमानों के हित-चिन्तक होने की वजह से भड़कने का कोई कारण होता। पर सैयद अहमद ने बड़े ही लचर तर्कों से इन मांगों की खिल्ली उड़ाई, और अंग्रेज़ों से आग्रह किया कि वे इन मांगों को क़तई न मानें। और तो और, सन् सत्तावन के विद्रोह, जो निश्चय ही आज़ादी की लड़ाई की शुरूआत थी, को लेकर सैयद अहमद ने यह कहा कि म्युटिनी ने हिन्दुस्तानियों को सौ साल पीछे ढकेल दिया है। 'असबाबे बगावते हिन्द' (1858) में सैयद अहमद ने सन् सत्तावन की क्रान्ति के वजूहात पर रोशनी डालते हुए यह कहा कि यदि फ़ौज के हिन्दू-मुस्लिम रिसाले अलग-अलग रहे होते, मिले-जुले न होते, तो हिन्दू और मुसलमान फ़ौजी अंग्रेज़ों के खिलाफ़ एकजुट होकर लड़ नहीं पाते। इस तरह सैयद अहमद ने सरकार की कूटनीतिक त्रुटि की ओर शासन का ध्यान दिलाया है। इस इशारे को समझकर ही 1861 में पील कमीशन ने धर्म और जाति के आधार पर फ़ौज का पुनर्गठन किया। इससे किसी के लिए भी यह निष्कर्ष निकालना मुश्किल नहीं होना चाहिए कि सैयद अहमद का यह कथन एक ओर अंग्रेज़ी राज के लिए मददगार साबित हुआ और दूसरी ओर हिन्दुस्तान के भविष्य के लिए बहुत अधिक घातक सिद्ध हुआ।

सैयद अहमद हर तरह से अंग्रेज़ों की धुन को ही बजा रहे थे। वे उसी तरह अंग्रेज़ों द्वारा इस्तेमाल किये जा रहे थे, जैसे कि दूसरे अनेक सेठ और ताल्लुक़ेदार अपने स्वार्थों से उनका साथ दे रहे थे। जोगेन्द्रनाथ दास, कुंवर दुर्गाप्रसाद साहब बहादुर, कुंवर नरेन्द्र बहादुर, सालार जंग, मुनीर-उल-मुल्क, उदय प्रताप सिंह (जिसने 'डेमोक्रेसी नॉट सूटेड टू इंडिया' नाम से कांग्रेस के विरोध में एक क़िताब ही लिख दी थी) जैसे बहुत से ताल्लुक़ेदार और उच्च वर्ग के लोग कांग्रेस का विरोध कर रहे थे। यह और बात है कि इनके और सैयद अहमद के कांग्रेस-विरोध के पीछे छिपे उद्देश्यों में भिन्नता थी। अरुणचन्द्र गुहा[27] ने लिखा है कि "सर सैयद अंग्रेज़ों की कूटनीति के शिकार हो गये थे, वे मुस्लिम साम्प्रदायिकता के प्रवर्तक और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के बहुत बड़े पिट्ठू थे।"

मोहसिन-उल-मुल्क, जो सर सैयद के बाद उनके उत्तराधिकारी बने थे, और जो हर तरह से सर सैयद के नक़्शे-क़दम पर चल रहे थे, को अपने एक ख़त में सर सैयद ने लिखा है कि "अंग्रेज़ हम हिन्दुस्तानियों को हिन्दुस्तान में असभ्य पशु की तरह क्यों न समझें ··· यदि यह कल्पना करो कि हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ एक आज़ाद देश में बसाये जाएं तो अंग्रेज़ शायद हिन्दुस्तानियों के पास भी खड़े न हों, और उन्हें पशुओं से बेहतर न समझें।"[28]

कांग्रेस के राष्ट्रव्यापी आन्दोलन से अंग्रेज़ों के कान खड़े हुए। उनकी ओर से सैयद अहमद खां मैदान में उतरे। उन्होंने मुसलमानों और थोड़े से धनी हिन्दू ज़मींदारों को भड़काकर कांग्रेस के ख़िलाफ़ 'इंडियन पैट्रियाटिक एसोसिएशन' की स्थापना की। उलमा ने सैयद अहमद का विरोध किया और कांग्रेस को समर्थन दिया। जब इससे बात बनती दिखाई नहीं दी तो अंग्रेज़ अधिकारियों की शह पर 1890 के बाद अनेक शहरों में हिन्दू-मुस्लिम दंगे कराये गए। 'अमृत बाज़ार पत्रिका' ने 10 सितम्बर 1885 को लिखा—"जनता में यह आम धारणा है कि सरकार मुसलमानों का पक्ष लेने के लिए हमेशा इच्छुक रहती है—(ऐसे कामों के लिए) सरकार मुसलमानों को हमेशा प्रोत्साहन देती है और पीठ थपथपाती रहती है।"

1881 में मुलतान में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए थे। इसके बाद 1893 में संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, बिहार और बम्बई में दंगे हुए। जैसा कि होना था ब्रिटिश सरकार दंगों को शान्त करने के लिए समय पर कोई क़दम उठाने में असमर्थ रही। उसने सोच-समझकर इस वैमनस्य को फैलने दिया। हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द पर वे दंगे बहुत बड़ी चोट कर गए। आने वाले लम्बे समय तक दंगे छिटपुट भड़कते रहे और सम्बन्धों में दरार पैदा करते रहे।

हिन्दी-उर्दू विवाद

हिन्दी-उर्दू विवाद के बीज वैसे गिलक्राइस्ट और दूसरे अंग्रेज़ लेखकों के कार्यों में दिखाई देते हैं, पर विवाद सत्तावन की क्रान्ति के बाद मुखर हुआ था। शुरू में विवाद के मुख्य मुद्दे फ़ारसी लिपि और कठिन अरबी-फ़ारसी शब्दों के इस्तेमाल से सम्बन्धित थे। चूंकि लम्बे समय तक लोग लिपि को भाषा से अलग करके देख नहीं पाये, इसलिए लिपि का विवाद अन्ततः भाषा का विवाद बन गया।

हिन्दी-उर्दू के जन्म के कई सौ साल तक उनमें आपस में कोई द्वन्द्व नहीं था। हिन्दी हिन्दुओं के साथ और उर्दू मुसलमानों के साथ नत्थी नहीं थी और न ही क़ौमी ज़बानों की तरह इन्हें लिया जाता था। लिपि अलग-अलग थीं, पर लिपि की वजह से भाषा में कोई दरार पैदा नहीं हुई थी। ब्रिटिश सत्ता की कोशिशों से हिन्दू-मुस्लिम धर्मों में साम्प्रदायिकता के अनेक स्तर पैदा हुए, जिनमें वक़्त के साथ एक ओर फैलाव आया और दूसरी ओर गहराई आयी। हिन्दी-उर्दू विवाद भी उन्हीं स्तरों में से एक है।

हिन्दी-उर्दू का अलगाव 1867-68 में सतह पर उभरता है, जब प्रान्तों की स्थानीय कचहरियों और राजस्व आदि के दफ़्तरों में कामकाज की भाषा का सवाल उठा। अंग्रेज़ों ने क्षेत्रीय भाषाओं के प्रयोग को स्वीकृति दी। बंगाल में बंगला और उड़ीसा वाले भाग में उड़िया को स्वीकार किया गया। संयुक्त प्रान्त की निचली कचहरियों और निचले स्तर के दूसरे सरकारी कामकाज के लिए भाषा के मसले पर कोई ख़ास विवाद नहीं था, असली विवाद लिपि को लेकर था। हिन्दू मांग कर रहे थे कि नागरी लिपि में काम करने की स्वीकृति मिले, मुसलमान फ़ारसी लिपि पर जोर दे रहे थे। सैयद अहमद, जो तब तक मुसलमानों के खासे बड़े वर्ग के नेता के रूप में उभर चुके थे, ने शुरू में कोई ख़िलाफ़त नहीं की। शारदाप्रसाद सन्डेल को लिखे अपने एक पत्र में उन्होंने कहा कि "हमारी कचहरियों की ज़बान वही मिली-जुली ज़बान होनी चाहिए जिसे आप हिन्दी कहते हैं और मैं उर्दू। इस सवाल पर बहस बेकार है कि यह नागरी, रोमन या फ़ारसी लिपि में लिखी जाये।[29] लेकिन जल्दी ही सैयद अहमद ने अपना रुख बदल लिया। 1869 में मोहसिन-उल-मुल्क को लिखे एक ख़त में उन्होंने क़बूल किया कि फ़ारसी लिपि में लिखी उर्दू मुसलमानों की निशानी है।[30] जब कि उस वक़्त तक ऐसी कोई बात नहीं हुई थी जिससे यह समझा जाता कि उर्दू केवल मुसलमानों की ज़बान है, या कि उर्दू के साथ मुस्लिम पहचान जुड़ी हुई है। बहुत पहले की बात तो छोड़ ही दीजिये, साम्प्रदायिकता के बहुत प्रचार के

बाद भी विभिन्न क्षेत्रों के मुसलमान वहां की क्षेत्रीय भाषाओं और बोलियों का ही प्रयोग करते रहे हैं। हम सभी इस बात से वाकिफ़ हैं कि पूर्वी पाकिस्तान का बंगला देश बन जाने के इतिहास में सबसे बड़ा मुद्दा इसी ज़बान से ताल्लुक़ रखता है। पूर्वी पाकिस्तान के बंगाली मुसलमानों का अपने ऊपर उर्दू के थोपे जाने के विरोध और बंगला भाषा की यथास्थिति को बनाये रखने के आग्रह को लेकर इस आंदोलन की शुरूआत हुई थी।

नागरी-फ़ारसी लिपि विवाद जब उठा तो हिन्दुओं की एक बड़ी संख्या उर्दू के पक्ष में वकालत कर रही थी और हिन्दी की विरोधी थी। इससे निष्कर्ष यह निकला कि भाषा को धार्मिक पक्षपात के नज़रिये से देखा जाना अभी शुरू नहीं हुआ था। 1869 और उसके आसपास के अलीगढ़ ग़ज़ट में प्रकाशित सामग्री से भी बखूबी इसका आभास मिलता है। पर जल्दी ही सैयद अहमद हिन्दी को 'सदियों पुरानी एक मरी हुई भाषा' और उर्दू को 'समूचे हिन्दुस्तान' की भाषा बताने लगते हैं। 30 अप्रैल 1869 के अलीगढ़ ग़ज़ट (पृ० 283) में उन्होंने कहा कि समूचे हिन्दुस्तान में उर्दू बोली जाती है। ग़ज़ट के 25 जून 1869 के अंक (पृ० 142) में उन्होंने उर्दू भाषा के विस्तार को अदन तक बताया।

सैयद अहमद का उर्दू के पक्ष में पहला तर्क यही था कि उर्दू बहुत बड़े इलाक़े में बोली जाती है। हन्टर कमीशन (1882 ई०) के समक्ष गवाही में भी उन्होंने इसे पूरे पश्चिमोत्तर प्रान्त के जनसाधारण की ज़बान कहा था।[31]

वैसे यह तर्क देते हुए सैयद अहमद यह भुला बैठे कि उर्दू और हिन्दी दोनों ज़बान के स्तर पर तो एक ही हैं। अन्तर तो लिपि का है। और अगर यह मानें कि उनके दिमाग़ में वह उर्दू थी, जिसे अरबी-फ़ारसी के भारी-भरकम शब्दों को डालकर बनाया है, तो फिर यह दावा ख़त्म हो जाता है कि उर्दू एक बहुत बड़े इलाक़े की बोलचाल की भाषा है, क्योंकि सामान्य जन भारी-भरकम अरबी-फ़ारसी शब्दों से तो वाक़िफ़ ही नहीं था। यही बात हिन्दी पर भी लागू होती है कि अगर हिन्दी से मुराद ऐसी भाषा से हो, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्द भरे पड़े हों, तो वह हिन्दी वह ज़बान नहीं रह पाएगी जिसे आम-आदमी बोल रहा है। इसलिए सैयद अहमद का यह तर्क तो सही है कि उर्दू बहुत बड़े इलाक़े की आम बोलचाल की भाषा है लेकिन वह उर्दू हिन्दी से उस तरह से जुदा नहीं है। यह तथ्य सैयद अहमद भूले जा रहे थे। या यह कहना चाहिए कि यह सारी खींच-तान नागरी और फ़ारसी लिपि की खींचतान थी, जो ज़बान के नाम पर चल पड़ी थी।

उर्दू के पक्ष में उनका दूसरा तर्क यह था कि कचहरियों में उर्दू की वजह से कामकाज में सुभीता रहेगा। वकीलों को भी फ़ारसी लिपि की वजह से आसानी रहेगी। यद तर्क इस आधार पर तो ठीक था कि कचहरियों का काम फ़ारसी

लिपि में होता आ रहा था, इसलिए वकीलों और मुंशियों, मुहर्रिरों को फ़ारसी लिपि में काम की आसानी थी। पर आम जनता में फ़ारसी लिपि का उतना प्रचलन नहीं था जितना नागरी का। इसलिए सरकारी काग़ज़ों और कचहरी के काग़ज़ों के फ़ारसी लिपि में लिखे होने पर आम जनता को परेशानी ही होती थी। दूसरी बात यह है कि चूंकि देवनागरी लिपि दूसरी सभी लिपियों की अपेक्षा उच्चारण के अधिक करीव और अधिक वैज्ञानिक है, इसलिए सरकारी काग़ज़ों में धोखाधड़ी के इरादे से फेर-बदल करने की गुंजायश भी उसमें फ़ारसी लिपि की अपेक्षा बहुत कम थी। इस सम्बन्ध में गृह विभाग को 1875 में भेजे गये एस० सी० वेली के सुझाव उल्लेखनीय हैं। एस० सी० बेली ने सरकार को सुझाव दिया कि देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी को कचहरियों और दफ़्तरों में कामकाज के माध्यम के रूप में अपनाया जाना चाहिए। कारण उन्होंने यह बताया कि फ़ारसी लिपि में बड़ी आसानी से और बखूबी परिवर्तन किये जा सकते हैं। और इस तरह सरकारी काग़ज़-पत्रों (डाक्यूमेंट्स) में धोखाधड़ी की काफ़ी गुंजायश रहती है। देवनागरी लिपि के अपनाने से इसे काफ़ी कम किया जा सकता है, क्योंकि देवनागरी लिपि में इस तरह के परिवर्तन आसानी से नहीं हो सकते।[32]

1867 में संयुक्त प्रान्त के कुछ प्रतिष्ठित हिन्दुओं ने उर्दू और फ़ारसी के स्थान पर प्रान्त की कचहरियों और राजस्व विभाग के दफ्तरों की भाषा के रूप में हिन्दी को मान्यता देने की वकालत की। इटावा डिबेटिंग क्लब के सेक्रेटरी बाबू दीनानाथ गांगुली ने यह कहा कि उर्दू को विकसित करने से अरबी और फ़ारसी शब्दों से वह बोझिल होती जाएगी और हिन्दी से उसकी निकटता धीरे-धीरे ख़त्म हो जाएगी। हिन्दी की रक्षा और उसके प्रचार के लिए प्रचारिणी सभा की स्थापना की गई। 1967 में ही गवर्नर को इस आशय की एक याचिका दी गई कि देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी को फ़ारसी लिपि में लिखी उर्दू के स्थान पर कचहरियों की भाषा बनाई जाय। 1868 की एक बैठक में अनेक विद्वानों ने यह कहा कि सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में हिन्दी सबसे अधिक विस्तृत क्षेत्र में बोली जाती है और सबसे बड़ी जन-संख्या द्वारा इसका प्रयोग होता है। संयुत प्रान्त के ले० गवर्नर सर एन्थनी मेक्डानेल ने सरकारी काम-काज की भाषा के तौर पर हिन्दी की हिमायत की।

1872 में सेन्ट्रल प्राविन्सेज़ (मध्य प्रान्त) के नौ ज़िलों की कचहरियों में उर्दू के स्थान पर देवनागरी में लिखी हिन्दी को अपनाया गया।

1872 में ही बंगाल के ले० गवर्नर सर जार्ज कैम्पबेल (1871-74) ने आदेश निकाला कि पटना और भागलपुर डिवीज़नों में प्रशासन तथा निचली अदालतों में काम-काज के लिए देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी का प्रयोग

होगा। इस आदेश में यह भी निर्देश दिया गया था कि निम्नलिखित दस्तावेज़ों में कैथी लिपि का प्रयोग हो सकता है। ये दस्तावेज़ थे—क़ानूनी कार्यवाहियां, सरकारी घोषणाएं, बन्धपत्र (बान्ड्स) प्रमाणीकरण (अटेस्टेशन्स)। साथ में आदेश में यह भी कहा था कि रोज़ाना के कार्यालयीय लेखन में फ़ारसी लिपि का व्यवहार होता रहेगा। यह आदेश भी दिया गया कि उर्दू के प्रयोग में यह ध्यान रखा जाय कि वह आसान और सामान्य व्यवहार के नज़दीक हो, न कि बनावटी और विदेशी शब्दों (अरबी) से लदी-फंदी। कैम्पबेल ने कारण यह बताया कि बिहारी "अत्यन्त ग़रीब, ज़्यादती के खिलाफ़ आवाज़ उठाने में असमर्थ और पिछड़े हुए हैं, और जब तक उनकी ज़बान (अर्थात् नागरी या कैथी लिपि में लिखी हिन्दी) कचहरियों में प्रयुक्त नहीं होगी, वे इसी तरह अमला और पुलिस, ज़मींदार और नील के मालिकों के अत्याचार और शोषण के शिकार होते रहेंगे।"[33]

जैसा कि होना था, हिन्दुओं ने इस आदेश की प्रशंसा की और दुगुने उत्साह से उर्दू के स्थान पर हिन्दी को लागू करने की पुरज़ोर अपील की। अनेक शहरों में 'हिन्दी-प्रचार सभा' की स्थापना की गई। दूसरी ओर मुसलमानों ने इस आदेश की भर्त्सना की। पर कैम्पेबल टस-से-मस न हुए, यह दूसरी बात है कि इस आदेश को ठीक से लागू नहीं किया जा सका। 23 दिसम्बर 1871 के 'दि इंडियन आब्ज़र्वर' में एक घटना का उल्लेख किया गया है, जिसे कैम्पबेल के इस आदेश के पीछे कारण के रूप में माना जाता है। घटना यों है कि जब कैम्पबेल बिहार के दौरे पर आए तो बिहार के कुछ विशिष्ट मुसलमानों ने उनका स्वागत किया। उस स्वागत-भाषण में जिस उर्दू का व्यवहार किया गया, वह इतनी कृत्रिम और अरबी-फ़ारसी शब्दों से इस क़दर लदी-फंदी थी कि कैम्पबेल की समझ में कुछ भी नहीं आया। तभी उनके दिमाग़ में यह बात घर कर गयी कि ऐसी उर्दू में सामान्य व्यवहार और प्रशासन का काम कैसे चलाया जा सकेगा।

पर अन्ततः जैसा कि होना था, कैम्पबेल के उत्तराधिकारी सर रिचर्ड टेम्पल ने ढिलाई बरती और आदेश के लागू होने की दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई। हिन्दी के समर्थकों ने आन्दोलन चलाया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और उनका पत्र 'बंगाली' इस मामले पर हिन्दी के पक्ष में बहुत कुछ लिखते रहे। बंगाल के नये ले० गवर्नर सर ऐशले ईडन ने इस पर पुनर्विचार किया, और अंततः 13 अप्रैल 1880 को आदेश निकाला गया कि बिहार की अदालतों और कार्यालयों में फ़ारसी लिपि के स्थान पर कैथी या नागरी लिपि को प्रयुक्त किया जाएगा।

पर यह आदेश भी निष्फल रहा। हिन्दी के प्रयोग में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। सर ऐशले इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि बिहार में नागरी या कैथी को

एकमात्र लिपि स्वीकृति किये बग़ैर आदेश का परिपालन नहीं हो सकेगा। 1 जनवरी 1881 को इस आशय के आदेश निकाले गए। साथ में यह आदेश भी था कि फ़ारसी लिपि का व्यवहार अदालतों में वर्जित किया जाता है। पुलिस अफसरों और अमला को हिदायत दी गई कि वे अपना काम नागरी लिपि में करें। जो कर्मचारी नागरी लिपि का ज्ञान हासिल नहीं कर पाएगा, उसके स्थान पर नागरी लिपि को जानने वाले रखे जाएंगे।

उस आदेश से मुसलमानों को बहुत क्षति पहुंची। क्योंकि अदालतों में अमला मुख़्तार से लेकर प्लीडर और अन्य अनेक जगहों पर वे काबिज़ थे। उन्होंने इसकी खिलाफ़त की। सरकार ने अपनी ओर से सफ़ाई में यह कहा कि यह हिन्दी जो शासन की भाषा होने जा रही है, यह पंडितों की हिन्दी नहीं होगी, यह वह हिन्दी होगी जो सामान्यतया बोली जाती है, और जिसमें आसानी से अरबी और फ़ारसी शब्द घुल-मिल सकते हैं।

हिन्दी के प्रयोग के इस सरकारी आदेश का हिन्दुओं ने स्वागत किया। सामान्य जनता और जमींदारों के साथ दरभंगा, डुमरांव, बेत्तिआ आदि के महाराजाओं ने भी सरकारी आदेश पर अपनी खुशी और आभार प्रकट किया।

1882 में शिक्षा कमीशन की नियुक्ति के बाद हिन्दुओं ने मांग की कि हिन्दी को अदालतों और कार्यालयों की भाषा बनाने के साथ-साथ पूरे उत्तर भारत में प्राइमरी और सेकेण्डरी स्कूलों में अनिवार्य रूप से पढ़ाया जाय।[34] हज़ारों हिन्दुओं के हस्ताक्षरों के साथ कई आवेदन-पत्र सरकार को दिये गये। इन याचिकाओं में उर्दू, फ़ारसी के ख़िलाफ़ और हिन्दी के पक्ष में बहुत कुछ कहा गया। एक याचिका में यह कहा गया कि "उर्दू जो कि अरबी और फ़ारसी का मिश्रण (हाइब्रिड) है, को हमारे भूतपूर्व शासकों ने हमारे ऊपर थोप दिया है···लेकिन यहां की जनता ने कभी भी इसे स्वीकार नहीं किया।···किसी भद्रजन हिन्दू ने कभी भी अपनी औरतों को उर्दू और फ़ारसी की शिक्षा नहीं दी, क्योंकि इन भाषाओं में लिखी गई पुस्तकें अक्सर अश्लील होती हैं और चरित्र पर बुरा असर डालती हैं।"[35]

राजा जै कृष्णदास बहादुर[36] ने कहा कि "यह बहुत अधिक कठिन है, हमारे समाज से कटी हुई तथा हिन्दू विद्यार्थियों के लिए सीखने में कठिन है।" बनारस के पंडितों ने अपनी याचिकाओं में कहा कि "यह (उर्दू) हिन्दुओं की धार्मिक और सामाजिक अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं करती।" मेरठ एसोसिएशन की याचिका में कहा गया कि इसकी लिपि अरबी है, जो मुसलमानों की पवित्र भाषा है, उसे रूढ़िवादी हिन्दू कभी भी छू नहीं सकता।

इस तरह के विचारों और परिवर्तन के माहौल से मुस्लिम नेताओं का बहुत अधिक चिन्तित होना स्वाभाविक था। निचली कचहरियों में काम करने वाले

कर्मचारियों में खासी बड़ी संख्या मुसलमानों की थी, राजस्व आदि के दफ़्तरों में भी उनकी संख्या अच्छी-खासी थी और वे फ़ारसी लिपि में लिखी उर्दू में ही काम-काज के आदी थे। सैयद अहमद खां की सलाह पर पंजाब में 'अंजुमन-ए-हिमायत-ए-उर्दू' की स्थापना हुई।

कुछ दूसरे मुस्लिम नेता जो राजनीतिक फ़ायदा उठाने की तलाश में थे, इसे एक अच्छा मौक़ा समझकर मैदान में उतरे। सैयद अमीर अली जैसे मुस्लिम नेताओं ने मुसलमानों से अपील की कि हिन्दुओं से सम्बन्ध तोड़ लिये जायें। उन्होंने एक ओर हिन्दुओं से सम्बन्ध तोड़ने का प्रचार किया और दूसरी ओर अंग्रेज शासकों से सम्बन्धों में सुधार की वकालत की। कट्टरपंथी मुस्लिम नेताओं की हिन्दू-विरोधी और ब्रिटिश-सत्ता समर्थक नीति 1885 के बाद और भी खुलकर सामने आती है, जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई, जिसे सैयद अहमद खां और कुछ दूसरे मुस्लिम नेताओं ने हिन्दुओं की संस्था के रूप में प्रचारित किया। 1886 में सैयद अहमद खां ने 'मोहम्मडन (बाद में मुस्लिम) एजुकेशन कांफ्रेंस' को आरम्भ किया, जो कि वास्तव में एक राजनीतिक संस्था थी। इस संस्था के माध्यम से उन्होंने पूरे देश के मुसलमानों को एकजुट करने का प्रयास किया। उनका असर उच्च-मध्य वर्ग के मुसलमानों पर अधिक पड़ा।

हिन्दू समाज : नई करवटें

1875 में दयानन्द सरस्वती (1824-83) ने बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। आर्य समाज सनातन हिन्दू-धर्म में सुधार के प्रयोजन को रखे हुए था। साथ ही समाज में प्रचलित अनेक कुरीतियों को भी उसने निशाना बनाया। मूर्तिपूजा और बहुदेववाद के वह ख़िलाफ़ था, विधवा-विवाह का वह समर्थक था और बाल-विवाह का विरोधी। आर्य समाज की मूल चिन्ता वैदिक हिन्दू-धर्म की पुनर्स्थापना थी। हिन्दू समाज में समय के कारण आ गई खराबियों को काटकर अलग करना और हिन्दू-धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना उसका उद्देश्य था। हिन्दू-धर्म की रक्षा का उसने नारा दिया। यही कारण है कि मुस्लिम-बहुल पंजाब में आर्य समाज सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ। बहुल मतावलम्बियों के बीच अल्पमत धर्म वालों की जो मानसिकता होती है, वही मानसिकता पंजाब के हिन्दुओं में दिखाई देती है। ऐसे में अल्प मतावलम्बी (मायनार्टी) अधिक संगठित और धार्मिक स्तर पर अधिक कट्टर हो जाते हैं, अधिक असहिष्णु जैसे कि संयुक्त प्रांत या बिहार के मुसलमान पंजाब या बंगाल के मुसलमानों की अपेक्षा अधिक कट्टर

रहे हैं। यह मात्र संयोग नहीं है कि पाकिस्तान की मांग का शोर सबसे ज़्यादा संयुक्त प्रान्त से उठा था। या गोबध को अपना क़ौमी हक़ समझने वाले मुसलमान सबसे अधिक संयुक्त प्रान्त में हुए हैं। इसी तरह पंजाब के हिन्दुओं में हिन्दू-धर्म की रक्षा का नारा बहुत लोकप्रिय हुआ। 1891 में आर्य समाज के 40000 सदस्य थे, 1901 में सदस्य संख्या 92000 हो गई और 1921 में आर्य समाज के सदस्यों की संख्या पांच लाख तक पहुंच गयी। पंजाब के आर्य समाज के प्रमुख नेताओं में लाला लाजपत राय, स्वामी श्रद्धानन्द (लाला मुंशीराम), लाला हंसराज, गुरुदत्त आदि थे।

आर्य समाज द्वारा प्रचारित वैदिक हिन्दूवाद और हिन्दू साम्प्रदायिकता तथा मुसलमान बन गये हिन्दुओं की शुद्धिकरण-प्रक्रिया द्वारा पुनः हिन्दू-धर्म में प्रवेश ऐसे मुद्दे थे, जिनका टकराव सैयद अहमद खां द्वारा लाई मुस्लिम साम्प्रदायिकता से होना ही था। दोनों धर्मों के कट्टर-पंथियों ने धर्म-रक्षा के नाम पर अपने-अपने धर्मों को काफ़ी क्षति पहुंचाई। तिलक द्वारा 1894 में गणपति उत्सव और 1896 में शिवाजी उत्सव की स्थापनाओं से हिन्दू साम्प्रदायिकता को बल मिला। शिवाजी उत्सव में मुस्लिम साम्प्रदायिकता को भड़काने का ब्रिटिश सत्ता को एक बड़ा मौक़ा हाथ आया। अंग्रेज़ों ने यह प्रचारित किया कि शिवाजी (जो आजीवन औरंगजेब से लड़ते रहे थे) के आदर्श से तिलक हिन्दुओं को मुस्लिम क़ौम से घृणा का पाठ पढ़ा रहे हैं, और कि मुसलमान यदि वक़्त रहते नहीं चेते और हिन्दुओं के ख़िलाफ़ उठ खड़े नहीं हुए तो उनका अस्तित्व ही ख़तरे में पड़ जायेगा।

1892 में जब लेजिस्लेटिव काउंसिल का विस्तार किया गया तो यह ध्यान रखा गया कि सदस्य धार्मिक और साम्प्रदायिक वर्गों के प्रतिनिधि हों और इस तरह सरकार ने सम्प्रदायवाद को खुलकर प्रश्रय देने की नीति अख़्तियार की। 16 मार्च 1893 को इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल में बोलते हुए लैंन्स-डाउन ने कहा : "टु आब्टेन फ़ॉर दीज काउंसिल्स दि सर्विसेज ऑफ़ मेम्बर्स हू विल बी इन दि ट्रू वेस्ट सेन्स रिप्रजेन्टेटिव्ज बट हू विल रिप्रजेन्ट टाइप्स एण्ड क्लासेज़ रादर दैन एरियाज़ एण्ड नम्बर्स।"

अंग्रेज़ों की यह लगातार कोशिश रही कि हिन्दुस्तान की धार्मिक और सांस्कृतिक विभिन्नता को और बढ़ा-चढ़ाकर धार्मिक और सांस्कृतिक भेद से उत्पन्न होने वाले वैमनस्य को बनाये रखने में मदद की जाय, जिससे हिन्दू और मुसलमान कभी एक न होने पाएं।

अंग्रेज़ों के आने के बाद पैदा होने वाला मध्यवर्ग जो कि शिक्षित था, के मन में नौकरियों और दूसरे सरकारी फ़ायदों के प्रति जो ललक थी, उसका भी अंग्रेज़ों ने पूरा फ़ायदा उठाया। सरकारी नौकरी एक ऐसा मसला था, जिसमें

आधुनिक तर्ज़ पर पढ़े-लिखे मुसलमान हिन्दुओं को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानते थे, अंग्रेज़ों ने उस प्रतिद्वन्द्विता को अनेक तरह से बढ़ाया था। आधुनिक ढंग से पढ़े-लिखे मुसलमान की बात इसलिए कही जा रही है, क्योंकि मुस्लिम उलमा हमेशा अंग्रेज़ों की ख़िलाफ़त करते रहे थे। यहां यह भी ध्यान रखने की बात है कि कांग्रेस भी मूलत: मध्यवर्ग का संगठन था। मध्यवर्ग जो अंग्रेज़ी राज से पैदा हुआ था, तीन दिशाओं में उभर रहा था—सरकारी नौकरी और व्यवसाय में, कारखानों में और कृषि में।

उन्नीसवीं सदी में हिन्दू-धर्म का पुनर्जागरण हो रहा था। 1890 में बाल गंगाधर तिलक ने कन्सेंट बिल की इस आधार पर ख़िलाफ़त की कि विदेशी सरकार को कोई हक़ नहीं है कि वह हिन्दू-धर्म और समुदाय के मामलों में कोई दख़ल दे।

बाल गंगाधर तिलक चितपावन ब्राह्मण थे, उन्होंने दूसरे सुधारवादी (रूढ़िमुक्त) ब्राह्मणों के साथ मिलकर 'डक्कन एजूकेशनल सोसायटी' की स्थापना की। 1880 में सोसायटी ने न्यू इंग्लिश स्कूल को स्थापित किया। 1884 में फर्ग्यूसन कॉलेज की स्थापना की गई। फर्ग्यूसन उस समय बाम्बे प्रेसिडेन्सी के गवर्नर थे। सोसायटी ने मराठी में 'केसरी' और अंग्रेज़ी में 'मराठा' समाचार-पत्रों को स्थापित किया।

1893 में तिलक ने गो-रक्षा अभियान चलाया। 1894 में उन्होंने गणपति उत्सव की शुरुआत की। गणेश की बड़ी-सी मूर्ति के सम्मुख दस दिन तक नाटक, खेल-कूद, भाषण, धार्मिक प्रवचन जैसे अनेक क्रिया-कलाप होते थे और उसके बाद गणपति प्रतिमा को नदी, तालाब या समुद्र में सामूहिक जुलूस की शक्ल में ले जाकर विसर्जित किया जाता था।

तिलक ने 1894 में जब गणपति उत्सव को सार्वजनिक उत्सव का रूप दिया तो उसकी पृष्ठभूमि को— 1893 के बम्बई और 1894 के पूना के दंगों को भी लेना चाहिए। 'मराठा' (अगस्त 20, 1893) ने इन दंगों के लिए मुसलमानों को दोष दिया था। 'मराठा' ने लिखा कि हिन्दुओं ने नहीं, बल्कि मुसलमानों ने जामा मस्जिद से दोपहर की नमाज़ के बाद पास के मंदिरों पर धावा बोलना शुरू किया। बम्बई के हिन्दुओं ने आत्म-रक्षा में कार्यवाही की। 'मराठा' ने दंगों के लिए मुसलमानों के साथ बम्बई पुलिस को भी दोषी बताया। उसके अनुसार बम्बई पुलिस दंगों की सम्भावना से पहले से ही पूरी तौर पर वाक़िफ़ थी। शुरू में ही उसे दबा दिया जाए, इसके लिए उसने कोई कार्यवाही नहीं की। पर बम्बई और पूना के उदारवादी नेताओं के अनुसार दंगा निम्न श्रेणी के हिन्दुओं और मुसलमानों के भावोन्माद का परिणाम था, इसके लिए किसी एक समुदाय को दोष देना उचित नहीं है। बम्बई के हिन्दू, मुस्लिम दोनों

समुदायों के लोगों ने संयुक्त बैठक की और दोनों समुदायों के लोगों ने शहर की सड़कों पर एकता के जुलूस निकाले।[37]

अधिकतर हिन्दू-मुस्लिम दंगों के पीछे कारण के रूप में गोवध या मस्जिद के सामने गाने-बजाने के मुद्दे रहे हैं। बम्बई में 1887 में एक 'गोरक्षक मंडली' बनायी गयी, जिसका काम 1892 तक गोशालाओं के बनाने तक ही सीमित रहा। 1893 में बम्बई में दूसरी मंडली बनी जिसका नाम 'गोपालन उपदेशक मंडली' रखा गया, जिसने बड़े जोर-शोर से गोवध के ख़िलाफ़ विरोध प्रदर्शन शुरू किया। साम्प्रदायिक भावना फैलाने में इन विरोध प्रदर्शनों ने आग में घी का काम किया। एस० कृष्णास्वामी[38] ने बम्बई और डक्कन के दंगों पर एक मोनोग्राफ़ निकाला, जिसमें उन्होंने 1893 के बाद के दंगों के लिए पूना के ब्राह्मणों को दोषी बताया है।

गणपति उत्सव मनाने की महाराष्ट्र में वैसे बड़ी पुरानी परम्परा थी। पर परम्परा से मनाया जाने वाला उत्सव व्यक्तिगत स्तर पर ही मनाया जाता था, उसको व्यवस्थित ढंग से सार्वजनिक मेले और उत्सव का रूप देने का श्रेय लोकमान्य को है। तिलक ने गणेश उत्सव के माध्यम से ब्राह्मणों और ब्राह्मणेतर जातियों को एकजुट करके उनमें राजनीतिक मक़सद को डालने की कोशिश की। कहना न होगा कि उनकी यह कोशिश काफ़ी सफल रही थी। 'केसरी' के 8 सितम्बर 1896 के अंक में उन्होंने लिखा कि क्यों न हम बड़े-बड़े धार्मिक उत्सवों को जन-राजनीतिक रैलियों में बदल दें।

तिलक ने गणपति उत्सव से मुहर्रम के जुलूसों में हिन्दुओं के शरीक होने से मना करने का काम भी लिया। मुहर्रम के जुलूसों में हिन्दू भी खुलकर शिरकत करते थे। गणपति उत्सवों में उन्हें यह समझाया गया कि मुहर्रम के जुलूसों में हिन्दुओं को भाग नहीं लेना चाहिए, क्योंकि इस्लाम एक बाहरी और गैर-धर्म है। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू जो अब तक मुहर्रम के जुलूसों में खुलकर हिस्सा लेते थे, 1894 के मुहर्रम में नगण्य संख्या में रहे।[39] इस तरह हिन्दू-मुस्लिम सहकार में दरार पड़ी। तिलक ने इन उत्सवों के माध्यम से यह भी प्रदर्शित किया कि ब्राह्मण और दूसरी हिन्दू जातियों में उस तरह के विभेद नहीं हैं, जैसा कि अंग्रेज़ों ने बताने की कोशिश की है। कुल मिलाकर गणेश उत्सव, दरअसल उतना धार्मिक उत्सव नहीं था, जितना राजनीतिक उत्सव के रूप में उसकी प्रसिद्धि हुई। पूना के 1894 के गणपति उत्सव में कोई 100 सार्वजनिक गणपति के जुलूस पालकियों और गाड़ियों में शामिल थे, जिसके पीछे 75 बैण्ड पार्टियां थीं, भिन्न-भिन्न 70 मेले थे, 20 लेज़िम वाले समूह थे, और 25000 से ऊपर लोग जुलूस में शामिल थे।[40]

इसके बाद तिलक ने 1896 में शिवाजी उत्सव को आरम्भ किया। शिवाजी

मराठा साम्राज्य के संस्थापक (17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध) और क्षत्रिय नायक थे। महाराष्ट्र के बहुत से धनी और क्षत्रिय घरानों के पूर्वज शिवाजी के आभारी और उनसे जुड़े हुए थे। तिलक ने शिवाजी महोत्सव की शुरूआत करके एक ऐसे धीरोदात्त नायक को लोगों के बीच खड़ा किया, जो सबका श्रद्धेय था। ब्राह्मणों और ब्राह्मणेतर वर्णों को एक झंडे के नीचे लाने का यह एक सफल उपक्रम था।

तिलक के पहले राना-डे (राइज़ ऑफ दि मराठा पॉवर) ने अंग्रेज़ इतिहासकारों के इस मिथ को तोड़ने का प्रयास किया था कि शिवाजी लुटेरों के सरदार थे। राना-डे ने शिवाजी को ऐसे व्यक्ति और राजा के रूप में चित्रित किया, जो सबके प्रति सदाशयता से भरा हुआ और मानवीय गुणों से अलंकृत था।

शिवाजी महोत्सव की जो कमेटी बनायी गयी, उसमें तिलक ने यह स्पष्ट किया कि कमेटी जातिगत आधार पर नहीं होगी। जो भी शिवाजी का प्रशंसक है, वह शिवाजी फंड में चंदा देकर कमेटी का सदस्य बन सकता है। मई 1895 में तिलक ने शिवाजी महोत्सव को मनाने से सम्बन्धित जो बैठक बुलाई, उसमें रखे गये प्रस्तावों में से एक प्रस्ताव का अनुमोदन एक मुस्लिम सरदार ने किया था। तिलक ने इस ओर संकेत किया कि बहुत से मुस्लिम इनामदार (होल्डर ऑफ़ लैण्ड ग्रान्ट) अपने इनामों के लिए शिवाजी के प्रति आभारी हैं। यह महोत्सव मुसलमानों को अलगाने या उन्हें चिढ़ाने के ख़याल से नहीं किया जा रहा है। समय बदल गया है, अब मुसलमान और हिन्दू दोनों एक ही नाव में सवार हैं।[41]

पहला शिवाजी महोत्सव रायगढ़ के क़िले में, जहां शिवाजी की ताजपोशी हुई थी, और जहां उनकी समाधि है, 15 अप्रैल 1896 को शुरू हुआ, जो तीन दिन तक चला। मशाल-जुलूस निकला गया, जिसमें शिवाजी और रामदास के चित्रों को बाजे-गाजे के साथ घुमाया गया। लेकिन, शिवाजी-आन्दोलन को आशातीत सफलता नहीं मिल सकी, क्योंकि राजाओं और सरदारों तथा अमीरों ने दान देने में काफ़ी कोताही की। परिणाम यह हुआ कि रायगढ़ में जहां सालाना उत्सव मनाया जाना था, 1906 तक केवल तीन उत्सव (1896, 1900 और 1906 में) मनाये जा सके।

1893 में कोल्हापुर में जहां शिवाजी के वंशज राजा थे, शिवाजी क्लब की स्थापना की गई, जिसे 1897 में कोल्हापुर के महाराजा शाहू (1894-1922) ने ग़ैरक़ानूनी करार दिया, और उस पर छापे मरवाये। महाराष्ट्र में हर आन्दोलन और हर राजनीतिक सामाजिक कार्यक्रम, जिसे हिन्दुओं ने चलाया, के साथ शिवाजी का नाम जुड़ा रहा। हिन्दू महासभा के नेता और क्रान्तिकारी वीर सावरकर के अनुसार शिवाजी शक्तिशाली हिन्दू-राज के प्रतीक

हैं, ऐसे राज्य के जिसकी गरिमा गऊ और ब्राह्मणों की रक्षा में है और जिसमें हिन्दुओं के रीति-रिवाज़ और नियम-क़ानून को सुरक्षित रखा जा सकेगा··· भारत को बुद्ध की नहीं, शिवाजी की ज़रूरत है।[42] हालांकि इन उत्सवों के पीछे उद्देश्य जनता में राजनीतिक चेतना को जगाना था, और यह चेतना जागी भी, लेकिन इन उत्सवों को चूंकि हिन्दू धर्म की पौराणिक कथा से और हिन्दू धर्म के रक्षक के ऐतिहासिक तथ्य से, क्रमशः लिया गया था, इसलिए अंग्रेज़ों ने इसका इस्तेमाल मुसलमानों को भड़काने के लिए किया। यह प्रचारित किया गया कि यह उत्सव मुसलमानों के ख़िलाफ़ है। हिन्दुओं की आन-बान की रक्षा के लिए ज़िन्दग़ी भर औरंगजेब से लड़ने वाले शिवाजी को प्रतीक मानकर उत्सव मनाना मुसलमानों को नीचा दिखाने का उपक्रम है। अंग्रेज़ों की इस उकसाने वाली कार्रवाई का मुसलमानों पर असर पड़ा, और परिणामतः हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों में गांठ पड़ी। इस बीच अनेक स्थानों पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे भी हुए, पूना में भी 1893 में दंगा हुआ, जिससे मुस्लिम क़ौम को भड़काना मुस्लिम नेताओं और अंग्रेज़ों के लिए आसान हो गया।

पहला वह अंग्रेज़ लेखक वैलेन्टीन शिराल था, जिसने 'इंडियन अनरेस्ट' में तिलक को ऐसे हिन्दू नेता के रूप में बताने की कोशिश की जो मुसलमानों का विरोधी है। उसके बाद अनेक अंग्रेज़ और उनके पिट्ठू हिन्दुस्तानी लेखकों ने तिलक को सम्प्रदायवादी हिन्दू नेता के रूप में चित्रित करने की कोशिश की। निश्चय ही सैयद अहमद और दूसरे मुस्लिम नेता इन विचारों को मानने में ही अपनी और अपनी क़ौम की भलाई देख रहे थे। यह उनकी अदूरदर्शिता थी, क्योंकि अंग्रेज़ हिन्दू-मुसलमान के बीच की खाई को हर ऐसे मौक़े पर चौड़ी करते जा रहे थे। तिलक ने जगह-जगह पर यही कहा कि अगर वे उत्तर में होते तो वे शिवाजी की जगह अकबर को हिन्दू-मुस्लिम जनता के नायक के रूप में स्वीकार कर जनता को एक-दूसरे के करीब लाने में इस बात का प्रचार करते पर चूंकि दक्षिण में लोगों के दिलों पर शासन करने वाला नाम केवल शिवाजी का है, इसलिए उन्हीं के द्वारा लोगों को एकजुट किया जा सकता है, एक नई स्फूर्ति पैदा की जा सकती है। तिलक के इस तर्क की, ज़ाहिर है कि अंग्रेज़ और मुसलमान लेखकों और बुद्धिजीवियों ने जान-बूझकर अवहेलना की।

गणपति पूजा और शिवाजी उत्सव से हिन्दू-मुस्लिम दूरी बढ़ी, पर लगता यही है कि इनकी स्थापना के पीछे उद्देश्य देशवासियों में राष्ट्र-प्रेम की भावना को उत्पन्न करना ही था। 1916 का हिन्दू-मुस्लिम लखनऊ समझौता (पैक्ट) मूलतः तिलक की कोशिशों का परिणाम था। ख़िलाफ़त आन्दोलन के पक्ष में भी तिलक ने वक्तव्य दिए थे। उन्होंने कहा था, "मेरे ख़याल में ख़िलाफ़त आन्दोलन में मुसलमानों को साथ देने का विचार हर तरह से उचित है, और इस आन्दोलन

में महात्मा गांधी की अगुवाई का समर्थन सभी को करना चाहिए ।"

तिलक का 1916 का होमरूल आन्दोलन दरअसल उनका पहला प्रयास था राष्ट्रीय स्तर पर प्रचार और आन्दोलन का । गणपति उत्सव और शिवाजी महोत्सव ने महाराष्ट्र का एकछत्र नेता उन्हें बनाया था, पर महाराष्ट्र के बाहर इन उत्सवों का प्रचार-प्रसार बहुत नहीं हो सका था । इन उत्सवों के मुद्दे भी कुल मिलाकर क्षेत्रीय थे और बम्बई प्रेसिडेंसी तक महदूद थे । तिलक के होमरूल लीग को जन-आंदोलन के रूप में बहुत अधिक सफलता मिली । 1916 में एक हज़ार इसके सदस्य थे, 1917 में सदस्य संख्या चौदह हज़ार हो गयी, 1918 में बत्तीस हज़ार सदस्य थे, और 1921 तक सदस्यों की संख्या 40,000 से ऊपर हो गयी । अप्रैल 1917 के 14128 सदस्यों में ब्राह्मणों की संख्या 42 प्रतिशत थी, ब्रह्माणेतर हिन्दुओं की संख्या 43 प्रतिशत तथा मुस्लिम सदस्यों की संख्या दो प्रतिशत थी ।[43] इन आंकड़ों के बावजूद इस बात के संकेत मिलते हैं कि तिलक का अपना झुकाव ब्राह्मणों की ओर लगातार बना रहा ।

दोनों धर्मों में धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की प्रवृत्ति बढ़ रही थी । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बम्बई में 1875 में आर्य समाज की नींव रखी, जो वैदिक मूल्यों के प्रति हिन्दू समाज को जागृत करने का प्रयास था । आर्य समाज ने मुसलमान या ईसाई हो गए हिन्दुओं को पुनः हिन्दू धर्म में प्रविष्ट होने के लिए बन्द रास्ते को खोला । कलकत्ता में राधाकान्त देव की धर्म-सभा का जन्म उन्नीसवीं सदी के दूसरे दशक में ही हो चुका था । 'धर्म-सभा' ने ईसाई मिशनरियों के प्रभाव से हिन्दू धर्म को मुक्त रखने की कोशिश की । 1889 में हेडगेवार ने नागपुर में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की स्थापना की । संघ कट्टर हिन्दू-राष्ट्रवाद का समर्थक था ।

मुसलमानों में दिल्ली में शाह वली उल्लाह इस धार्मिक-सांस्कृतिक पुनरुत्थान के अगुवा थे । उन्हीं के शिष्यों ने देवबन्द के उस मशहूर मदरसा दारूल-ऊलम की स्थापना की, जो मुस्लिम धार्मिक-सांस्कृतिक पुनर्जागरण में अपना विशिष्ट स्थान रखता है ।

पर दोनों धर्मों की पुनरुत्थानवादी ताक़तों में एक बड़ी कमी यह थी कि दोनों में आपसी सामरस्य का अभाव था और इस आपसी सामरस्य के अभाव के कारण कट्टरतावादी तत्त्व हावी रहे, दूसरी ओर इस समस्या के अभाव के कारण अंग्रेज़ी सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए एक-दूसरे से सहयोग की अपेक्षित भावना पैदा नहीं हो पायी । दोनों मिल-जुलकर समान उद्‌देश्य को आगे रखकर कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने में कामयाब नहीं रहे । यह कुछ तो इस कारण हुआ कि आपसी सम्पर्क और सहयोग का अभाव था और कुछ इस कारण कि अंग्रेज़ दोनों धर्मों के धनी और विशिष्ट वर्ग को फुसलाने में कामयाब रहे ।

उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी दो-तीन दशकों में हिन्दुओं और मुसलमानों में दो बड़े मतभेद पैदा हुए—ऐसे मतभेद जो फिर सुलझ नहीं सके। दरअसल ये वास्तविक रूप में साम्प्रदायिकता के मुद्दे थे। पहला वास्तविक मुद्दा नागरी-उर्दू विवाद था और दूसरा गोरक्षा और गोवध को लेकर था। ये दोनों मुद्दे वक्त के साथ हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायों में भीतर तक धंसते चले गए।

बनारस के कुछ हिन्दुओं ने 1868 में देवनागरी के व्यवहार की मांग की। 1869 में सैयद अहमद ने पहली बार मुसलमानों की एक अलग इकाई की बातें कहनी शुरू कीं। संयुक्त प्रान्त के ले० गवर्नर मेक्डानेल ने 1900 में हिन्दुओं की मांग मानकर देवनागरी में लिखी हिन्दी को उर्दू के साथ कचहरियों की भाषा का दरजा दिया। गोरक्षा के सवाल पर हिन्दू धर्म के साथ गऊ मां के रूप में सर्वमान्य थी। उनका यह भी कहना था कि यदि गाय ही न रही, तो खेतों को जोतने के लिए बैल कहां से मिलेंगे? हिन्दुस्तान की अधिकांश आबादी की रोज़ी-रोटी खेती से जुड़ी हुई है। गोरक्षा को लेकर क़ानून बनाने का दबाव लगातार पड़ रहा था। संयुक्त प्रान्त के अनेक शहरों की म्युनिसिपैल्टियों ने शुद्धता की दलील पर बूचड़खानों और कबाब वेचने वाली दुकानों पर अनेक पाबंदियां लगा दी थीं।

वैसे गोवध की यह समस्या काफी पहले से चली आ रही थी। पंद्रहवीं शताब्दी के कबीरदास (1440-1518) इस समस्या से पूरी तरह वाक़िफ़ थे, तभी तो उन्होंने यह लिखा कि 'दिन भर रोज़ा रहत हो, रात हनत हो गाय।' यह भर्त्सना इस ओर संकेत करने के लिए काफी है कि उनके ज़माने में गोवध का विरोध हो रहा था। यह दूसरी बात है कि मुस्लिम शासन होने की वजह से यह विरोध बहुत मुखर नहीं हो पाया था। उस विरोध की प्रतिध्वनि कबीर के इस दोहे में है। यहां यह कहने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए कि कबीर अपने समय के सबसे अधिक निडर व्यक्ति थे।

1881 में दयानन्द सरस्वती ने 'गऊ करुणानिधि' नाम से एक पैम्फलेट निकाला और उसके कुछ अरसे बाद अनेक जगहों पर गऊ-रक्षिणी सभाएं बनायी गयीं, जिनकी गतिविधियां धीरे-धीरे काफ़ी फैलीं। ये गऊ-रक्षिणी सभाएं इस बात पर निगाह रखने लगीं कि कोई आदमी अपनी गाय बूचड़खाने को बेचने न पाये। दूसरी ओर मुसलमानों में गोमांस खाना एक तरह से धार्मिक कृत्य का दरज़ा ले चुका था, ख़ासतौर पर बकरीद के मौक़े पर। उन दिनों गोवध को लेकर अनेक स्थानों पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। 1880 से, दरअसल, हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता सही मायने में साम्प्रदायिक रूप धारण करती है।

सुमीत सरकार[44] का ख़याल है कि मुसलमानों में साम्प्रदायिक अलगाववाद के पैदा होने का प्रमुख कारण उनका पिछड़ापन नहीं है, जैसा कि बहुत से अंग्रेज़

लेखकों का कहना था। असली कारण कुछ और है। हिन्दू व्यवसायियों का अनेक व्यवसायों पर कब्ज़ा करने, अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे हिन्दुओं की तादाद अधिक होने, हिन्दुओं के सरकारी नौकरियों और दूसरे सफेदपोश पेशों जैसे वकालत, डॉक्टरी आदि में अधिक तादाद में आने, साथ ही म्यूनिसिपैल्टियों के प्रबंध पर क़ब्जा करने तथा तेज़ी से हिन्दुओं द्वारा ज़मीन की खरीद से उच्च वर्ग के मुसलमानों में आतंक का माहौल पैदा हुआ। यही मुस्लिम उच्च वर्ग मुस्लिम अलगाववाद को पैदा करने वाला था।

आर्य समाज का एक बहुत बड़ा काम हिन्दी को 'देवनागरी लिपि' में प्रचारित करना था। दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी में प्रवचन दिये। लाला हंसराज और लाला लाजपत राय के प्रयत्नों से दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेजों और स्कूलों की जो श्रृंखला तैयार हुई, उससे भी हिन्दी का बहुत प्रचार-प्रसार हुआ। लाला लाजपत राय ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि 1880 के साथ शुरू होने वाले दशक में हिन्दी-उर्दू विवाद के ज़ोर पकड़ने के कारण ही वे 'हिन्दू राष्ट्रवाद' के समर्थक हो गए थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियों और समकालीनों ने हिन्दी गद्य में जो रचनाएं कीं, उनसे खड़ी बोली—हिन्दी का एक मुकम्मल ढांचा खड़ा हुआ। जो गद्य पुस्तकें लिखी जा रही थीं, उनमें सामाजिक जागरूकता के साथ-ही-साथ राजनीतिक चेतना को स्वर मिल रहा था। राष्ट्रीयता की भावना ज़ोर पकड़ रही थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850-85) के साथ-साथ बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि अनेक साहित्यकार एक साथ हिन्दी गद्य और पद्य को विविध विषयों से समृद्ध कर रहे थे। ये सभी लेखन के माध्यम से ब्रिटिश सत्ता का परोक्ष विरोध और राष्ट्रीयता का समर्थन तथा सामाजिक कुरीतियों की ओर लोगों का ध्यान दिला रहे थे। इनमें से अधिकतर ने पत्र भी निकाले, और सत्ता का विरोध तथा कुरीतियों पर आघात इन पत्रों के माध्यम से इन्होंने किया। 1885 में भारतीय भाषाओं के समाचार-पत्रों का कुल वितरण 29,9000 था, जब कि 1905 में यह 8, 17000 हो गया।

आर्य समाजियों और दूसरे हिन्दू संगठनों द्वारा देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी को काम-काज की भाषा बनाने की मांग लगातार की जा रही थी। 1900 में संयुक्त प्रान्त की कचहरियों में देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी को उर्दू के बराबर का दरजा मिला। इन्हीं दिनों नागरी प्रचारिणी सभा को सरकारी अनुदान मिला और बनारस में हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करने के प्रस्ताव पर भी सरकार ने सहानुभूति दिखाई। इन बातों से कुछ लोगों का यह सोचना है कि संयुक्त प्रान्त के ले० गवर्नर मेक्डानेल का कुछ झुकाव हिन्दुओं की ओर था।

इन गतिविधियों से मुस्लिम साम्प्रदायिक तत्त्वों को उर्दू के अस्तित्व को ख़तरा दिखाई दिया। और उर्दू को, केवल उर्दू को ही, कचहरियों की भाषा की मान्यता देने के लिए अनेक आन्दोलन हुए। 'उर्दू डिफ़ेन्स एसोसिएशन' की स्थापना मुसलमानों के द्वारा हुई। इस पूरे झगड़े से हिन्दी हिन्दुओं के साथ और उर्दू मुसलमानों के साथ, या यों कहें कि हिन्दी हिन्दू धर्म के साथ और उर्दू इस्लाम के साथ जुड़ गयी।

कुछ इतिहासकारों का यह मानना है कि हिन्दुओं का हिन्दी को सरकारी काम-काज की भाषा बनाने की मांग के पीछे केवल यह कारण नहीं था कि इससे उन्हें काम करने की सहूलियत रहेगी, या हिन्दुओं को कचहरियों और दूसरे सरकारी दफ़्तरों में अधिक नौकरियां मिलेंगी। यह अपनी जगह एक प्रमुख कारण था, परन्तु इस मांग के पीछे हिन्दू पुनर्जागरण की मानसिकता भी काम कर रही थी। यह मानसिकता ब्रिटेन की नैतिक, बौद्धिक और भौतिक उच्च भाव जिसे बात-बात में प्रदर्शित किया जाता था, और यहां की नैतिकता, बौद्धिकता और भौतिकता को हीन कहकर अंग्रेज़ों द्वारा उपहास किया जाता था, उसकी प्रतिक्रिया से रूप में भी था। यह प्रतिक्रिया यहां के मध्यवर्ग में पैदा हुई थी। हिन्दू-पुनर्जागरण भी मूलतः मध्य वर्ग में आया था। और मध्य वर्ग ही हिन्दू संस्कृति की उच्चता को प्रचारित करने वाला, तथा सामाजिक उत्थान और राजनीतिक संगठन की स्थापना करने वाला साबित हुआ। हिन्दू मध्य-वर्ग के मनोबल को उठाने वाली अनेक खोजें 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में सामने आयी थीं। विलियम जोन्स (1746-94) की यह स्वीकारोक्ति कि संस्कृत भाषा "ग्रीक से अधिक पूर्ण और उत्कृष्ट तथा लैटिन से अधिक ज्ञान-बहुल (कोपियस) और दोनों से अधिक परिष्कृत है।"[45] तथा मैक्समूलर (1823-1900) का वेदों को विलायती समाज के सम्मुख लाने और उनकी महाकाव्यात्मक विराटता को उजागर करने से हिन्दुओं को आत्मिक और मानसिक बल मिला। मोनियर विलियम्स ने कहा कि "···रामायण और महाभारत की इलियड और ओडीसी से तुलना करना वैसा ही है, जैसा सिंध और गंगा, जो हिमालय के बर्फ़ानी इलाकों से निकलती हैं और अपनी सहायक नदियों से गले मिलती हुई कहीं बेहद फैली हुई और कहीं अथाह गहरी शान-शौकत के साथ बहती हैं, का अटीका और थेसिली के नालों और पहाड़ी सोतों से तुलना करना।" जर्मनी के मशहूर दार्शनिक श्लेगल ने कहा कि "रामायण संसार का सबसे महान महाकाव्य है।"

दूसरी सदी ईसापूर्व से लेकर ईसा की छठी शताब्दी तक की अजन्ता की अत्यन्त उत्कृष्ट कला का विश्व के सम्मुख प्रकट होना, जो 1819 में कुछ अंग्रेज़ फौजी अफ़सरों को अचानक ही दिखाई पड़ गयी थी, आदि इस तरह की

घटनाएं थीं, जिनसे हिन्दू संस्कृति की उच्च नैतिकता, बौद्धिकता और भौतिक समृद्धि पर बखूबी प्रकाश पड़ता था। इसके बलबूते पर ब्रिटिश उच्चता और कुलीनता के मिथ को बखूबी झुठलाया जा सकता था। इससे यह भी साबित होता था कि ईसापूर्व के साढ़े तीन हज़ार साल पूर्व से लेकर मुसलमानों के आने तक हिन्दुओं का यहां समृद्ध शासन था, उनकी समृद्ध संस्कृति थी, और उच्च नैतिकता के वे धनी थे। ये खोजें अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम और उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू के वर्षों में एक चमत्कार साबित हुई थीं। हिन्दू मध्य वर्ग इस चमत्कार के कारण एक नये उत्साह से भर उठा था। स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824-1883), स्वामी विवेकानन्द (1863-1902) तथा दूसरे मनीषियों का हिन्दू धर्म और संस्कृति की सर्वोत्कृष्टता को ठोस उदाहरणों और तर्कों के माध्यम से बखूबी साबित करने से भी हिन्दू मध्य वर्ग में आत्मविश्वास पैदा होता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी में ही अपने उपदेश दिये, हिन्दी में ही उन्होंने लिखा।

11 सितम्बर 1893 को शिकागो में आयोजित धर्म-महासभा में एक सौ बीस करोड़ मनुष्यों के धार्मिक विश्वासों के प्रतिनिधियों को सम्बोधित करते हुए विवेकानन्द ने कहा कि "इस धर्म-महासभा ने जगत के समक्ष यह प्रदर्शित किया है कि शुद्धता, पवित्रता और दयाशीलता किसी सम्प्रदाय-विशेष की ऐकान्तिक सम्पत्ति नहीं है एवं प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ और अतिशय उन्नत-चरित्र स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया है। इन प्रत्यक्ष प्रमाणों के बावजूद यदि कोई ऐसा स्वप्न देखे कि अन्यान्य सारे धर्म नष्ट हो जाएंगे और केवल उसका धर्म ही जीवित रहेगा, तो वह दया का पात्र है....।"

'दि न्यूयार्क हैराल्ड' ने उस वक़्त लिखा कि विवेकानन्द 'पार्लियामेंट ऑफ़ रिलीजन्स' के निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं। उनको सुनने के बाद हमें ऐसा लगता है कि उस पांडित्य-मंडित भूमि में मिशनरियों को भेजना कितना मूर्खतापूर्ण है।

सन्दर्भ

1. लिटन पेपर्स : लार्ड लिटन टु लार्ड सालिस्बरी, अगस्त 27, 1876, एशियाटिक स्टडीज़, रिलीजस एण्ड सोशल, 1884
2. वुड पेपर्स, बुड टु एलगिन, 3 मार्च, 1862
3. वही, 19 मई, 1862
4. वही, भाग 10, पृ० 220

5. क्रास पेपर्स, क्रास टु डफ़रिन, 14 जनवरी, 1887
6. हेमिल्टन करेस्पांडेंस, सी 125/3, पृ॰ 45
7. ताराचंद, हिस्ट्री ऑफ़ दि फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया, भाग 2, 1983, पृ॰ 351
8. प्रोसीडिंग्स ऑफ़ होम डिपार्टमेंट, एजुकेशन ब्रांच 1873, पैरा 5, ऑफ़ लेटर नं॰ 1609, मद्रास 18 सितम्बर, 1871, फ्राम दि डी॰ पी॰ आई॰ मद्रास टु दि चीफ़ सेक्रेटरी टु दि गवर्नमेंट ऑफ़ फ़ोर्ट सेंट जार्ज।
9. प्रोसीडिंग्स ऑफ़ दि होम डिपार्टमेंट, एजुकेशन ब्रांच 1873, पत्र सं॰ 2665, पूना, दिनांक : 9 सितम्बर, 1871, डी॰ पी॰ आई॰ बम्बई से बम्बई सरकार के कार्यवाहक सचिव को, शिक्षा विभाग, पैरा 8
10. प्रोसीडिंग्स ऑफ़ होम डिपार्टमेंट, एजुकेशन ब्रांच, 1873, बंगाल सरकार के कार्यवाहक सचिव की रिपोर्ट—दि मदरसाज़ एण्ड मोहम्मडन एजुकेशन जेनरली, पृ॰ 504-05
11. ताराचंद, वही, पृ॰ 351
12. वही, भाग 2
13. सैयद सुलेमान नादवी, हयात-इ-शिब्ली, दारूल-मुसन्निफ़िन, आज़मगढ़, 1943, पृ॰ 296
14. सैयद अहमद खान, आखरी मज़ामीन—1897-98 एम॰ फजुल्दीन, बाज़ार कश्मीरी, लाहौर, 1898
15. मजमुआं लेक्चर्हा-इ-सर सैयद, मुंशी सिराजुद्दीन संस्करण, बाला जी प्रेस, 1872, पृ॰ 117
16. वही, पृ॰ 117
17. सैयद अहमद खान, आख़री मज़ामीन 1897-98, लाहौर, 1898, पृ॰ 70
18. डफ़रिन, स्पीचेज डेलीवर्ड इन इंडिया—1884-88, पृ॰ 204
19. फाउंडेशन्स ऑफ़ पाकिस्तान, भारतीय संस्करण 1982, भूमिका, पृ॰ 18
20. 'बंगाली', 29 जनवरी 1887
21. 'दि पायनियर', 11 जनवरी 1888
22. वही
23. पीटर हार्डी, मुस्लिम्स ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया, पृ॰ 58
24. सुमीत सरकार, मॉडर्न इंडिया, 1885-1947, पृ॰ 78
25. नियम 3-16, एच॰ एल॰ डेम्पियर, कार्यवाहक सचिव, भारत सरकार

को सी० ए० इलियट, सचिव पश्चिमोत्तर प्रान्त सरकार द्वारा भेजे गये पत्र सं० 2396 ए, नैनीताल, पहली जुलाई 1872 के साथ संलग्न नकल, प्रोसीडिंग्स ऑफ़ दि होम डिपार्टमेंट, एजुकेशन ब्रांच।

26. सर जे० आर० सीले, दि एक्सपेंशन ऑफ़ इंग्लैण्ड, लंदन, 1885, पृ० 227-33
27. अरुणचन्द्र गुहा, फर्स्ट स्पार्क ऑफ़ रेवोल्यूशन, नार्दर्न इंडिया पत्रिका, 18 दिसम्बर 1960
28. ख़तूत ए-सर सैयद, पृ० 41, ग़ज़ट 19 नवम्बर, 1869, पृ० 743-45
29. अलीगढ़ इंस्टीट्यूट ग़ज़ट, 1868, पृ० 755
30. ख़तूत-ए-सर सैयद, पृ० 66
31. ग़ज़ट, विशेषांक, 5 अगस्त, 1882, पृ० 3
32. होम डिपार्टमेंट, एजुकेशन प्रोसीडिंग्स, नवम्बर 1875, नं० 11-13
33. दि बंगाली, 10 मार्च 1877
34. लाला द्वारकादास, हिन्दी वरसस उर्दू, पृ० 2
35. रिपोर्ट ऑफ़ दि नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज़ एण्ड अवध प्राविन्सियल कमेटी ऑफ़ दि एजुकेशन कमीशन, 1884, 490
36. वही, रिपोर्ट 229
37. टाइम्स ऑफ़ इंडिया, अगस्त 17 तथा 18, 1893
38. रिचर्ड कैशमैन, दि मिथ ऑफ़ दि लोकमान्य, पृ० 71 पर उद्धृत
39. 'मराठा', 8 तथा 15 जुलाई, 1894
40. 'केसरी', 18 सितम्बर, 1894
41. 'मराठा', 2 जून, 1895
42. धनंजय कीर, वीर सावरकर, दूसरा संस्करण, 1966 पृ० 450, 497
43. टाइम्स ऑफ़ इंडिया, मई 18, 1917
44. सुमीत सरकार, मॉडर्न इंडिया, 1885-1947, पृ० 78
45. दि वर्क्स ऑफ़ सर विलियम जोन्स, 1807, III, पृ० 34

5

1900-1947

देवनागरी बनाम फ़ारसी लिपि

1893 में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना काशी में की गई। ऊपर-ऊपर से देखने पर यह कुछ अजीब लग सकता है कि जब सभा की स्थापना हुई तो उसे भाषा के प्रचार की सभा न बनाकर लिपि के प्रचार की सभा क्यों बनाया गया, क्योंकि भाषा के प्रचार-प्रसार के साथ लिपि का प्रचार-प्रसार तो होता ही है। पर इस पूरी स्थिति को अन्दर से देखने पर यह साफ़ हो जाता है कि हिन्दी-उर्दू की असल लड़ाई भाषा की उतनी नहीं है, जितनी लिपि की है। हिन्दी और उर्दू के झगड़े का जो इतिहास है वह दरअसल नागरी और फ़ारसी लिपि से ही शुरू होता है और जब कभी ख़त्म होगा तो अन्ततः वहीं जाकर ख़त्म होगा।

आठवें इम्पीरियल टेबुल में हिन्दी और उर्दू के पढ़े-लिखे लोगों को पांच भागों में बांटा गया है। ये भाग केवल उर्दू जानने वालों, केवल हिन्दी जानने वालों, हिन्दी और उर्दू दोनों जानने वालों, उर्दू की अपेक्षा हिन्दी ज़्यादा जानने वालों और हिन्दी की अपेक्षा उर्दू ज़्यादा जानने वालों को लेकर हैं। साथ ही आगे इस बात को स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि "यद्यपि यह भेद भाषा का किया गया है, पर असल में यह केवल अक्षरों (अर्थात् लिपि) ही का भेद है; अर्थात् आठवें टेबुल में जो हिन्दी और उर्दू शब्द आये हैं, उनसे केवल 'फ़ारसी अक्षर' और 'नागरी वा उससे मिलते हुए अक्षर' ही समझना चाहिए।"[1]

1891 ई० की जनगणना के मुताबिक फ़ारसी-लिपि में लिखने वालों की संख्या 54000 थी तथा नागरी या कैथी (जो नागरी का ही एक रूप है) में लिखने वालों की संख्या 1,20000 थी। 1901 की जनगणना के अनुसार फ़ारसी और नागरी लिपि में लिखने वालों की संख्या क्रमशः 2,59043 तथा

10,16069 हो गयी।

1902 की 'सरस्वती' (भाग 3, संख्या 5) जिसके उस वक़्त सम्पादक बाबू श्यामसुन्दर दास थे, ने अपने सम्पादकीय में इस बात के लिए 'विशेष आनन्द' का इज़हार किया है कि ग्वालियर-नरेश सिन्धिया ने "अपने राज्य में आज्ञा दे दी है कि संवत् 1960 (सन् 1903) के प्रारम्भ मे उनकी कचहरियों में नागरी अक्षरों ही में केवल काम हो।"

बाबू श्यामसुन्दर दास ने खुशी का जो इज़हार किया है वह नागरी अक्षरों के अपनाये जाने के आदेश के लिए है—भाषा कैसी रहेगी, इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। ग्वालियर-नरेश ने भी अपनायी जाने वाली हिन्दी का स्वरूप कैसा होगा इस पर कोई आज्ञा नहीं दी। ग्वालियर-नरेश की उक्त आज्ञा इस तरह थी :

"सरक्यूलर आम नं० 18

मुवर्रखे 22 अप्रैल सन् 1902 ई०

बजरिये महक़मे सेक्रेटरिएट हुजूर दर्बार जुडिशियल डिपार्टमेंट दर्बारे इजराय कार्रवाई व ख़त हिन्दी

जो कि शुरू संवत् 1960 से जमीय अदालत हाय जुडीशियल महक्मेजात पुलिस व मुकद्दमात माल में कार्रवाई व ख़त हिन्दी (देवनागरी) बतरमीम दफ़ा 285 क़ानून आम जारी होगी। लिहाज़ा हिदायत हस्ब ज़ैल जारी की जाती है—

1. जमीय अहलकारान जुडीशियल व पुलिस व माल को मियाद् सदर तक खत हिन्दी लिखने का महावरा हासिल करना चाहिए।

2. हिन्दी साफ़ व खुशख़त अल्फाज़ अलहदा-अलहदा लिखना चाहिए।

3. आइन्दा जो अहलकार भरती किए जावें वह जहां तक मुमकिन हो हिन्दी दां भरती किए जांय।

4. रजिस्टर व नक़्शे जात वगैरा जो छपते हैं संवत् 1960 से हिन्दी में छपकर इस्तेमाल में आने का इन्तज़ाम हरसिंह सीग्रेजात मुन्दर्जे बाला को करना चाहिए।

5. जो काग़ज़ात रज़ीडण्टी से ब खत फ़ार्सी आएं वह उसी रजिस्टर हिन्दी में दर्ज किए जायेंगे।

ले० क० सर मौकिर्ल फीलोग
चीफ़ सेक्रेटरी, हुज़ूर दर्बार"

सन् 1900 में पश्चिमोत्तर प्रान्त और अवध के ले० गवर्नर एन्टनी मेक्डानेल ने इन प्रान्तों की कचहरियों और सरकारी दफ़्तरों के लिए हिन्दी को अपनाने के जो आदेश जारी किये थे (जिसका पूरा मसौदा आगे दिया गया है), उनमें भी

हिन्दी भाषा को स्वीकार करने की बात नहीं कही गयी है, 'नागरी अक्षरों' को दीवानी, फ़ौजदारी, रेण्ट और रेवेन्यू की कचहरियों और अंग्रेज़ी ऑफ़िसों को छोड़कर दूसरे सरकारी दफ़्तरों में अपनाये जाने का आदेश है।

दूसरी बात यह है कि इस गवर्नमेंट ग़ज़ट में भी 'हिन्दुस्तानी' को उर्दू ही माना गया है: "सदर दीवानी अदालत ने अपने अधीन के सब न्यायालयों में हिन्दुस्तानी अर्थात् उर्दू के प्रचार के लिए आज्ञा दी थी।"

इस सबसे सिद्ध यह होता है कि सरकार हिन्दी-समर्थकों की प्रार्थनाओं या हिन्दू रूढ़िवादियों के दबावों की वजह से जब कभी और जहां कहीं हिन्दी स्वीकार करती रही है, वहां हिन्दी को स्वीकार करने का मतलब होता था, देवनागरी लिपि को स्वीकार करना, फिर भले ही उस लिपि में हिन्दुस्तानी के नाम पर फ़ारसी के भारी-भरकम शब्द ही क्यों न लिये जाते रहे हों। यह स्थिति गांधी के हिन्दुस्तानी को अपनाने तक रही। 1920 में हिन्दुस्तानी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की भाषा बनी।

यह अन्यत्र दिया गया है कि मुग़ल शासन के अन्त तक उर्दू और हिन्दवी या हिन्दी में कोई फ़र्क़ नहीं किया जाता था। उर्दू हिन्दवी समानार्थी शब्द के बतौर इस्तेमाल किये जाते थे, बावजूद इसके कि दोनों को अलग-अलग लिपियों में लिखने का रिवाज़ था। हिन्दी और उर्दू दो अलग भाषाएं हैं, इसे प्रचारित करने का काम अंग्रेज़ों ने किया। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज और गिलक्राइस्ट की भूमिका इसमें बहुत अहम् है। कॉलेज ने अलग-अलग खानों में बांटकर पुस्तकें लिखवाने का काम किया। अलग-अलग भाषा के रूप में इन्हें परिभाषित किया और क्रमशः हिन्दी-उर्दू को हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायों के प्रतीक के रूप में चित्रित किया। संसार में ऐसा उदाहरण शायद और कोई नहीं है, जहां एक ही भाषिक संरचना को रखने वाली दो नामों की भाषा लिपि और नाम में अन्तर होने की वजह से इस तरह से जुदा हो जाये और दो क़ौमों के जुदा होने के इतने लम्बे इतिहास को बनाये। अंग्रेज़ शासकों ने हिन्दी-उर्दू को सम्प्रदायीकरण की भूमिका दी।

यह बात भी विचारणीय है कि उस वक़्त आधुनिक आर्य-भाषाओं में बंगला और मराठी काफ़ी उन्नत भाषाएं थीं। इनका अपना प्रचुर साहित्य था। पर इन भाषाओं के लेखकों ने जहां मौक़ा मिला, वहां देशव्यापी भाषा के रूप में हिन्दी का ही नाम लिया। राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की उन्होंने सिफ़ारिश की। इन भाषाओं के लेखक और प्रेमी अपनी-अपनी भाषाओं को राष्ट्रभाषा का दरजा दिलाने के लिए बखूबी आंदोलन चला सकते थे। बंगला में 1913 में टैगोर को नोबेल पुरस्कार मिल चुका था, बंकिम के आनन्दमठ (1882) की रचना हो चुकी थी, मराठी में भी उत्तम कोटि की रचनाएं आ चुकी थीं, पर इन

भाषाओं के और दूसरी-दूसरी भाषाओं के भी लेखकों का ध्यान राष्ट्रभाषा के रूप में सदैव हिन्दी की ओर ही गया था। नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भाग चार 1903 में प्रकाशित पंडित वामन राव पेठे के मराठी मूल के लेख का हिन्दी अनुवाद छपा था, जिसमें देश-व्यापी भाषा के रूप में हिन्दी को अपनाने की बात कही गयी है। इसी तरह बड़ौदा से निकलने वाले 'श्री सयाजी-विजय' मराठी पत्र में भास्कर विष्णु फड़के का 'हिन्दुस्थान की राष्ट्रभाषा' नाम से एक लेख उन्हीं दिनों प्रकाशित हुआ था। इस लेख में भी राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को अपनाने की सिफ़ारिश की गयी थी। फड़के ने कहा कि "···यदि इस देश में कोई देश-व्यापक भाषा हो सकती है तो हिन्दी ही हो सकती है।"

'इंडियन रिव्यू' के फ़रवरी 1907 के अंक में रंगाचार्य ने हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी पर एक सारगर्भित लेख लिखा था जिसमें उन्होंने यह बताया कि एकमात्र हिन्दी ही वह भाषा है जो राष्ट्रभाषा बनने की क्षमता रखती है। उन दिनों के कई मराठी, गुजराती आदि के पत्रों में इन भाषाओं के साथ हिन्दी में भी लेख आदि प्रकाशित होते थे। फरवरी 1904 में एक ऐसी त्रैमासिक पत्रिका की भी घोषणा की गयी थी जो बंगला, मराठी, गुजराती और हिन्दी में साथ-साथ निकलने वाली थी, जिसकी साझा लिपि नागरी को रखने का विचार था। इसी तरह लखनऊ से बलदेव राम उपाध्याय के सम्पादकत्व में गुजराती भाषा की पत्रिका 'गुजराती पत्रिका' नाम से देवनागरी लिपि में 1902 ई० से निकल रही थी।

दूसरी ओर पंजाब प्रान्त की सरकार ने 1907 में यह आदेश निकाला कि "पंजाब में लड़कियों के लिए जो प्रारम्भिक मदरसे हैं उनकी पाठ्य पुस्तकें आदि में हिन्दी, उर्दू और पंजाबी भाषायें लिखने में रोमन अक्षरों का व्यवहार किया जा सकता है।"[2] यह तो स्पष्ट ही है कि जिस वक़्त देवनागरी में दूसरी भारतीय भाषाओं को लिखने का प्रयत्न चल रहा था, उन्हीं दिनों रोमन में भारतीय भाषाओं को उतारने की सरकारी कोशिश मात्र संयोग नहीं हो सकती। इसके पीछे की दुरभिसंधि का अन्दाजा लगाना मुश्किल नहीं होना चाहिए।

यह एक विचित्र संयोग है कि हिन्दी को व्यापक फलक देने के मार्ग में जिस दूसरी भाषा ने सबसे अधिक रुकावटें डालीं वह उर्दू थी, जिसे भाषिक संरचना के स्तर पर हिन्दी से अलग एक स्वतंत्र भाषा नहीं कहा जा सकता। दरअसल, जैसा कि पहले भी कहा गया है, ख़िलाफ़त का कारण भाषा उतनी नहीं थी, लिपि थी, जिसके साथ कचहरियों और दफ़्तरों की नौकरियां जुड़ी हुई थीं, और दो भिन्न धर्म थे जिनसे परिस्थितिवश दोनों भाषाएं अलग-अलग जुड़ गयी थीं।

सन् 1900 के आसपास यह आरोप लगना शुरू हुआ था कि हिन्दी के लेखक हिन्दी लिखने में संस्कृत के बड़े-बड़े शब्दों को अपनी भाषा में डालने लगे

हैं जिससे वह उर्दू से दूर होती जा रही है। यह आरोप एकदम निराधार है, ऐसा तो कहना मुश्किल है, पर यह बात निश्चय ही कही जा सकती है कि वे लेखक जिनसे हिन्दी साहित्य और भाषा को दिशा मिली और जिनकी स्थायी छाप हिन्दी पर है वे सहज और सरल हिन्दी के ही लिखने वाले लोग थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850-85) जिन्होंने कि 1864 से गद्य और कविता लिखनी शुरू की थी और 1873 आते-आते, जो कि 'मैगज़ीन' की शुरुआत का समय है, हिन्दी को 'नये चाल में' ढालने में सफल रहे थे। इनके साथ प्रतापनारायण मिश्र (1856-94), बालकृष्ण भट्ट (1844-1914), लाला श्रीनिवास दास (1851-87) आदि अनेक लेखक इसके उदाहरण हैं, जिनकी रचनाएं 1900 के पहले ही प्रकाश में आ चुकी थीं। इनकी भाषा को संस्कृतगर्भित भाषा नहीं कह सकते। महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके समकालीन लेखकों की रचनाएं आ रही थीं।

बाबू श्यामसुन्दर दास ने सितम्बर 1902 की 'सरस्वती' (भाग-3, सं० 1) में पाठशालाओं और पाठ्यपुस्तकों की भाषा कैसी हो, इस पर अपनी सम्पादकीय टिप्पणी दी है। उन्होंने कहा है, "हमारा सिद्धान्त तो यह है कि सरल हिन्दी का प्रयोग सब अवस्थाओं में लाभकारी हो सकता है, पर यह बात विषय और लेखक पर बहुत कुछ निर्भर रहती है।" श्यामसुन्दर दास ने इसी टिप्पणी में "हिन्दी में बिना आवश्यकता के ज़बरदस्ती संस्कृत के कठिन-कठिन शब्द भर दिये" जाने का विरोध किया है। यहां यह बताने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए कि श्यामसुन्दर दास अपने जमाने के प्रतिष्ठित लेखक हुए हैं।

सन् 1893 में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना के बाद हिन्दी के आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा। बनारस के महाराजा और काशीपुर के राजा शिवराज सिंह आदि ने यह तर्क रखा कि नागरी को भी फ़ारसी-लिपि के समान ही आसानी और तेज़ी से लिखा जा सकता है, फिर उर्दू में अरबी-फ़ारसी शब्दों की बहुलता से वह हमारे लिए अस्वाभाविक और मुश्किल है।

सर जार्ज कैम्पबेल जिन दिनों बिहार में नागरी लिपि में लिखी हिन्दी को अदालतों और राजस्व आदि के सरकारी दफ़्तरों में काम-काज की भाषा के बतौर लागू कर रहे थे, उन दिनों में एन्थनी मेक्डानेल पटना के कमिश्नर थे। उन्होंने बिहार में हिन्दी को लागू करने में काफ़ी काम भी किया था। मेक्डानेल इसके बाद पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध के ले० गवर्नर बने। उनके ले० गवर्नर बनने पर और बिहार में हिन्दी के लिए किये गए उनके कार्यों से उत्साहित होकर पंडित मदनमोहन मालवीय, महाराज सर प्रतापनारायण सिंह बहादुर के० सी० आई० ई० अयोध्या, राजा रामप्रताप सिंह बहादुर माड़ा (इलाहाबाद), पंडित सुन्दर लाल एडवोकेट समेत सत्रह लोगों का एक प्रति-

निधि मंडल 2 मार्च 1898 को इलाहाबाद में संयुक्त प्रान्त के ले० गवर्नर सर एन्टनी मेक्डानेल के समक्ष उपस्थित हुआ। इस प्रतिनिधि मंडल ने मेक्डानेल को कई हज़ार हस्ताक्षरों के साथ एक आवेदन-पत्र दिया, जिसमें संयुक्त प्रान्त में सरकारी दफ़्तरों और अदालतों में हिन्दी को लागू करने की प्रार्थना की गई। मेक्डानेल ने तुरन्त कोई क़दम नहीं उठाया। लगभग दो वर्ष बाद 1900 में सरकार के एक प्रस्ताव (रेज़ोल्यूशन) द्वारा हिन्दुओं की अधिकांश मांगों को मान लिया गया, और इस तरह पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध में नागरी लिपि को मान्यता मिली। उसे फ़ारसी लिपि के बराबर का दर्जा हासिल हुआ। प्रस्ताव में फ़ारसी लिपि के व्यवहार को भी बरकरार रखा गया। सरकारी प्रस्ताव में यह कहा गया कि जो केवल अंग्रेज़ी आफ़िस हैं उन्हें छोड़कर बाक़ी सभी सरकारी नियुक्तिओं के लिए अब से यह ज़रूरी होगा कि कर्मचारी नागरी और फ़ारसी दोनों लिपियों में पढ़ने और लिखने की दक्षता (फ़्लूएन्सी) हासिल किये हुए हों।[3]

पर 1898 से 1900 तक के दो वर्षों में नागरी के पक्ष और उसके विरोध में ज़ोरदार आन्दोलन हुए। 'सरस्वती' के अनुसार "निदान दो वर्ष लों इस पर घोर आन्दोलन होता रहा। इस (नागरी के पक्ष वाले) आवेदन-पत्र के विपक्ष में भी (फ़ारसी-लिपि के पक्ष वालों द्वारा) आवेदन-पत्र दिये गये। परन्तु हर्ष का विषय है कि जितनी प्रार्थनाएं नागरी के पक्ष में थीं, उन सभी में यही प्रार्थना थी कि केवल अक्षरों में परिवर्तन किया जाय, परन्तु जितने आवेदन-पत्र विपक्ष में दिये गये थे, उनमें भाषा का झगड़ा उठाया गया था।"

पश्चिमोत्तर प्रान्त और अवध के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर मेक्डानेल ने इन प्रान्तों में फ़ारसी-लिपि के साथ नागरी को लागू करने का जो आदेश जारी किया था, कई दृष्टियों से वह महत्त्वपूर्ण था। उसे यहां दिया जा रहा है।

गवर्नमेंट पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध

585

नम्बर———————1900

3–343 सी-68

निश्चय

जनरल प्रबन्ध विभाग

नैनीताल, ता० 18 अप्रैल, 1900

पढ़े गए—

1. भिन्न-भिन्न तिथियों के आवेदन-पत्र जिनमें प्रार्थना थी कि पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध के न्यायालयों और सरकारी दफ़्तरों में नागरी अक्षरों का प्रचार हो।

2. भिन्न-भिन्न तिथियों के आवेदन-पत्र जिनमें हिन्दी को राज्यभाषा बनाने का विरोध था।

3. इन प्रान्तों के न्यायालयों और सर्कारी दफ़्तरों में नागरी अक्षरों के प्रचार के विषय पर बोर्ड ऑफ़ रेवेन्यू की ता० 16 अगस्त सन् 1899 की रिपोर्ट।

4. उस विषय पर पश्चिमोत्तर प्रदेश के हाइकोर्ट के रजिस्ट्रार का ता० 2 मार्च सन् 1900 का पत्र नं० 757 और अवध के जुडिशियल कमिश्नर का ता० 31 मार्च सन् 1900 का पत्र नम्बर 819।

1. "पश्चिमोत्तर प्रान्त और अवध के लेफ़्टिनेन्ट गवर्नर को शासन की अवधि के समय सर एन्टनी मेक्डानेल महोदय के निकट इन प्रान्तों के न्यायालयों और सर्कारी दफ़्तरों में नागरी अक्षरों के प्रचार के लिए बहुत-से प्रार्थना-पत्र दिए गए हैं। सन् 1898 में इन अक्षरों के पक्ष लेने वालों के प्रतिनिधियों के डेपुटेशन के उत्तर में श्रीमान् लेफ़्टिनेन्ट गवर्नर महोदय ने यद्यपि न्यायालयों की कार्रवाइयों में शीघ्र परिवर्तन करने के विचार को उचित नहीं बतलाया था, तथापि उन्होंने इस बात को स्वीकार किया था कि सर्कारी लिखा-पढ़ी के पत्रों में नागरी अक्षरों के प्रचार से कुछ लाभ अवश्य होंगे। उसी समय से श्रीमान सर एन्टनी मेक्डानेल महोदय इस बात पर विचार कर रहे थे कि इस समय की अपेक्षा सर्कारी काम-काज में नागरी अक्षरों का प्रचार बिना कष्ट के अधिक किस प्रकार हो सकता है।

2. "सबसे पहिले सर्कारी न्यायालयों में फ़ारसी भाषा और फ़ारसी के अक्षरों का प्रचार था। यहां के न्यायालयों में फ़ारसी के स्थान में यहां की देश-भाषाओं का प्रचार करने का प्रबन्ध पहिले-पहिल सन् 1837 ई० में किया गया था। उसी समय गवर्नर जनरल महोदय ने काउंसिल में बंगाल और पश्चिमोत्तर प्रान्त के न्यायालयों की भाषा में परिवर्तन करने की आज्ञा दी थी। इसी अभिप्राय से सन् 1837 के नवम्बर मास में एक क़ानून भी स्वीकार किया गया था। उसके दो वर्ष के पश्चात् सदर दीवानी अदालत ने अपने आधीन के सब न्यायालयों में हिन्दुस्तानी अर्थात्* उर्दू के प्रचार के लिए आज्ञा दी थी। यह आज्ञा केवल उर्दू भाषा के विषय में थी, अक्षरों के विषय में नहीं थी। सन् 1868 ई० में न्यायालयों में फ़ारसी अक्षरों के स्थान में नागरी अक्षरों का प्रचार करने के लिए गवर्नमेंट से प्रार्थना की गई थी और उस समय से आज तक समय-समय पर गवर्नमेंट का ध्यान इस विषय की ओर आकर्षित किया गया है। पश्चिमोत्तर प्रान्त के पड़ोसी बिहार और मध्यप्रदेश के न्यायालयों में फ़ारसी

---

* इस सरकारी आज्ञा में उर्दू के लिए 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग ध्यान देने योग्य है।

अक्षरों के स्थान में नागरी अक्षरों का प्रचार पूर्ण रूप पर हो गया है।

3. "बिहार और मध्यप्रदेश में नागरी अक्षरों के प्रचार में जैसी सरलता हुई है, वैसी पश्चिमोत्तर प्रान्त और अवध में नहीं हो सकती है। कई एक प्रधान कारणों से श्रीमान् लेफ़्टिनेन्ट गवर्नर और चीफ़ कमिश्नर इन प्रान्तों में भाषा सम्बन्धी परिवर्तन के प्रश्न को हाथ में नहीं लिया चाहते हैं और इसलिए श्रीमान् लेफ़्टिनेन्ट गवर्नर महोदय इन प्रान्तों की भाषा को बदलना अथवा फ़ारसी के अक्षरों के प्रयोग को बन्द करना नहीं चाहते हैं। यहां पर प्रश्न यह उपस्थित हुआ है कि नागरी अक्षरों के जानने वाले बहुत से मनुष्यों के सुभीते के लिए नागरी अक्षरों के प्रयोग के लिए कुछ ठीक प्रबन्ध किया जा सकता है वा नहीं। इस बात का लेखा इस समय प्राप्त नहीं है कि कितने मनुष्य केवल हिन्दी (नागरी वा कैथी) के अक्षरों को जानते हैं और उनका प्रयोग करते हैं, और कितने मनुष्य फ़ारसी के अक्षरों को जानते हैं। परन्तु सन् 1891 की मनुष्य गणना की रिपोर्ट से इन प्रान्तों के मध्यम श्रेणी के पढ़े-लिखे मनुष्यों की संख्या का ज्ञान इस प्रकार हो सकता है—

अंगरेज़ी में गिनती करने वालों की संख्या	813
उर्दू ,, ,, ,, ,, ,, ,,	54244
नागरी ,, ,, ,, ,, ,, ,,	80118
कैथी ,, ,, ,, ,, ,, ,,	40197

श्रीमान् लेफ़्टिनेन्ट गवर्नर महोदय समझते हैं कि गोरखपुर, बनारस, इलाहाबाद और आगरे की कमिश्नरियों में हिन्दी अक्षरों का बहुत ही अधिक प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार से मेरठ और रूहेलखण्ड के विभागों में भी इन अक्षरों का अधिक प्रयोग होता है।

4. "अतएव वर्तमान समय की अपेक्षा भविष्यत् में हिन्दी अक्षरों का अधिक प्रचार करने से इन प्रान्तों की एक बड़ी संख्या के मनुष्यों को सुभीता होगा। इन प्रान्तों के बोर्ड ऑफ़ रेवेन्यू और हाईकोर्ट तथा अवध के जुडीशियल कमिश्नर (जो निम्नलिखित प्रस्तावों के साथ सहमत हैं) की सम्मति से इन प्रान्तों के लेफ़्टिनेन्ट गवर्नर महोदय ने निम्नलिखित नियमों को बनाया है और उनका प्रयोग यहां के दीवानी, फ़ौजदारी, रेण्ट तथा रेवेन्यू के न्यायालयों में किया जावेगा।

1. "सम्पूर्ण मनुष्य प्रार्थना-पत्रों और अर्जी दावों को अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार नागरी वा फ़ारसी के अक्षरों में दे सकते हैं।

2. "सम्पूर्ण सम्मन, सूचना-पत्र और दूसरे प्रकार के पत्र जो सर्कारी न्यायालयों वा प्रधान कर्मचारियों की ओर से देशभाषा में प्रकाशित किए जाते हैं, फ़ारसी और नागरी अक्षरों में जारी होंगे और इन पत्रों के शेष भाग की

खाना-पुरी भी हिन्दी में इतनी ही होगी जितनी फ़ारसी अक्षरों में की जाय।

3. "अंग्रेज़ी आफिसों को छोड़कर आज से किसी न्यायालय में कोई मनुष्य उस समय तक नहीं नियत किया जायेगा, जब तक वह नागरी और फ़ारसी के अक्षरों को अच्छी तरह से लिख और पढ़ न सकेगा।

"इस आज्ञा की एक-एक प्रति समस्त विभागों के प्रधान कर्मचारियों, विभागों के समस्त कमिश्नरों, मजिस्ट्रेटों और कलेक्टरों तथा डिस्ट्रिक्ट जजों के पास सूचना और उसके अनुसार कार्य करने के लिए भेजी जाय, और सर्व-साधारण के लिए यह आज्ञा गवर्नमेंट गज़ट में प्रकाशित की जाय।"

पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध के मुसलमानों में इस सरकारी आदेश की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। खुलकर इसकी भर्त्सना की गई। 'मुस्लिम क्रॉनिकल' ने 19 मई 1900 को इस पर अपना सम्पादकीय लिखा। सम्पादकीय में इस आदेश की भर्त्सना करते हुए 'क्रॉनिकल' ने हिन्दी पर अपना सारा गुस्सा उतारा। उस सम्पादकीय का एक छोटा-सा अंश नमूने के रूप में इस तरह है—

"उर्दू बनाम नागरी का सवाल और प्रतिद्वन्द्विता कुछ इस तरह से है जैसे एक ओर शुद्धता (शिष्टता) और संस्कृति हो और दूसरी ओर तरफ़दारी और गंवारपन। और यदि यह आदेश बना रहता है तो इतिहास का यह एक विध्वंसक अध्याय होगा, जो बतायेगा कि किस तरह एक ब्रिटिश शासक की क़लम की एक घसीट (स्ट्रोक) से संस्कृति और शिष्टता का अवसान हुआ।" इटावा से निकलने वाला पत्र 'अल-बशीर' ने कोई सौ के लगभग लेख निकाले जिसमें सरकारी नीति की मज़म्मत की गई थी।

मेक्डानेल को 'हिन्दू समर्थक क्षत्रप' और 'इस्लाम का दुश्मन' कहा गया। अलीगढ़ नेताओं में पहली बार विद्रोह की स्थिति पैदा हुई। नवाब मोहसिन-उल-मुल्क की पहल पर अलीगढ़ से लाहौर, लखनऊ, मेरठ, बदायूं, दिल्ली, बुलन्दशहर, आगरा आदि शहरों में विशिष्ट मुसलमानों को बुलावा गया। 13 मई 1900 को छत्तारी के रईस नवाब लुत्फ़ अली खान बहादुर के सभापतित्व में अलीगढ़ में एक सभा की गई। इस बैठक में पहली बार ब्रिटिश शासन में अश्रद्धा जैसी बात दिखाई पड़ी। दिखाई पड़ी इसलिए कहा जा रहा है, क्योंकि मोहसिन-उल-मुल्क या अन्य वक्ताओं में से किसी ने ब्रिटिश शासन के प्रति अविश्वास ज़ाहिर नहीं किया, वरन् उन्होंने श्रद्धा के भाव को पूर्ववत् बनाये रखने की कोशिश की, पर उनकी चिन्ता और उनका असन्तोष किसी-न-किसी तरह से ज़ाहिर हुआ। मोहसिन-उल-मुल्क ने अपने भाषण में कहा कि हमें इस प्रस्ताव की आलोचना करते हुए भी यह ध्यान में रखे रहना चाहिए कि ब्रिटिश सत्ता के प्रति हममें पूरी स्वामिभक्ति है और प्रस्ताव की आलोचना करते हुए भी हमारे अन्दर विद्वेष का इरादा नहीं है। साथ ही मोहसिन-उल-मुल्क

ने यह डर भी जाहिर किया कि सम्भवतः सभी सरकारी विभागों में उर्दू के स्थान पर पूरी तौर पर केवल हिन्दी को स्थापित कर दिया जाय, जिसके दूरगामी दुष्परिणाम शिक्षा, कामर्स और सामाजिक व्यवहार सभी में अन्ततः दिखाई देंगे।

सभा में मोहसिन-उल-मुल्क (जो हर तरह से सैयद अहमद खां के उत्तराधिकारी थे) ने नागरी लिपि के सरकारी काम-काज में अपनाये जाने के सरकारी निर्णय के विरोध में एक प्रस्ताव पेश किया, जिसका साहिब ज़ादा आफ़ताब अहमद खान ने अनुमोदन किया।

इस हिन्दी सर्कुलर के विरोध में 'उर्दू डिफ़ेन्स एसोसिएशन' की स्थापना हुई, जिसकी बैठक 18 अगस्त 1900 को लखनऊ में हुई। मोहसिन-उल-मुल्क की अध्यक्षता में हुई इस बैठक में संयुक्त प्रान्त के अलावा दूसरी जगहों के मुस्लिम प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया। विवाद से सम्बन्ध रखने वाले लगभग 10 प्रस्ताव पारित हुए, जिनमें से अधिकतर में सरकार से प्रार्थना की गई कि वह इस अनुचित सर्कुलर को वापस ले ले।

पर 'उर्दू डिफ़ेन्स एसोसिएशन' अधिक दिनों तक सक्रिय नहीं रह पाया, क्योंकि अंग्रेज़ अधिकारियों को एसोसिएशन की गतिविधियों में सरकार की खिलाफ़त की बू आने लगी थी। अंग्रेज़ों को यह लगा कि मुस्लिम जनता में भी आन्दोलन की राजनीति घुस रही है। अंग्रेज़ी सरकार का इन बातों से भड़क उठना स्वाभाविक था। संयुक्त प्रान्त के लेफ़्टिनेन्ट गवर्नर सर एन्थनी मेक्डानेल को मोहम्मडन एंग्लो ओरियन्टल कॉलेज अलीगढ़ आकर यह धमकी देनी पड़ी कि मोहसिन-उल-मुल्क को कॉलेज के सचिव और 'उर्दू डिफ़ेन्स एसोसिएशन' की अध्यक्षता में से किसी एक को चुनना होगा। अलीगढ़ कॉलेज का सचिव पद केवल एक पद नहीं था। कॉलेज के सचिव होने का मतलब था मुस्लिम क़ौम के एक ख़ासे बड़े वर्ग का बेताज बादशाह होना, जिसे मोहसिन-उल-मुल्क छोड़ नहीं सकते थे। लिहाज़ा 'उर्दू डिफ़ेन्स एसोसिएशन' का आन्दोलन बुझा दिया गया।

अलीगढ़ कॉलेज के ट्रस्टियों के सम्मुख 30 जनवरी 1901 को कॉलेज की वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करते समय कॉलेज के प्रिंसिपल मोरिसन ने यह बात रखी कि मुसलमान राजनीति में अनावश्यक रूप से बहुत रुचि लेने लगे हैं। उन्होंने कॉलेज के विद्यार्थियों को उर्दू नागरी विवाद में पड़ने को मना किया। एक विद्यार्थी को 'पायनियर' में उर्दू के समर्थन में सम्पादक के नाम पत्र लिखने के कारण कॉलेज से निकाल दिये जाने की धमकी दी गई।

जैसा कि मैंने पहले भी कहा है, यहां एक बात विशेष ध्यान देने की है और वह यह कि यह पूरा विवाद हिन्दी-उर्दू भाषा को लेकर नहीं था, वरन् नागरी-

उर्दू (फ़ारसी) लिपि को लेकर था। मतलब यह कि भाषा के स्तर पर हिन्दी-उर्दू को विभाजित करने वाले भाषाई मुद्दे अभी उठे नहीं थे। सरकारी काम-काज की भाषा का सीधा ताल्लुक चूंकि लिपि से है, इसलिए लिपि का मसला उठ खड़ा हुआ था। विवाद यह था कि हिन्दी-उर्दू को लिखने के लिए कौन-सी लिपि अपनायी जाय। नीचे की कचहरियों और माल आदि के दफ़्तरों पर मुसलमान नेताओं की निगाहें थीं, फ़ारसी लिपि के बने रहने पर ही वे जगहें मुसलमानों को मिली रह सकती थीं, दूसरी ओर हिन्दुओं की निगाहें भी इन पर थीं, जिन्हें वे नागरी के आ जाने से आसानी से हासिल कर सकते थे। साथ ही हिन्दुओं में एक और भी बड़ी चिन्ता अपनी सांस्कृतिक और धार्मिक विरासत को बचाने की थी। उन्हें आशंका थी कि फ़ारसी लिपि के और अधिक प्रचार-प्रसार से यह विरासत ही खतरे में पड़ सकती है।

(दि) पायनियर के 6 फरवरी 1902 के अंक में पं० मनोहरनाथ सप्रू ने उर्दू और नागरी के मसले पर लिखते हुए लिखा कि भाषा का सवाल न तो पहले कभी था और न आज है, जन-जन की भाषा और कचहरी की भाषा, उसे आप उर्दू कहें या हिन्दुस्तानी, दोनों एक ही हैं। एक ही भाषा में अरबी, फ़ारसी शब्दों की बहुलता से उसे हम उर्दू कहते हैं और उसी में संस्कृत के शब्दों की बहुलता से हिन्दी।

'दि टाइम्स' ने अपने 26 सितम्बर 1906 के अंक में लिखा कि "हिन्दुस्तानी, जो कि उत्तरी भारत में जबलपुर से लाहौर तक बोली जाती है, चाहे उसे मुसलमान बोल रहा हो या हिन्दू, एक ही भाषा है, परन्तु उसकी लिपि लिखने वाले के धर्म के मुताबिक बदल जाती है।"

संयुक्त प्रान्त के सेंसस सुपरिंटेंडेंट ने 1901 की सेंसस रिपोर्ट में हिन्दी और उर्दू को लेकर जो विचार व्यक्त किये हैं, उससे यह स्पष्ट होता है कि उस वक़्त आम प्रचलन में हिन्दी और उर्दू शब्दों से जो मतलब लिया जाता था वह दो भिन्न भाषाओं का अर्थ नहीं था, वरन् दो भिन्न लिपियों का भेद था। सेंसस सुपरिंटेंडेंट की रिपोर्ट का अनुवाद 'सरस्वती' (सं० बाबू श्यामसुन्दर दास) के भाग-3, संख्या 12, पृ० 387, 1902 ई० के अंक में दिया गया है। उससे कुछ अंश यहां उद्धृत किया जा रहा है—

"आठवें इम्पीरियल टेबुल में पढ़े-लिखे आदमी पांच भागों में बांटे गये हैं। यह भाग-1 केवल उर्दू जानने वालों, 2. केवल हिन्दी जानने वालों, 3. और 4. हिन्दी और उर्दू दोनों जानने वालों, 5. जो लोग हिन्दी ज़्यादा जानते हैं उनका उर्दू ज़्यादा जानने वालों से भेद किया गया है। और दूसरी भाषा जानने वालों के हिसाब से किया गया है। यहां पर यह कह देना चाहिए कि यद्यपि यह भेद भाषा का किया गया है, पर असल में यह केवल अक्षरों ही का भेद है, अर्थात्

आठवें टेबुल में जो हिन्दी और उर्दू शब्द आये हैं, उनसे केवल फ़ारसी अक्षर और नागरी वा उससे मिलते हुए अक्षर ही समझना चाहिए। आगे के अध्याय में दिखलाया जायेगा कि उर्दू और गद्य की हिन्दी एक ही भाषा है, और इन दोनों के व्याकरण भी एक ही हैं, पर उनमें शब्दों का प्रयोग करना लेखक की रुचि पर निर्भर है। पढ़े-लिखे लोगों का उनके अक्षर जानने के हिसाब से जो भाग किया गया है, वह ध्यान देने लायक है। जिस समय इस प्रान्त में सरकारी राज्य फैला, उस समय यहां की कचहरियों में फ़ारसी भाषा और अक्षर जारी थे। यह बात सन् 1837 ई० तक रही और उस सन् में फ़ारसी भाषा की जगह यहां की भाषा कर दी गई, पर अक्षर ज्यों के त्यों रखे गए। उस समय अगर कचहरी में कभी नागरी या उससे मिलते हुए अक्षरों में लिखे हुए किसी काग़ज़ के पेश करने की बारी आती, तो उसके साथ ही फ़ारसी अक्षरों में भी उसकी नकल देनी पड़ती थी। 1900 ई० में गवर्नमेंट ने एक आज्ञा जारी की जिसमें कचहरियों और सरकारी कर्मचारियों के पास नागरी अक्षरों में भी अर्ज़ी आदि देने की आज्ञा दी गई, और यह भी आज्ञा हुई कि जो सूचनाएं प्रजा को दी जाएं वे फ़ारसी और नागरी दोनों ही अक्षरों में हों। उस आज्ञा में यह दिखलाया गया था कि यद्यपि केवल नागरी या उससे मिलते हुए अक्षर जानने वालों और केवल फ़ारसी अक्षर जानने वालों की संख्याओं का ठीक-ठीक पता नहीं था, पर सन् 1891 ई० की मनुष्य-गणना से विदित हुआ था कि जहां केवल 54000 लेखकों ने फ़ारसी अक्षरों में काम किया, वहां 1,20000 लेखकों ने नागरी वा कैथी में (जो कि नागरी का एक बहुत मिलता हुआ रूप है) किया। जब सर्वसाधारण आज्ञाओं पर विचार कर रही थी तो उसके विरोधियों ने कहा कि इन अक्षरों का मनुष्य-गणना के लेखकों में जो नम्बर पाया गया है, वह सर्वसाधारण के नम्बर का ठीक अनुमान नहीं है। पर इस बेर की मनुष्य-गणना से विदित होता है कि यद्यपि मनुष्य-गणना को लेखकों के नम्बर में और सर्वसाधारण में हिन्दी-उर्दू जानने वालों के ठीक नम्बर में फ़र्क है, पर वह फ़र्क विरोधियों के और भी विपक्ष में है। क्योंकि लेखकों में तो नागरी वा कैथी अक्षर लिखने वाले, फ़ारसी अक्षर लिखने वालों के केवल ढाई गुने ही थे। पर असिल में जहां 10,16069 आदमी नागरी या कैथी जानने वाले हैं, वहां केवल 2,59043 ही मनुष्य फ़ारसी अक्षर जानने वाले हैं, अर्थात् नागरी वा कैथी जानने वाले चौगुने हैं..."

"...(अलीगढ़ जिले में) सन् 1891 ई० की मनुष्य-गणना में ज़्यादा करके पटवारी लोग काम करते थे और ये लोग उस जिले में अक्सर फ़ारसी अक्षर ही लिखते हैं। पर इस बेर में बन्दोबस्त के काम में लगे रहने के कारण, मनुष्य-गणना का काम नहीं कर सके। आठवें टेबुल से जान पड़ेगा कि इस जिले में जहां 6022 आदमी फ़ारसी अक्षर लिख-पढ़ सकते हैं वहां 22873 आदमी

नागरी अक्षर लिख-पढ़ सकते हैं और इसलिए वहां बहुत से नागरी फार्म और भेजने पड़े।...''

आगे सेंसस सुपरिंटेंडेंट ने उर्दू की उत्पत्ति पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। उनका कहना है—"भारतवर्ष में जिन मुसलमानों ने हमला किया, वे जुदी-जुदी जातियों के थे, पर जान पड़ता है कि उन सभों ने अपनी भाषा फ़ारसी रखी; अथवा इतना तो अवश्य है कि अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में उत्तरी भारतवर्ष के अधिक हिस्सों में फ़ारसी ही राज्यभाषा पायी गई थी। यह तो निश्चय जानना चाहिए कि इन हमला करने वालों ने शुरू ही से अपनी प्रजा की भाषा बोलने का उद्योग किया था, और यह कोई आश्चर्य भी नहीं कि दिल्ली के आस-पास जो भाषा बोली जाती है, उससे वे परिचित भी हो गए हों। इस प्रकार से पश्चिमी हिन्दी एक नयी भाषा निकली। इस भाषा में बहुत ही ज़्यादा फ़ारसी के शब्द मिलाए गए और फिर फ़ारसी में भी तुरकी और अरबी के शब्द लिए गए थे। यह मिश्रित भाषा उर्दू अर्थात् सेना की भाषा कहलाई। उर्दू की उत्पत्ति के विषय में जुदे-जुदे लेखकों की विपरीत रायें हैं। कोई तो कहते हैं कि उर्दू की उत्पत्ति मुसलमान लोगों के हिन्दुस्तानी भाषा सीखने के कारण हुई, और कोई कहते हैं कि टोडरमल की आज्ञा से हिन्दुओं ने फारसी सीखने का जो उद्योग किया उससे इसकी उत्पत्ति हुई। अस्तु, यह कोई आवश्यक बात नहीं है और हम कह सकते हैं कि उर्दू की उत्पत्ति सम्भवतः इन दोनों ही कारणों से हुई होगी। जान पड़ता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू में, जब ब्रिटिश सरकार के हाथ में पश्चिमोत्तर प्रदेश का बहुत-सा भाग आ गया था, उस समय यद्यपि अदालती दस्तावेज़ों में फ़ारसी लिखी जाती थी, पर राज्य करने वालों और प्रजा में परस्पर व्यवहार का ज़रिया असल में उर्दू ही थी।" (वही, पृ० 391)

"...सन् 1803 ई० में लल्लू जी लाल ने फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के डॉ० गिलक्राइस्ट के कहने से उच्च हिन्दी की उत्पत्ति की। उन्होंने ब्रजभाषा में लिखे हुए भागवत पुराण के दसवें स्कन्ध को लेकर उसका उर्दू भाषा में अनुवाद किया, जिसमें वे विदेशी भाषा के शब्दों को काम में नहीं लाए। इस तरह से उच्च हिन्दी और उर्दू का व्याकरण एक ही है, सिवाय इसके कि वाक्य-विन्यास में कहीं-कहीं पर बहुत थोड़ा भेद है, और अधिक भेद शब्दों के प्रयोग में है।" (वही, पृ० 392)

इसी सेंसस रिपोर्ट में सेंसस सुपरिंटेंडेंट एक बात के उल्लेख से यह साबित करना चाहते हैं कि हिन्दू तो हिन्दू, मुसलमान भी अपने इलाक़े के आदमियों से बातचीत करने के लिए उर्दू को छोड़कर उस इलाक़े की देहाती बोली में ही बातचीत करता है। उन्होंने जिस घटना का ज़िक्र किया है वह इस तरह है—"अभी हाल में मैं एक दिन रेल में यात्रा कर रहा था, जिसमें अवध के एक बड़े इज़्ज़तदार ताअल्लुक़ेदार भी थे। उनके साथ एक-दूसरा मुसलमान भी था जो

कदाचित उनका सम्बन्धी हो और निस्सन्देह उनके इलाक़े का नौकर था। ये महाशय मुझे नहीं जानते थे, और न दूसरे एक बंगाली महाशय को ही जानते थे, जो कि हम लोगों के साथ बैठे थे। कुछ देर तक वे अपने मुसलमान साथी से अपने इलाक़े के काम-काज की बातें शुद्ध पूरबी हिन्दी में करते रहे, जब तक कि हम लोगों ने एक-दूसरे से (निस्सन्देह उर्दू में) बातचीत करना नहीं शुरू किया।" (वही, पृ० 394)

'सरस्वती' भाग-4 संख्या 10 (1903 ई०) में 'देश व्यापक भाषा (2)' शीर्षक लेख में यह कहा गया है कि संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रदेश, मध्य भारत, राजपूताना और बिहार की भाषा हिन्दी है। पंजाब में जो भाषा बोली जाती है वह भी हिन्दी ही है, क्योंकि उर्दू कोई भिन्न भाषा नहीं। वह हिन्दी ही की एक शाखा है। हिन्दी का और उर्दू का व्याकरण एक ही है। फ़ारसी और अरबी के शब्दों की प्रचुरता होने से उर्दू उन लोगों की समझ में अच्छी तरह नहीं आ सकती जिनको इन दो भाषाओं के शब्दों का थोड़ा-बहुत ज्ञान नहीं है। उर्दू की यदि यह कठिनता निकाल दी जावे तो उसमें और बोलचाल की साधारण हिन्दी में कुछ भी अन्तर न रहे। इसलिए उर्दू को हिन्दी ही समझना चाहिए। मुसलमान नागरी अक्षरों के विरोधी हैं। परन्तु यदि वे इस देश को अपना देश समझते हैं और इसमें सजीवता लाकर हिन्दुओं के साथ-साथ अपना भी कल्याण करना चाहते हैं, तो उनको विरोध छोड़ देना चाहिए। दस ही पन्द्रह दिन में वे नागरी अक्षर सीख सकते हैं और उन अक्षरों में छपी हुई सरल पुस्तकें और सामाचार-पत्र पढ़ सकते हैं। इन प्रान्तों के मदरसों में तो गवर्नमेंट ने फ़ारसी अक्षरों के साथ नागरी अक्षर भी सिखलाये जाने का नियम कर दिया गया है। अतएव मुसलमानों को नागरी अक्षर पढ़ने और शुद्ध हिन्दी बोलने तथा लिखने में अब बहुत ही कम कठिनाई पड़ेगी। (वही, पृ० 355-56)।

1903 की सरस्वती (भाग-4 संख्या 11) ने यह लिखा कि "सब प्रान्तों में देवनागरी लिपि करने का सहज उपाय यह है कि प्राइमरी (प्रारम्भिक) मदरसों में उसकी शिक्षा दी जावै। यदि ऐसा किया जावै तो बहुत ही थोड़े दिनों में इस लिपि का सब कहीं प्रचार हो जाय, और शीघ्र ही प्रजा में सहानुभूति जागृत हो उठे। यदि एक सम्मत होकर सब लोग गवर्नमेंट से इस विषय में प्रार्थना करें तो सर्वथा सम्भव है, कि वह इस परमोचित प्रार्थना को स्वीकार कर ले और प्रारम्भिक मदरसों में, और-और विषयों के साथ नागरी लिपि का भी प्रचार कर दे। परन्तु कल्पना कीजिए, कि गवर्नमेंट ने ऐसा करना मंजूर न किया तो क्या इस लिपि को प्रचलित करने का और कोई मार्ग ही नहीं? और कोई उपाय ही नहीं? है क्यों नहीं। अवश्य है। ऐसे अनेक स्कूल हैं जिन पर गवर्नमेंट

का कोई स्वत्व नहीं, वे सर्वथा प्रजा ही के खर्च से चलाते हैं। उनमें हिन्दी लिपि की शिक्षा प्रारम्भ कर दी जाय। इस प्रकार के स्कूल हैं, सबमें हिन्दी लिपि यदि सिखलाई जावे तो वर्ष नहीं छः महीने में हज़ारों नहीं लाखों, लड़के और लड़कियां, देश में हिन्दी लिखने लगें, और इस लिपि को व्यापक लिपि करने में बहुत सहायता मिले।" (वही, पृ० 391-92)

1877 में बाबू अयोध्या प्रसाद ने अंग्रेज़ी व्याकरण के ढंग पर 'हिंदी व्याकरण' लिखा। इस व्याकरण पर ग्रियर्सन की टिप्पणी यह थी कि "इस व्याकरण में अनेक बातें ऐसी हैं जो किसी दूसरे हिन्दी व्याकरण में नहीं पायी जाती हैं।" उन्होंने 1887 में 'खड़ी बोली पद्य' का पहला भाग लिखा, जो खड़ी बोली में काव्य रचना की आवश्यकता से प्रेरित होकर लिखी गयी थी। इस पुस्तक का दूसरा भाग 1889 में प्रकाशित हुआ। बाबू अयोध्या प्रसाद ने पांच तरह की हिन्दी का उल्लेख किया है। उन्होंने 'खड़ी बोली पद्य' के पहले भाग में 'ठेठ हिन्दी', 'पंडित स्टाइल की हिन्दी' और 'मुन्शी स्टाइल की हिन्दी' इन तीन भेदों को दिया है और दूसरे भाग में 'मौलवी स्टाइल की हिन्दी' तथा 'यूरेशियन स्टाइल की हिन्दी' का उल्लेख किया है। इस दूसरे भाग का सम्पादन फ्रेड्रिक पिनकाट ने किया था और यह पुस्तक लन्दन से छपी थी। इन पुस्तकों पर लिखते हुए फ्रेड्रिक पिनकाट ने लिखा कि उनका उद्देश्य अपने देशवासियों को पुरानी पड़ गयी ब्रजबोली को छोड़कर खड़ी बोली को अपनाने के लिए प्रेरित करना था। साथ ही वे उन्हें भी, जो कि उर्दू का प्रयोग करते हैं, अरबी लिपि के स्थान पर नागरी को अपनाने के लिए मनाना चाहते थे।

बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर को बाबू अयोध्या प्रसाद ने इस आशय की एक याचिका भी दी थी कि प्रारम्भिक और मिडिल परीक्षा की पाठ्य-पुस्तकें केवल देवनागरी अक्षरों में छापी जाएं, उर्दू में न छापी जाएं, क्योंकि बिहार की कचहरियों में केवल नागरी अक्षर जारी हैं।

सरस्वती के 1905 के भाग 6, सं० 8 वाले अंक में यह सूचना दी गयी है कि कलकत्ता हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज शारदाचरण मित्र ने एक प्रबन्ध के द्वारा 'देश में एक लिपि होने का प्रस्ताव किया।' उनके इस प्रस्ताव के समर्थक और विरोधी दोनों तरह के लोग थे, लेकिन समर्थकों की संख्या विरोधियों की अपेक्षा बहुत अधिक थी। दूसरी बात यह थी, और यह बात विशेष ध्यान देने की है कि विरोधकर्ताओं में विशेष करके अंग्रेज़ हैं। अर्थात् देश में एक लिपि के प्रचार से अंग्रेज़ों के निहित स्वार्थ को हानि पहुंचती है। देश में एक लिपि के होने से देश में समरसता की भावना जोर पकड़ेगी और उसका फैलाव होगा। ज़ाहिर है यह स्थिति अंग्रेज़ी राज के लिए खतरनाक साबित हो सकती थी। उन्होंने हर ऐसे काम का विरोध किया और उसके निरस्त होने तक उद्यम किया, जिससे

भारतीयों में आपसी अपनत्व पैदा होता हो। वह चाहे भाषा का सवाल हो, लिपि का हो, सामाजिक व्यवहार का हो या धर्म और संस्कृति का हो, सब कहीं अंग्रेज़ी सत्ता ने भेद पैदा करने वाले मुद्दों को खूब उछाला, जिसमें निहित स्वार्थ सिद्ध करने वाले उनके औज़ार बनते रहे। मज़े की बात यह है कि यहां तो अंग्रेज़ देश के लिए एक लिपि का विरोध करते रहे पर यूरोप में एक लिपि की वकालत करते नहीं थकते थे। अधिकांश यूरोपीय भाषाओं की लिपि रोमन है, पर चूंकि यह अंग्रेज़ी की लिपि है, इसलिए अंग्रेज़ इसके पक्षधर थे।

सन् 1905 में देश की आबादी कुल तीस करोड़ थी। डॉ० ग्रियर्सन (लिंविस्टिक सर्वे) के अनुसार इसमें से साढ़े बाईस करोड़ लोग आर्य-भाषाओं में से ही किसी-न-किसी भाषा के बोलने वाले थे। इसमें से ग्यारह करोड़ तीस लाख लोग, जो पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी (छः करोड़ अट्ठारह लाख) माध्यमिक हिन्दी (तीन करोड़ बारह लाख) और राजस्थानी (एक करोड़ नब्बे लाख) को मिलाकर बनते हैं, देवनागरी लिपि का प्रयोग करते हैं। बाक़ी के दस करोड़ में से मराठी बोलने वाले, जिनकी संख्या दो करोड़ के लगभग थी, देवनागरी का ही प्रयोग करते थे। पंजाबी, जिसके बोलने वालों की संख्या एक करोड़ सत्तर लाख थी, की गुरुमुखी लिपि और देवनागरी में अन्तर अधिक नहीं है। गुजराती (बोलने वालों की संख्या एक करोड़) लिखने वालों को भी देवनागरी पढ़ने-लिखने में विशेष कठिनाई नहीं होती, वे बिना किसी परिश्रम के देवनागरी अपना सकते हैं। बाकी बचे लोगों में बंगला भाषा-भाषी चार करोड़ छियालीस लाख और फुटकर भाषाओं के बोलने वाले दो करोड़ लोग बहुत कम परिश्रम से देवनागरी लिपि सीख सकते हैं, क्योंकि बंगला लिपि भी देवनागरी लिपि ही से बनी है। इस तरह कुल आबादी में से साढ़े सात करोड़ देशवासी ऐसे बच रहे जिन्हें देवनागरी सीखने में विशेष श्रम करना पड़ता।

यह मज़ेदार बात है कि 1905 के पहले ही अंग्रेज़ सरकार ने कचहरियों में रोमन लिपि को लागू करने का विचार बनाया था पर अत्यन्त निराशाजनक परिणाम के कारण सरकार को रोमन लिपि थोपने के विचार को छोड़ना पड़ा। रोमन लिपि के बहुत अधिक दोषपूर्ण होने की वजह से उसमें न तो हिन्दी-उर्दू को सही-सलामत लिखा जा सकता था और न दूसरी भारतीय भाषाओं को ही।

हिन्दी बनाम उर्दू और हिन्दुस्तानी : ज़बान से जुड़ी राजनीति

मौलवी मुहम्मद हुसैन आज़ाद, जो लाहौर के गवर्नमेंट कॉलेज में अरबी के प्राध्यापक थे, ने उर्दू भाषा और साहित्य के विकास पर 'आबेहयात' नाम से एक पुस्तक लिखी थी, जो 1899 में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक उर्दू संसार की सबसे चर्चित पुस्तक रही है। इसकी प्रामाणिकता को लेकर भी कभी किसी को सन्देह नहीं रहा। आज़ाद की विद्वता पर भी कोई प्रश्न-चिह्न नहीं है। आज़ाद साहब ने 'आबेहयात' (पृ० 31) में उर्दू के जन्म के विषय में लिखा है कि "अगरचे यह बात बग़ैर तमसील देखने के भी हर शख़्स के ख़याल में नक़्श है कि संस्कृत और ब्रज-भाषा की मिट्टी से उर्दू का पुतला बना है। बाक़ी और ज़ुबानों के अलफ़ाज़ ने ख़त व ख़ाल का काम किया है...।"

'आबेहयात' के पृष्ठ 47-48 पर आज़ाद ने लिखा "...उर्दू का दरख़्त अगरचे संस्कृत और भाषा की ज़मीन में उगा मगर फ़ारसी की हवा में सरसब्ज़ हुआ है। अलबत्ता मुश्किल यह हुई कि 'बेदिल' और 'नासिर अली' का ज़माना क़रीब गुज़र चुका था और इनके मोतक़िद बाक़ी थे। वह इस्तेआरा और तशबीह के लुत्फ़ से मस्त थे। इस वास्ते गोया उर्दू भाषा में इस्तेआरा व तशबीह का रंग भी आया और बहुत तेजी से आया। यह रंग अगर इस क़दर आता जितना चेहरे पर उबटने का रंग या आंखों में सुर्मा तो खुश्नुमाई और बीनाई दोनों को मुफ़ीद था। मगर अफ़सोस कि उसकी शिद्दत ने हमारे क़ूवत बयान की आंखों को सख़्त नुक़सान पहुंचाया और ज़ुबान को ख़याली बातों से फ़क़त तौहमात का स्वांग बना दिया। नतीजा यह हुआ कि भाषा और उर्दू में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ हो गया।"

पृष्ठ 53 पर आज़ाद लिखते हैं—"...अफ़सोस यह है कि बजाय इसके कि क़लाम उनका ख़ास व आम के दिलों पर तासीर करे वह मुस्तैद लोगों की तबा-आज़माई के लिए एक दक़ीक़ मुअम्मा और अवाम के लिए एक अजीब गोरखधन्दा तैयार हो गया। और जवाब उनका यह है कि कोई समझे तो समझे जो न समझे वह अपनी जेहलात के हवाले।"

उर्दू क़लाम के वायवी होते जाने को आज़ाद ने इन लफ़्ज़ों में बयान किया है—"अफ़सोस फिर भी दिल से नहीं भूलता कि उन्होंने (अपने बुज़ुर्गों ने) एक क़ुदरती फूल को जो अपनी खुशबू से महकता और रंग से लहकता था, मुफ़्त हाथ से फेंक दिया। वह क्या है? क़लाम का असर और इज़हार अस्लियत! हमारे नाज़ुक ख़याल और बारीक बीन लोग इस्तेआरों और तशबीहों की रंगीनी

और मुनासिबत लफ़्ज़ी के जौक़ और शौक़ में ख़याल से ख़याल पैदा करने लगे और अस्ली मतलब के अदा करने में बेपरवाह हो गये। अंजाम इसका यह हुआ कि जुबान का ढंग बदल गया और नौबत यह हुई कि अगर कोशिश करे तो फ़ारसी की तरह पंजरुक्का और मीना बाज़ार या फ़िसानैअजायब लिख सकते हैं लेकिन एक मुल्क़ी या मुआमिला या तारीख़ी इनक़िलाब इस तरह नहीं बयान कर सकते जिससे मालूम होता जाय कि वाक़या मज़क़ूर क्योंकर हुआ और क्योंकर इख़तिताम को पहुंचा।"

"यह क़बाहत फ़क़त नाजुकख़याली ने पैदा की कि इस्तेआरा व तशबीह के अन्दाज़ और मुतरादिक फ़िक़रे तकियाकलाम की तरह हमारी ज़बाने-क़लम पर चढ़ गये...।"

"बेशक हमारी तर्ज़ बयान अपनी चुस्त बन्दिश और क़ाफ़ियों के मुसलसल खटकों से कानों को अच्छी तरह ख़बर करती है। अपने रंगीन अलफ़ाज़ और नाज़ुक मज़मून से ख़याल में शोखी का लुत्फ़ पैदा करती है। साथ इसके मुबालिग़ै क़लाम और इबारत की धूमधाम से ज़मीन व आसमान को तह व बाला कर देती है। मगर असल मक़सूद यानी दिली असर या इज़हार वाक़फ़ियत ढूंढ़ो तो ज़रा नहीं।" (वही, पृ० 56-57)

उर्दू की उस वक़्त की स्थिति पर विचार करते हुए आज़ाद कहते हैं कि "उर्दू इस क़दर जल्द-जल्द रंग बदल रही है कि एक मुसन्निफ़ अगर खुद अपनी एक सन की तसनीफ़ को दूसरे सन की तसनीफ़ से मुकाबला करे तो जुबान में फ़रक़ पायेगा। बावजूद इसके अब तक भी इस काबिल नहीं कि हर क़िस्म के मज़मून खातिरख़्वाह अदा कर सके या हर इल्म की क़िताब को बेतक़ल्लुफ़ तरजमा कर दे।" (वही, पृ० 23)

आज़ाद हिन्दी-उर्दू के भेद को किस तरह अनावश्यक और बे-बुनियाद समझते हैं, उसको उनके इस कथन से बखूबी जाना जा सकता है—

"बाज़ अशख़ास यह भी कहते हैं कि खाली भाषा (हिन्दी) में कुछ मजा नहीं है। उर्दू ख़ाहम-ख़ाह तबीयत को भली मालूम होती है। मगर मेरी अक़्ल दोनों बातों में हैरान है। क्योंकि जब कोई कहे आज एक शख़्स आया था या यह कहे कि एक मनुष आया था, तो दोनों यकसां हैं। क्योंकर कहूं कि मनुष मुख़ालिफ़ तबा है ? यह भी तो हो सकता है कि हम बचपन से शख़्स सुनते हैं। इसलिए हमें मनुष या मानुस नामानूस (नापसन्द) मालूम होता है। इसी तरह और अलफ़ाज़ जिनकी तादाद शुमार से बाहर हो गई है।

इससे ज़ियादा तअज्जुब यह है कि बहुत से लफ़्ज़ खुद मतरूक हैं। मगर दूसरे लफ़्ज़ से तरकीब पाकर ऐसे हो जाते हैं कि फ़सहा के मुहाविरे में जान डालते हैं। मसलन यही मानुस कि अकेला मुहाविरे में नहीं मगर सब बोलते हैं

हिन्दी बनाम उर्दू और हिन्दुस्तानी : ज़बान से जुड़ी राजनीति

मौलवी मुहम्मद हुसैन आज़ाद, जो लाहौर के गवर्नमेंट कॉलेज में अरबी के प्राध्यापक थे, ने उर्दू भाषा और साहित्य के विकास पर 'आबेहयात' नाम से एक पुस्तक लिखी थी, जो 1899 में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक उर्दू संसार की सबसे चर्चित पुस्तक रही है। इसकी प्रामाणिकता को लेकर भी कभी किसी को सन्देह नहीं रहा। आज़ाद की विद्वता पर भी कोई प्रश्न-चिह्न नहीं है। आजाद साहब ने 'आबेहयात' (पृ० 31) में उर्दू के जन्म के विषय में लिखा है कि "अगरचे यह बात वग़ैर तमसील देखने के भी हर शख़्स के ख़याल में नक़्श है कि संस्कृत और ब्रज-भाषा की मिट्टी से उर्दू का पुतला बना है। बाक़ी और ज़ुबानों के अलफ़ाज़ ने ख़त व ख़ाल का काम किया है···।"

'आबेहयात' के पृष्ठ 47-48 पर आज़ाद ने लिखा "···उर्दू का दरख़्त अगरचे संस्कृत और भाषा की ज़मीन में उगा मगर फ़ारसी की हवा में सरसब्ज़ हुआ है। अलबत्ता मुश्किल यह हुई कि 'बेदिल' और 'नासिर अली' का ज़माना क़रीब गुज़र चुका था और इनके मोतक़िद बाक़ी थे। वह इस्तेआरा और तशबीह के लुत्फ़ से मस्त थे। इस वास्ते गोया उर्दू भाषा में इस्तेआरा व तशबीह का रंग भी आया और बहुत तेजी से आया। यह रंग अगर इस क़दर आता जितना चेहरे पर उबटने का रंग या आंखों में सुर्मा तो खुश्नुमाई और बीनाई दोनों को मुफ़ीद था। मगर अफ़सोस कि उसकी शिद्दत ने हमारे क़ूवत बयान की आंखों को सख़्त नुक़सान पहुंचाया और ज़ुबान को ख़याली बातों से फ़क़त तौहमात का स्वांग बना दिया। नतीजा यह हुआ कि भाषा और उर्दू में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ हो गया।"

पृष्ठ 53 पर आज़ाद लिखते हैं—"···अफ़सोस यह है कि बजाय इसके कि क़लाम उनका ख़ास व आम के दिलों पर तासीर करे वह मुस्तैद लोगों की तबा-आज़माई के लिए एक दक़ीक़ मुअम्मा और अवाम के लिए एक अजीब गोरखधन्दा तैयार हो गया। और जवाब उनका यह है कि कोई समझे तो समझे जो न समझे वह अपनी जेहलात के हवाले।"

उर्दू क़लाम के वायवी होते जाने को आज़ाद ने इन लफ़्ज़ों में बयान किया है—"अफ़सोस फिर भी दिल से नहीं भूलता कि उन्होंने (अपने बुज़ुर्गों ने) एक क़ुदरती फूल को जो अपनी खुशबू से महकता और रंग से लहकता था, मुफ़्त हाथ से फेंक दिया। वह क्या है? क़लाम का असर और इज़हार अस्लियत! हमारे नाज़ुक ख़याल और बारीक बीन लोग इस्तेआरों और तशबीहों की रंगीनी

और मुनासिबत लफ़ज़ी के जौक़ और शौक़ में ख़याल से ख़याल पैदा करने लगे और अस्ली मतलब के अदा करने में बेपरवाह हो गये। अंजाम इसका यह हुआ कि ज़ुबान का ढंग बदल गया और नौबत यह हुई कि अगर कोशिश करे तो फ़ारसी की तरह पंजरुक्का और मीना बाज़ार या फ़िसानैअजायब लिख सकते हैं लेकिन एक मुल्की या मुआमिला या तारीख़ी इनक़िलाब इस तरह नहीं बयान कर सकते जिससे मालूम होता जाय कि वाक़या मज़कूर क्योंकर हुआ और क्योंकर इख़तिताम को पहुंचा।"

"यह क़बाहत फ़क़त नाज़ुकख़याली ने पैदा की कि इस्तेआरा व तशबीह के अन्दाज़ और मुतरादिक फ़िक़रे तकियाकलाम की तरह हमारी ज़बाने-क़लम पर चढ़ गये···।"

"बेशक हमारी तर्ज़ बयान अपनी चुस्त बन्दिश और क़ाफ़ियों के मुसलसल खटकों से कानों को अच्छी तरह ख़बर करती है। अपने रंगीन अलफ़ाज़ और नाज़ुक मज़मून से ख़याल में शोखी का लुत्फ़ पैदा करती है। साथ इसके मुबालिग़ै क़लाम और इबारत की धूमधाम से ज़मीन व आसमान को तह व बाला कर देती है। मगर असल मक़सूद यानी दिली असर या इज़हार वाक़फ़ियत ढूंढ़ो तो ज़रा नहीं।" (वही, पृ० 56-57)

उर्दू की उस वक़्त की स्थिति पर विचार करते हुए आज़ाद कहते हैं कि "उर्दू इस क़दर जल्द-जल्द रंग बदल रही है कि एक मुसन्निफ़ अगर खुद अपनी एक सन की तसनीफ़ को दूसरे सन की तसनीफ़ से मुकाबला करे तो ज़ुबान में फ़रक़ पायेगा। बावजूद इसके अब तक भी इस काबिल नहीं कि हर क़िस्म के मज़मून खातिरख़्वाह अदा कर सके या हर इल्म की क़िताब को बेतक़ल्लुफ़ तरजमा कर दे।" (वही, पृ० 23)

आज़ाद हिन्दी-उर्दू के भेद को किस तरह अनावश्यक और बे-बुनियाद समझते हैं, उसको उनके इस कथन से बखूबी जाना जा सकता है—

"बाज़ अशख़ास यह भी कहते हैं कि खाली भाषा (हिन्दी) में कुछ मजा नहीं है। उर्दू ख़ाहम-ख़ाह तबीयत को भली मालूम होती है। मगर मेरी अक़्ल दोनों बातों में हैरान है। क्योंकि जब कोई कहे आज एक शख़्स आया था या यह कहे कि एक मनुष आया था, तो दोनों यकसां हैं। क्योंकर कहूं कि मनुष मुख़ालिफ़ तबा है ? यह भी तो हो सकता है कि हम बचपन से शख़्स सुनते हैं। इसलिए हमें मनुष या मानुस नामानूस (नापसन्द) मालूम होता है। इसी तरह और अलफ़ाज़ जिनकी तादाद शुमार से बाहर हो गई है।

इससे ज़ियादा तअज्जुब यह है कि बहुत से लफ़्ज़ खुद मतरूक हैं। मगर दूसरे लफ़्ज़ से तरकीब पाकर ऐसे हो जाते हैं कि फ़सहा के मुहाविरे में जान डालते हैं। मसलन यही मानुस कि अकेला मुहाविरे में नहीं मगर सब बोलते हैं

कि अहमद ज़ाहिर में तो भलामानुस मालूम होता है बातिन की ख़बर नहीं।

बन्धु, भाषा में भाई या दोस्त को कहते हैं। अब मुहाविरे में भाई-बन्द कहते हैं। न फ़क़त बन्धु, न भाई बन्धु। और इन इस्तेमालों की तरजीद के लिए दलील किसी के पास नहीं। जो कुछ जिस जमाने में रवाज़ हो गया वही फ़सीह हो गया। एक ज़माना आयेगा कि हमारे मुहाविरे को लोग बे मुहाविरा कहकर हंसेंगे।" (वही, पृ० 30-31)

'आबेहयात' नब्बे साल पुरानी पुस्तक है, जो सर सैयद अहमद के इन्तक़ाल के एक साल बाद शाया हुई थी। तब तक उर्दू बनाम हिन्दी राजनीति उभरकर सामने आ चुकी थी। मुसलमान उर्दू से और अधिकतर हिन्दू हिन्दी से अपनी धार्मिक अस्मिता को जोड़ चुके थे। भाषा का धर्म से बल्कि धार्मिक कट्टरता से गठबंधन शुरू हो चुका था। ऐसे माहौल में 'आबेहयात' में आज़ाद का इतना वस्तुपरक और निष्पक्ष दृष्टिकोण सचमुच सराहनीय है। ऐसा नहीं है कि उर्दू का वास्तविक चित्रण और उसकी कमियों पर दृष्टिपात करने वाले मुसलमानों का एकदम अभाव था, उर्दू की त्रुटियों की ओर इशारा करने वाले और मुसलमान भी थे, पर वे उतनी गहराई में नहीं जा सके, या कहिए कि उनका लेखन लेखकीय दृष्टि से उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था, जितना आज़ाद का था। औरों में अधिकतर लेखकों या राजनीतिज्ञों ने केवल टिप्पणियां दी हैं···या अपने विचार दिये हैं।

'उर्दू रस्मुल-ख़त' (यानी लिपि) पर एक लेख कानपुर से निकलने वाले उर्दू मासिक पत्र 'ज़माना' के जुलाई 1907 के अंक में सैयद मुहम्मद ज़ामिन का है। इस लेख में उर्दू हुरुफ़ के बारे में ज़ामिन साहब लिखते हैं—

1. "दुनिया की तमाम मुरौविजा ज़बानों में यह बात है कि हुरूफ़-तहज्जी के सीख लेने के बाद लड़का हर्फ़शनास हो जाता है और इबारत पढ़ सकता है। मतलब समझे या न समझे क्योंकि इन हुरूफ़ के सीखने और याद करने में बहुत थोड़ी मुद्दत सर्फ़ होती है। एक हफ़्ते से ज़ायद शाज़ो-नादिर ही सर्फ़ होता होगा। उर्दू में बरख़िलाफ़ इसके मुखतलिफ़ तख़तियां पढ़नी और याद करनी पड़ती हैं, जिनमें बहुत बड़ा हिस्सा बच्चे की उम्र का ज़ाया होता है।···जब उनको एक हर्फ़ मसलन 'बे' की आज एक सूरत बताई गई और कल फिर दूसरी अशकाल, 'बा, बत, बज, बर, बस, बम, बन,' और तीसरे रोज़ दरमियानी शक्ल इस तरह 'बतोद' जिसमें 'ब' की अलामत सिर्फ़ एक शोशा है, बताये जाते हैं तो उनकी परीशानी और हैरानी इस दर्जे (तक) बढ़ती है कि अलावा याद न करने के इससे उनकी कूवते हाफ़िज़ा को भी नुक़सान पहुंचता है···।"

2. "···इस मंझले (झमेले) के बाद फिर जो ख़राबी पेश आती है वह यह है कि जब खुदा खुदा करके कुछ सूझने लगा तो अब लिखना नहीं आता।

इबतिदाई तालीम के देरपा और मुफ़ीद बनाने के लिए निहायत ज़रूरी है कि लड़का जिस क़दर पढ़े उसको साथ-ही-साथ लिखता भी जाय। चुनांचे जिन ज़बानों में मुकन्नआत रायज हैं उनमें अगर अतफ़ाल को पढ़ना मसलन् पन्द्रह दिन में आ सकता है तो लिखना एक महीने में ज़रूर आ जाता है। और पांच-छै बरस का लड़का एक साल के अन्दर इस क़ाबिल हो सकता है कि अपना मतलब 'बशर्ते कि ज़बान आती हो' अच्छी तरह लिख ले। समझदार आदमी तो महीने डेढ़ महीने में इतना सीख सकता है कि अपनी ज़बान की इबारत जिस ग़ैर ज़बान में चाहे लिख ले···।

"बरख़िलाफ़ इसके उर्दू का तालिबेइल्म कैसा ही समझदार क्यों न हो इस क़लील मुद्दत में नाम भी बमुश्किल लिख सकेगा। लड़कों का क्या हिसाब जिनके सालहा साल सिर्फ़ 'अलिफ़' 'बे' की तख़ती साफ़ करने में गुजर जाते हैं।···इसी बिना पर हमारे हिन्दू दोस्त कोशिश कर रहे हैं कि नागरी को नहीं बल्कि नागरी हुरूफ़ को उर्दू के मुकाबले में रिवाज दिया जाय।"

3. "तीसरी अहम तरीन ख़राबी जो हमारे मौजूदा रस्मुलखत में है वह यह है कि इसकी वजह से 'प्रेस वर्क' की रफ़तार में तरक़्क़ी नहीं हो सकती। इस वक़्त दुनिया में जो आलमगीर रोशनी तरक़्क़ी की नज़र आ रही है वह सब प्रेस का तुफ़ैल है और प्रेस की जो उरूज इस वक़्त हासिल है वह टाइप की बदौलत। चुनांचे हमने अपने मज़मून के पहिले हिस्से में भी इस अम्र की तरफ़ इशारा किया है। संगी छापे को टाइप के छापे से बिल्कुल वही मुनासिबत है जो क़िताबत को संगी छापे से है। सबसे बड़ा ऐब तो संगी छापे का यही है कि उसमें क़िताब का सही तबअ होना अगर नामुमकिन नहीं तो करीब नामुमकिन के ज़रूर है। फिर क़िताबत की गरानी और क़िताब का एक मुऐय्यन मिक़दार से ज़्यादह न छप सकना मतबूआत की गरानी के लाइलाज अस्बाब हैं। क्या उर्दू में भी कोई रिसाला ऐसा है जो दो रुपये सालाना में मिले और अमेरिकन सायन्टिफ़िक (सायन्टिकफ़िक अमेरिकन) का मुक़ाबला कर सके? क्या उर्दू में भी कोई अख़बार ऐसा है जो बारा रुपये साल में (हफ़्तेवार) टाइम्स ऑफ़ इंडिया के बराबर ज़ख़ीरा मज़ामीन फ़राहम कर सके? गो कि यह सवाल ख़ूबी मज़ामीन के लिहाज़ से नहीं बल्कि सिर्फ कसरत मज़ामीन के लिहाज़ से है, जब कि इनका जवाब बजुज़ नफ़ी के कुछ नहीं।"

हिन्दुओं में तो एक ख़ासा बड़ा वर्ग था जो उर्दू का पक्षधर था और उसी अनुपात में हिन्दी का विरोधी था। इसकी कई वजहें थीं। एक वजह तो यह थी कि हिन्दुओं में कायस्थ या कश्मीरी हिन्दू या दूसरी जातियों के भी छिटपुट लोग ऐसे थे जिनकी रोज़ी-रोटी फ़ारसी और बाद में उसकी लिपि से जुड़ी हुई थी। पहले सरकारी काम-काज की भाषा तो फ़ारसी थी ही, जिन हिन्दुओं

के परिवार कचहरियों या राजस्व या दूसरे सरकारी महकमों से जुड़े हुए थे, उनके यहां उर्दू ही का बोलबाला था।

उर्दू के पक्षपाती हिन्दुओं का दूसरा वर्ग वह था जो अंग्रेज़ी सत्ता का पिट्ठू था। अंग्रेज़ी राज की नीति हिन्दी-उर्दू में समरसता के ख़िलाफ़ थी, और वह कहीं-न-कहीं उर्दू की पक्षधर थी, क्योंकि उर्दू की पक्षधरता से ही हिन्दी-उर्दू वैमनस्य को भड़काया जा सकता था। वैसे जहां ज़रूरत हुई है सरकार ने हिन्दी का पक्ष भी जान-बूझकर कूटनीति के क़दम के तौर पर लिया है, पर अधिकतर उर्दू का पक्ष लेने भर से उनका मक़सद पूरा होता रहा है।

थोड़े से ऐसे हिन्दू भी उर्दू के पक्षपाती रहे हैं जिन्हें उर्दू ज़बान से बहुत लगाव पैदा हो गया था। इनमें शायर, लेखक या उर्दू के सहृदय पाठक शामिल हैं। इन वर्गों के लोगों में बहुत से लोग उर्दू का पक्ष लेने के साथ-साथ हिन्दी की मज़म्मत भी करते हैं। जगह-जगह पर इनका ज़िक्र हुआ है। यहां पर एक उदाहरण लिया जा रहा है। कानपुर से निकलने वाले उर्दू-मासिक-पत्र 'ज़माना' के सम्पादक थे दयानरायन निगम, बी० ए० जो देवनागरी लिपि के कट्टर विरोधी तो थे ही, हिन्दी-संस्कृत दोनों के समान रूप से विरोधी थे। 'ज़माना' के सितम्बर 1905 के अंक में निगम साहब ने लिखा, "हरकस बख़याल खेश ख़ब्ते दारद। अहले बनारस को यह सूझ गई है कि संस्कृत तालीम को फ़रोग़ देने से हिन्दुस्तान फिर पुरानी अज़मत के ज़ीने पर चढ़ जाएगा। माहे गुज़श्ता में जब जनाब लेफ्टिनेन्ट गवर्नर वहां तशरीफ ले गये तो इस तजवीज़ पर बड़ी सरगरमी से बहस की गई। और फ़ैसला हुआ कि संस्कृत कुतबखाना के क़ायम करने, तुलबा को वज़ायफ़ देने और उनके लिये बोर्डिंग हाउस तामीर करने में ढाई लाख रुपया दरकार होगा। उसी वक़्त चंद खरे असामियों ने पचहत्तर हज़ार रुपया जमा करके अपनी दरियादिली का सबूत भी दे दिया। हम इन असहाब की फ़ैयाज़ियों के मोतरिफ़ हैं। मगर उसके साथ ही यह कहना ज़रूरी समझते हैं कि अगर यह सरमाया, यह दिमाग़ और यह सरगरमी सनअती (कारीगरी) तालीम के लिए सर्फ़ की जाती तो मुल्क को बेइंतहा फ़ायदा होता। हम नहीं समझते कि संस्कृत तालीम की अशाअत से इन असहाबों ने क्या फ़ायदा सोच रखा है। क्या यह ख़याल है कि यह कोशिशें इस ज़बान को सारे हिन्दुस्तान की आम ज़बान बना देंगी। अगर ऐसा ख़याल है तो बिल्कुल बातिल है।"

'सरस्वती' के 1906 (भाग-7, संख्या-8) के अंक में देवीप्रसाद शुक्ल का एक लेख गवर्नमेंट-गज़ट को लेकर है। शुक्ल जी ने लिखा है कि "संयुक्त प्रदेश से जो सरकारी ग़ज़ट निकलता है उसका अनुवाद केवल उर्दू भाषा और फ़ारसी अक्षरों ही में प्रकाशित किया जाता है। जिस समय सरकार हिन्दी भाषा और

देवनागरी अक्षरों की उपयोगिता से अनभिज्ञ थी उस समय सरकारी ग़ज़ट का केवल उर्दू में निकलना विशेष न खटकता था। परन्तु सर एन्टनी मेक्डानेल्ड के समय से सरकार को यह बात भली-भांति विदित हो गई है कि हिन्दी बोलने वालों और देवनागरी अक्षरों को व्यवहार में लाने वालों की संख्या अन्य भाषा-भाषियों और अन्य लिपि के प्रयोग करने वालों की अपेक्षा बहुत अधिक है। तब से सरकार ने देवनागरी अक्षरों को सरकारी न्यायालयों में प्रचलित कर दिया और समन्स इत्यादि फ़ारसी और नागरी दोनों ही अक्षरों में लिखे जाने लगे। परन्तु कुरीतियां धीरे-ही-धीरे निर्मूल हुआ करती हैं और सरकारी नियमों का यथेष्ट पालन भी धीरे-ही-धीरे होता है। सरकारी ग़ज़टों की जो केवल उर्दू और अंग्रेज़ी ही में निकलने की पुरानी चाल थी उसमें अब तक परिवर्तन न होने का कारण, हमारी समझ में, निगाह से चूकना (ओवरसाइट) समझना चाहिए। क्योंकि इस प्रान्त के गवर्नमेंट ग़ज़ट के हिन्दी भाषा और देवनागरी अक्षरों में भी प्रकाशित होने की अत्यन्त आवश्यकता है। यह एक ऐसा विषय है जिसके विरुद्ध कुछ कहा ही नहीं जा सकता। जब और सरकारी कार्रवाइयां देवनागरी अक्षरों में होने लगी हैं तब सरकारी ग़ज़टों की हिन्दी भाषा और देवनागरी अक्षरों में निकलने की तो और भी आवश्यकता है। जब ये ग़ज़ट अंग्रेज़ी और फ़ारसी अक्षरों में निकलते हैं तब देवनागरी में भी क्यों न निकले? इसी लिपि का तो यहां सब से अधिक प्रचार है।" (पृ० 324-25)

इस बात का ज़िक्र अन्यत्र हुआ है कि हिन्दी भाषा के लिए अनेक लोगों ने 'नागरी' शब्द का प्रयोग किया है। गोया कि नागरी लिपि या रस्मुलख़त न होकर ज़बान है। ज़ाहिर है कि ऐसे प्रयोग अज्ञानतावश हैं। और ऊपर से कमाल यह हुआ है कि जिसे हिन्दी ज़बान और नागरी लिपि का फ़र्क भी मालूम नहीं है, वह भी हिन्दी की कमियों पर बढ़-चढ़कर अपने विचार प्रकट करता रहा है। जिस विषय की जानकारी ही नहीं है, उसके बारे में बहुज्ञ होने का दावा करना और उस पर फ़तवा देना, ज़ाहिर है कि एक ओर धार्मिक कर्तव्य (?) से प्रेरित होकर हो रहा था, और दूसरी ओर शासन का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने के इरादे से। इस तरह से हिन्दी को लेकर बहुत से आरोप अवास्तविक और निराधार हैं। और ऐसे लोगों द्वारा लगाये जाते रहे हैं जिन्हें भाषा-संरचना के बारे में कोई जानकारी नहीं है और न इस बात की ही कोई जानकारी है कि भाषा की सामाजिक भूमिका और उसके सामाजिक सरोकार किस तरह के होते हैं।

1907 की जुलाई के 'ज़माना' में प्रकाशित सैयद मुहम्मद ज़ामिन के लेख 'उर्दू रस्मुल-ख़त' का ज़िक्र ऊपर मैंने किया है। ज़ामिन ने उसी लेख में यह लिखा है कि "ज़बान हिन्दुस्तान की नागरी नहीं बल्कि उर्दू है।" ज़ामिन के इस

कथन पर कोई टिप्पणी करना अनावश्यक है। इतना कहना काफी है कि नागरी ज़बान नहीं, रस्मुलख़त है। और ज़बान तथा रस्मुलख़त (लिपि) में बहुत अधिक भेद होता है, इतना कि जानकार आदमी ग़लती से भी दोनों को एक नहीं कहता। दूसरी चीज़ यह है कि 1901 की जनगणना-रपट के मुताबिक सिर्फ़ संयुक्त प्रान्त में हिन्दी बोलने वालों की तादाद दस लाख सोलह हज़ार सड़सठ थी, और उर्दू बोलने बालों की तादाद दो लाख उनसठ हज़ार तिरपन थी। और संयुक्त प्रान्त को उर्दू बोलने वालों का एक गढ़ कहा जाता था।

ज़ामिन साहब और उन-जैसे अनेक मुस्लिम लेखक 1906 के आसपास हिन्दी-उर्दू सम्बन्धों पर अपने ढंग से विचार करने लगे थे। राजनीतिज्ञ भी इसमें शामिल थे जो उर्दू को इस्लाम के साथ जोड़कर मुस्लिम जनमत को अपनी मनचाही दिशा देने में नये जोश के साथ लग गये थे। मुस्लिम नेताओं के ज़ेहन में यह बात बैठ गई थी कि 'इस्लाम ख़तरे में है' का नारा बुलंद किये बग़ैर भिन्न-भिन्न प्रान्तों के देहातों में रहने वाले मुसलमानों को जो कि स्थानीय बोलियों को ही नहीं बल्कि रहन-सहन के स्थानीय ढंग को भी अपनाये हुए थे, एक सूत्र में बांधा नहीं जा सकता। सभी मुसलमानों को एक सूत्र में बांधने का सबसे बड़ा ज़रिया इस्लाम था। सभी को एक सूत्र में बांधने का दूसरा बड़ा ज़रिया उर्दू ज़बान थी, बल्कि उर्दू ज़बान से भी बढ़कर फ़ारसी रस्मुलख़त था। क्योंकि ज़बान के स्तर पर उर्दू-हिन्दी को अलग-अलग स्थापित करना संभव नहीं था। फ़ारसी लिपि और अरबी-फ़ारसी शब्द ही ऐसे मुद्दे थे जो उर्दू ज़बान को जुदा सिद्ध करने के लिए सामने किये जाते थे; जो कि कुल मिलाकर एक बिलकुल ही लचर तर्क था। लेकिन ताज़्ज़ुब इस बात का है कि आज 1990 में भी उर्दू को हिन्दी से अलगाने के लिए इन्हीं मुद्दों को आगे किया जाता है। इन भलेमानुसों को यह न तो तब पता था और न आज है कि उर्दू का स्वतंत्र अस्तित्व फ़ारसी रस्मुलख़त और अरबी-फ़ारसी के बड़े-बड़े शब्दों की वजह से नहीं क़ायम है, बल्कि उर्दू में मिलने वाली उन खुसूसीयतों की वजह से क़ायम है या कहिए कि उर्दूपन की वजह से है जो उसे दूसरी ज़बानों से अलग करती है। वे खुसूसीयतें तमाम दीगर ज़बानों में नहीं हैं, जो उर्दू को हासिल हैं। अब यह बात दूसरी है कि इसके बावजूद उर्दू और हिन्दी के बीच के तार बहुत महीन हैं और अच्छे जानकार को ही दिखाई देते हैं, बोलचाल के लहज़े से लेकर कविता और नज़्म की बारीकियों से अलग-अलग पहचान बनती है। वरना हिन्दी के पक्षपाती के लिए यह कहने का हक़ भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से बखूबी बनता है कि हिन्दी और उर्दू में भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यानी कि भाषिक संरचना की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। भाषिक संरचना में रस्मुलख़त नहीं आता। उसमें किसी दूसरी भाषा से उधार लिये गये भारी-भरकम शब्दों या उधार ली गई कुछ ध्वनियों को भी शुमार नहीं करते।

1906 के आस-पास मुस्लिम नेताओं की मनःस्थिति का मैं ज़िक्र ऊपर कर रहा था। मुस्लिम नेता हरचंद यह कोशिश कर रहे थे कि मुसलमानों के एक-मात्र प्रवक्ता वे बनें और मुस्लिम अवाम उनके पीछे इकट्ठा हो। अंग्रेज़ इस स्थिति से वाक़िफ़ थे और उन्हें, खुलकर शह दे रहे थे। वैसे 'फूट डालो और राज करो' की उनकी स्थायी नीति थी, पर 1906 के आस-पास इस नीति में तेज़ी लाने की सख़्त ज़रूरत थी। 1905 में हुए बंगाल-विभाजन के ख़िलाफ़ बंगाल में आंदोलन भड़क रहे थे, और इस आंदोलन में सक्रिय भूमिका हिन्दुओं की थी। मुसलमान आंदोलन में भाग ले रहे थे, पर वे अधिकतर पश्चिमी बंगाल के मुसलमान थे। दूसरी चीज़ यह थी कि वे इस बारे में अनिश्चय की स्थिति में थे कि विभाजन से मुसलमानों को फ़ायदा होगा या नुक़सान। प्रशासन विभाजन से होने वाले मुसलमानों के फ़ायदों को उनमें खूब बढ़ा-चढ़ाकर प्रचारित कर रहा था। ढाका के नवाब आग़ा ख़ान जैसे मुस्लिम नेताओं को अंग्रेज़ों ने पहले ही खरीद रखा था। सो वे भी विभाजन के पक्ष में थे। नवाब आग़ा ख़ान को तो विभाजन से सचमुच में बहुत फ़ायदा पहुंचने वाला था। पूर्वी बंगाल की राजधानी ढाका बनाई गई थी, जिससे आग़ा ख़ान को बेहिसाब आर्थिक लाभ पहुंचा था। उनके और उन-जैसे दूसरे कट्टर मुस्लिम नेताओं के प्रभाव में जो मुसलमान थे, वे विभाजन के पक्ष में ही थे। इसलिए कुल मिलाकर विभाजन के विरुद्ध आंदोलन में मुसलमानों की भूमिका बहुत स्पष्ट नहीं थी। 1905 में ही कांग्रेस में बाल गंगाधर तिलक के नेतृत्व में गरम दल उभरा, जिससे अंग्रेज़ों के कान खड़े हुए।

यह सब पृष्ठभूमि है उस डेपुटेशन की जो 1 अक्टूबर 1906 को आग़ा ख़ान के नेतृत्व में वायसराय लार्ड मिन्टो के समक्ष उपस्थित हुआ। मज़े की बात यह थी कि डेपुटेशन ने जो मेमोरियल वाइसराय के सम्मुख प्रस्तुत किया, उस मेमोरियल को लिखने वाले थे अलीगढ़ के अंग्रेज़ प्रिंसिपल और लिखने में मदद करने वाले थे डनलप स्मिथ जो वाइसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी थे। ज़ाहिर है कि वाइसराय की सहमति से ही सब कुछ हुआ होगा। डेपुटेशन में मुस्लिम समुदाय के जो लोग शामिल हुए थे वे सब-के-सब नवाब, तअल्लुकेदार, बड़े व्यापारी और बड़े बैरिस्टर थे। इनमें भी बहुत बारीकी से छानबीन करने के बाद डेपुटेशन के सदस्य तय किये गये थे। सभी की अंग्रेज़ी-राज के प्रति भक्ति हर तरह से पुष्ट और प्रमाणित थी। मेमोरियल में जो मांगें रखी गयी थीं उनमें सबसे घातक मांग थी अलग मुस्लिम निर्वाचक मंडल की मांग। यह शोध का विषय है कि साम्प्रदायिक आधार पर अलग मुस्लिम निर्वाचक मंडल की मांग के मान लिये जाने पर मुस्लिम अलगाववाद को किस क़दर बढ़ावा मिला, और किस तरह अन्ततः अलग मुस्लिम राज्य की मांग को उसने चरितार्थ किया। पर यह बहुत साफ़ तौर पर आने वाले

समय में देखा गया कि हिन्दू-मुस्लिम राजनीति और थोड़े अरसे बाद कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच अलग मुस्लिम निर्वाचक-मंडल मतभेद के एक बड़े मुद्दे के रूप में रहा। इस मेमोरियल की मांगों को वाइसराय ने मुसलमानों के प्रति हमदर्दी जताते हुए झट मान लिया। उस पूरी कार्यवाही को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे मिन्टो बेसब्री से डेपुटेशन का इंतज़ार ही कर रहे हों और मेमोरियल पर उनकी सील लगाने की औपचारिकता ही बाक़ी रह गयी हो। डेपुटेशन के बाद मिन्टो ने जो नोट सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट मोर्ले को लंदन भेजा उससे भी यही ज़ाहिर होता है।

यह भी मात्र संयोग नहीं है कि इसी 1906 की 30 दिसम्बर को मुस्लिम लीग की स्थापना हुई और जिसके अध्यक्ष आग़ा ख़ान मनोनीत किये गये। मुस्लिम लीग की स्थापना भी अंग्रेज़ों की शह पर ही की गई थी। अंग्रेज़ी राज के प्रति पूर्ण वफ़ादारी इसके प्रमुख उद्देश्यों में एक थी।

इस तरह 1906 का वर्ष वह बिन्दु है जहां मुस्लिम राजनीति का एक मोड़ है। उर्दू का सवाल भी इसी मोड़ से जुड़ा हुआ है। वह सिर्फ़ भाषा का सवाल नहीं है, पूरी तौर पर मुस्लिम राजनीति का सवाल है। हिन्दी-उर्दू के मसले को राजनीति से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

19-8-1887 के 'ओवरलैण्ड मेल' में फ्रेडरिक पिंकाट का एक लेख हिन्दी भाषा को लेकर छपा था। रामचन्द्र शुक्ल ने 'सरस्वती' के भाग-9 (1908 ई०) संख्या-1 में फ्रेडरिक पिंकाट पर लिखते हुए उसका एक अंश उद्धृत किया। पिंकाट का कहना है—"हिन्दी भाषा उत्तरी हिन्दुस्तान में सबसे अधिक ओजस्विनी भाषा है और अपनी सफ़ाई और लचक के कारण वैज्ञानिक विचारों को व्यक्त करने के लिए भलीभांति उपयुक्त है। अंग्रेज़ों ने फ़ारसी अक्षरों में लिखी जाने वाली उर्दू को भ्रमवश उत्तरी हिन्दुस्तान में बलात् जारी किया है। हिन्दुस्तान के लोगों ने सरकार तक इस अन्याय की कथा कई दफ़े पहुंचाई है; पर अमले और हाकिम परिवर्तन नापसन्द करते हैं। क्योंकि परिवर्तन से उन्हें एक और देशी भाषा सीखने का कष्ट उठाना पड़ेगा। पर आशा है कि किसी न किसी दिन, शीघ्र ही कोई न्याय का प्रेमी उठ खड़ा होगा, जो इस बात को समझेगा कि पोलैण्डवासियों के बीच रूसी भाषा को बलात् फैलाने के लिए ज़ार को धिक्कारना कहां तक न्याय है जब कि स्वयं क़ैसर-हिन्द दस करोड़ हिन्दी बोलने वाले भारतवासियों के गले में बलात् फ़ारसी ठूंसते हैं।" (पृ० 16)

'इंडियन मैगज़ीन' के दिसम्बर 1887 के अंक में पिंकाट का एक और भी लेख प्रकाशित है। उसमें पिंकाट लिखते हैं—"हिन्दी के अन्तर्गत कितनी ही बोलियां हैं। पर इन बोलियां का समग्र समुदाय एक ही भाषा है। यही भाषा है जिसमें फ़ारसी विजेताओं ने बहुत से फ़ारसी शब्द मिलाकर एक दोगली भाषा

उत्पन्न कर दी जो उर्दू या हिन्दुस्तानी कहलाती है। सरकारी दफ़्तरों और कचहरियों को छोड़ इस भाषा का अन्यत्र कहीं अस्तित्व नहीं है। उत्तरी भारत की भाषा हिन्दी है। वही वहां की 'लिंगुआ फ्रांका' है। हिन्दुस्तान में यह विलक्षण दृश्य देखने में आता है कि राजा और प्रजा राजकीय कार्य को एक ऐसी भाषा में सम्पादन करते हैं जो दोनों के लिए विदेशी है। यथार्थ भाषा सम्बन्धी प्रश्न जो आज 30 वर्ष से उत्तरी भारत में उठ रहा है, लिपि विषयक है। जब तक फ़ारसी अक्षरों का एकाधिपत्य रहेगा और सब लोग अपनी देशी नागरी को सरकारी काग़ज़-पत्रों में व्यवहार करने से रोके जायेंगे तब तक उत्तरी भारत की भाषा पर बुरा प्रभाव पड़ता जायेगा।" (पृ० 17)

फ्रेडरिक पिंकाट के इन विचारों की ओर उस वक़्त अंग्रेज़ी राज ने कोई ध्यान नहीं दिया था। पिंकाट के पहले डॉक्टर पार्ब्स ने 1855 में लिखा कि "देवनागरी के पाठ (टेक्स्ट) में अरबी और फ़ारसी शब्दों को सावधानी से निकाल दिया गया है—और उनके स्थान में शुद्ध भारतीय शब्द रख दिये गये हैं और अरबी-फ़ारसी शब्दों के इसी त्याग के कारण हिन्दुओं की बोली जो हिन्दी या खड़ी बोली कहलाती है, मुसलमानों की बोली से जिसे 'हिन्दुस्तानी' 'उर्दू' या 'जबान-इ-रेख़ता' कहते हैं, जुदी है।"[1]

डॉ० ग्रियर्सन का मत है कि जिस प्रकार की भाषा में सूरदास, तुलसीदास, बिहारी लाल और लल्लू जी लाल के प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे गये हैं वह भाषा कदापि बनावटी नहीं हो सकती।

1913 की 'सरस्वती' (भाग-14 संख्या-2) में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी सम्पादकीय टिप्पणी में उस वक़्त प्रचलित हिन्दी के दो रूपों का उल्लेख किया है। उन्होंने एक को क्लिष्ट हिन्दी कहा है, दूसरी को सरल हिन्दी। "क्लिष्ट हिन्दी में संस्कृत शब्दों की भरमार रहती है, सरल हिन्दी बोलचाल की भाषा में लिखी जाती है।" द्विवेदी जी ने सरल हिन्दी लिखने को उचित ठहराया है और उनके विवेक की आलोचना की है जो 'संस्कृत के अटपटे शब्दों से भरी हुई भाषा' लिखते हैं। उनका ख़याल है कि "साहित्य की भाषा सर्वसाधारण की भाषा से पृथक नहीं होनी चाहिए। इसका यह मतलब नहीं कि ग्रंथ भी उस बोली में लिखे जाएं जिसे लोग प्रादेशिक, ग्रामीण, स्वाभाविक, प्राकृतिक या अपभ्रंश भाषा कहते हैं, और संस्कृत का एक भी शब्द उसमें न आने दिया जाय। मतलब यह है कि प्रादेशिकता या ग्रामीणता न आने पावे। पर संस्कृत, उर्दू, अंग्रेज़ी आदि अन्य भाषाओं के सरल और सुबोध शब्द जो प्रचलित हों उनका त्याग न किया जाय। ऐसी भाषा में लिखे गये ग्रन्थ साधारण मनुष्य भी अच्छी तरह समझ सकते हैं और उनसे लाभ उठा सकते हैं। हां, विषय की गम्भीरता के लिहाज़ से भाषा

भी गम्भीर होगी तथा उसमें अपेक्षाकृत क्लिष्टता भी आवेगी पर ऐसा होना आवश्यक भी है। परन्तु केवल विद्वता प्रकट करने के लिए मौक़े-बेमौक़े सब जगह दुर्बोध और क्लिष्ट संस्कृत शब्दों से भरी हुई हिन्दी लिखना शक्ति और समय का दुरुपयोग करना है। उससे लाभ भी बहुत कम होने की सम्भावना है।"

इसके आगे द्विवेदी जी ने संयुक्त प्रान्त के छोटे लाट, सर जेम्स मेस्टन की राय उद्धृत की है, जिसे उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा दिये गये अभिनन्दन पत्र के उत्तर में दिया था। मेस्टन ने यह कहा—"आप लोगों के इस निश्चय दिलाने पर मैं विशेष प्रसन्न हूं कि आप लोग मौक़े-बेमौक़े सब जगह और सब प्रकार से उच्च हिन्दी का अन्ध पक्षपात नहीं करते। शुद्ध भाषा के पक्षपातियों द्वारा भाषा को जितनी हानि पहुंच सकती है उतनी और किसी तरह नहीं।…"

"…यह बात बहुत ज़रूरी है कि बचपन में उन्हें वही भाषा सिखाई जाय जिसे साधारण पढ़े-लिखे आदमी भी अच्छी तरह समझ सकते हैं, चाहे वह नागरी अक्षरों में लिखी हो चाहे फ़ारसी अक्षरों में, छोटे-छोटे बच्चों के लिए ऐसी ही भाषा-शिक्षा की आवश्यकता है जिसका व्याकरण तथा शब्द-भण्डार सीधा-सादा हो और सब लोग उससे परिचित हों तथा जिसे उनके घरवाले तथा हिन्दू-मुसलमान सभी पड़ोसी समझते हों।"

इस पर द्विवेदी जी की टिप्पणी है—"लाट साहब के इन विचारों में बहुत कुछ सार है। परन्तु वर्तमान पाठ्य-पुस्तकों को देखते डर लगता है कि कहीं क्लिष्ट उर्दू भाषा उन पुस्तकों में भी न रक्खी जाय जो इस समय शिक्षा-विभाग की निगरानी में बन रही हैं। वर्तमान पुस्तकों में उर्दू के अप्रचलित शब्दों और मुहावरों की अधिकता है। इस दोष से नई पुस्तकों को बचाना चाहिए।"

इस टिप्पणी से अंग्रेज़ी-राज की दोगली नीति का जायजा मिलता है।

पंडित बद्रीनाथ भट्ट ने 1913 में 'खड़ी बोली की कविता'[2] नाम से एक निबन्ध लिखा था। इस निबन्ध में खड़ी बोली के दो रूपों का उन्होंने उल्लेख किया। उन्होंने लिखा कि "…जैसे फ़ारसी शब्दों से भरी हुई खड़ी बोली उर्दू कहलाती है, वैसे ही संस्कृत शब्द मिश्रित खड़ी बोली हिन्दी नाम से पुकारी जाती है।" भट्ट जी ने खड़ी बोली कविता के कुछ पुराने उदाहरण 'आवेहयात' से दिये हैं। तेरहवीं सदी के अमीर खुसरो—'तरूवर से एक तिरिया उतरी उसने बहुत रिझाया। बाप का उसके नाम जो पूछा आधा नाम बताया। आधा नाम पिता पर प्यारा बूझ पहेली मोरी। अमीर ख़ुसरो यों कहै…अपने नाम न बोली।' इसके बाद दक्षिण के 'सादी' से उदाहरण है—

हम तुम्हन को दिल दिया,
तुम दिल लिया और दुख दिया,
हम यह किया तुम वह किया,
ऐसी भली यह पीत है।

मीर और वली के नाम दिये गये हैं। वली का उदाहरण है—

दिल-वली का ले लिया दिल्ली ने छीन।
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सों ॥

कबीर से उदाहरण है —

कबिरा तेरी झोंपड़ी गलकट्टों के पास।
अपनी करनी जायंगे, तू क्यों रहे उदास।

नानक का नाम है—

सांस मास सब जीव तुम्हारा, तू है खरा पियारा।
नानक शायर यूं कहत है सच्चे परवर दिगारा।

सोलहवीं सदी के दादूदयाल की कविता से भी उदाहरण दिया गया है —

पूरन ब्रहन विचारिये, सकल आत्मा एक।
काया के गुन देखिये, नाना बरन नेक।

आनन्द घन (संवत् 1700) और सूदन (18वीं सदी) से भी उदाहरण दिये गये हैं। इसके बाद 'प्रेम सागर' के रचयिता लल्लूलाल से उदाहरण है—

जो बैरी खैंचे तलवार, करै साधु-ताकी मुनहार।
समझ मूढ़ सोई पछताय, जैसे पानी आग बुझाय ॥

गुजराती कवि दयाराम की खड़ी बोली कविता और लल्लूलाल के वंशज मन्नूलाल द्वारा रचित 'भगत' (सीताराम-चरित्र) के उदाहरण भी दिये गये हैं।

पं० बद्रीनाथ भट्ट का यह निबन्ध खड़ी बोली की कविता को लेकर है, जिसे वे हिन्दी (संस्कृत शब्द-मिश्रित) और उर्दू (फ़ारसी शब्द मिश्रित) के उत्स के रूप में देख रहे हैं। अर्थात् इसी खड़ी बोली में जब संस्कृत शब्दों की अधिकता हो जाती है तो वह हिन्दी कहलाती है और जब फ़ारसी शब्दों की अधिकता होती है तो उर्दू।

अपने निबन्ध के आख़िर में भट्ट जी ने यह भी लिखा है—'खड़ी बोली का बंद खुल गया है। उसका विकट प्रवाह अब रोके नहीं रुक सकता। अतएव जो सज्जन इस ओर से उदासीन हैं उन्हें उचित है कि इस ओर भी अपनी कृपा-दृष्टि रक्खें।"

भट्ट जी के इस लेख से, जो कि निश्चय ही उस समय का एक गम्भीर और सुंदर लेख है, यह बात बहुत साफ़ हो जाती है कि वे खड़ी बोली कविता को हिन्दी कविता की संज्ञा से अभिहित नहीं करते। उन्होंने इसी लेख के पृ० 178 पर लिखा कि "इतने उदाहरण केवल यही दिखाने को दिये हैं कि किस प्रकार धीरे-धीरे खड़ी बोली का रूप उन्नीसवीं शताब्दीं तक बदला। आजकल की बहुत-सी खड़ी बोली की कविता का इन उदाहरणों से मिलान किया जा सकता है। पर हां, संस्कृतमय खड़ी बोली (हिन्दी) की कविता की भी अब कमी नहीं दीख पड़ती। यह बहुत शुभ लक्षण है।" इससे ज़ाहिर होता है कि खड़ी बोली कविता को हिन्दी कविता कहने में उनके मन में कहीं दुविधा है। इससे इस बात का संकेत भी मिलता है कि भट्ट जी के साथ यह सोचने वाला एक वर्ग ऐसा ज़रूर रहा होगा जो हिन्दी और खड़ी बोली में 1913 ई० में भी भेद कर रहा था। भट्ट जी का आशय शायद यह रहा होगा कि पश्चिमी हिन्दी की बोलियों में ब्रजभाषा में पर्याप्त काव्य-रचना हुई, दूसरी महत्त्वपूर्ण बोली खड़ी बोली थी इसमें पर्याप्त काव्य-रचना नहीं हुई, हालांकि छिटफुट रचनाओं के उदाहरण शुरू से ही मिलते हैं, जैसा कि भट्ट जी ने भी बहुत से उदाहरण दिये हैं। यही नहीं, उन्होंने अपने लेख का आरम्भ ब्रजभाषा में काव्य रचना के पक्षपातियों के उल्लेख और कविता के लिए ब्रजभाषा को वरीयता देने के पीछे कारणों का भी उल्लेख किया है। अर्थात् उनका आशय ब्रजभाषा और खड़ी बोली को पश्चिमी हिन्दी की बोलियों के रूप में ही ग्रहण करने का है। और मुझे लगता कि बद्रीनाथ भट्ट जिस संस्कृत शब्द मिश्रित खड़ी बोली का हिन्दी के रूप में उल्लेख कर रहे हैं— उससे उनका आशय मानक-हिन्दी से ही है। अब यह बात और है कि मानक हिन्दी 'संस्कृत शब्द मिश्रित खड़ी बोली' वास्तव में नहीं है।

इसमें एक उलझन यह रहती है कि 1913 ई० में भी खड़ी बोली की कविता हिन्दी की कविता नहीं थी और हिन्दी उस खड़ी बोली को कहें जो 'संस्कृत शब्द मिश्रित' है तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी, श्रीनिवास दास, डॉ० जगमोहन सिंह, या 1913 के पहले के दूसरे लेखकों की भाषा को क्या कहेंगे जो निश्चय ही संस्कृत मिश्रित भाषा का इस्तेमाल करते हुए भी मानक हिन्दी का इस्तेमाल कर रहे थे।

बद्रीनाथ भट्ट के विचारों में जो अभाव लक्षित हो रहा है वह इसलिए है कि भट्ट जी हिन्दी को उसकी समग्रता में नहीं देख रहे हैं, उनकी निगाह काव्य तक ही है।

उसी साल अर्थात् 1913 में ही कामताप्रसाद गुरु ने 'सरस्वती' के उसी अंक[3] में क़ानूनी हिन्दी पर एक निबन्ध लिखा था, जिसमें उन्होंने लिखा कि अंग्रेज़ी क़ानून का अनुवाद शुद्ध हिन्दी में हो सकता है और लोग उसे

सहज ही समझ सकते हैं, यह बात राजा लक्ष्मण सिंह के 'दण्ड संग्रह' जो कि 'ताज़ीरात हिन्द' का हिन्दी अनुवाद है, से स्पष्ट सिद्ध होती है। जो लोग 'ताज़ीरात' शब्द नहीं जानते वे 'दण्ड' को वैसे ही समझ सकते हैं, जैसे 'सज़ा' को।

आगे गुरु ने लिखा : "कानून की अधिकांश हिन्दी पुस्तकें भारत सरकार के छापेखाने में छपकर वहीं से प्रकाशित होती हैं, इनका नाम तो 'हिन्दी' रहता है पर भाषा उर्दू रहती है, यहां तक कि दफ़ाओं के नीचे जो सूचनायें रहती हैं, उनके साथ अलिफ़, बे, जीम आदि अक्षर लिखे जाते हैं। न जाने इन अक्षरों का क्या अर्थ है…?…अंग्रेज़ी की कानूनी पुस्तकों के समान ये (हिन्दी) पुस्तकें भी 'लेजिस्लेटिव डिपार्टमेंट' से प्रकाशित होती हैं और उनके लेखक उर्दू-भाषा और नागरी अक्षरों के पूरे पंडित जान पड़ते हैं। यद्यपि वे 'अलिफ़' के बदले 'अ' कहना पसन्द नहीं करते।"

कामताप्रसाद गुरु ने अंग्रेज़ी मूल के दो अनुवाद दिये हैं—एक सरकारी अनुवाद जिसे समझना मूल अंग्रेजी से भी अधिक दुष्कर है और दूसरा पं० जमुनाप्रसाद का अनुवाद जो आसान ज़बान में प्रस्तुत किया गया है। दोनों अनुवाद 'स्टाम्प ऐक्ट' की एक दफ़ा के हैं।

(1) सरकारी अनुवाद : "कलकत्ता गवर्नमेंट हिन्द सेन्ट्रल प्रिंटिग आफ़िस, 8 हेस्टिंग्स स्ट्रीट में छपा। 1906 दफ़ा 10[1] बजुज़ उस सूरत के कि इस ऐक्ट में कोई और हुक़्म सरीह हो तमाम रूसूम जो दस्तावेज़ात की बाबत वाजिबुल अखज़ है बज़रिये स्टाम्प के अदा की जायेगी और उसी स्टाम्प के ज़रिये से बुह अदाई उन दस्तावेज़ात पर ज़ाहिर होगी —(अलिफ़) मुताबिक़ शराइत मुन्दर्जः इ ऐक्ट हाज़ा या, इत्यादि।

(2) पं० जमुनाप्रसाद (मुनसरिम जिला कचहरी छिदवाड़ा) कृत अनुवाद : 'सेन्ट्रल ला प्रेस छिदवाड़ा' में छपा। 1902 दफ़ा-10 सिवाय उस सूरत के कि इस ऐक्ट में कोई और हुक्म साफ हो तमाम रसूम जो लिखतमों के बाबत लेने लायक है स्टाम्प के ज़रिये से अदा की जायेगी और उसका अदा हो जाना स्टाम्प के ज़रिये से वैसी लिखतमों पर ज़ाहिर किया जायेगा —

(अ) मुताबिक हुक्म जो इस ऐक्ट में दर्ज हैं—या, इत्यादि।

मिलान के लिए दोनों अनुवादों का मूल लेख भी नीचे दिया जाता है—
Sec. 10—(1) Except as otherwise expressly provided in this Act, all duties with which any instruments are chargeable, shall be paid and such payment shall be indicated on such instruments, by means of Stamps—

(a) according to the provisions here-in contained; or & c."

इन दोनों अनुवादों को देखने से यह समझना मुश्किल नहीं रह जाता कि सरकारी अनुवाद में दोहरा उद्देश्य काम कर रहा था। अनुवाद से सरकार ने यह भी दिखला दिया कि वह हिन्दी की विरोधी नहीं है। दूसरी ओर अनुवाद ऐसा कराया कि वह हिन्दी और उर्दू का कम लगता है, फ़ारसी का ज़्यादा। अपनी सफ़ाई में सरकार ने तकनीकी भाषा का बहाना बनाया है, पर इस तर्क में कोई वजन नहीं है। बजुज़ की जगह सिवाय, सरीह की जगह साफ़, वाजिबुल अख़ज़ की जगह लेने लायक, बज़रिये स्टाम्प की जगह स्टाम्प के ज़रिये रख देने से कौन-सी क़ानूनी अड़चन पैदा हो जाती यह समझ में नहीं आता। उस अनुवाद का क्या फ़ायदा जिसे समझने के लिए एक और अनुवाद की ज़रूरत पड़े।

जब कि हिन्दुस्तानी कचहरियों से फ़ारसी को निकले एक अरसा हो गया था, 1837 में निचली कचहरियों में फ़ारसी के स्थान पर देशी भाषाओं को लागू किया गया। जहां बंगाली और मराठी को लाया गया वहां इससे फ़ायदा भी बहुत हुआ, पर संयुक्त प्रान्त में उर्दू के कारण फ़ारसी लिपि बनी रही। और फ़ारसी लिपि तथा उर्दू के बहाने फ़ारसी-अरबी के कठिन शब्द बने रहे। इस तरह उर्दू को हिन्दी से दूर भी किया जा सकता था। इस स्थिति से उबरने के लिए 1868 में नागरी लिपि को लागू करने के लिए आन्दोलन हुए, लेकिन नागरी लिपि में हिन्दी का आगमन 1900 में ही हुआ। उस वक़्त भी इसका विरोध मुसलमानों द्वारा किया गया। विरोध करने वालों में ऐसे हिन्दू भी शामिल थे जो कचहरियों में फ़ारसी लिपि में काम करने के आदी थे।

गुरु ने अपने लेख में 1900 में नागरी लिपि के लागू किये जाने के बाद की स्थिति पर लिखा—"यद्यपि लार्ड कर्जन ने नागरी अक्षरों के साथ-साथ संयुक्त प्रदेश में हिन्दी भाषा को भी मान दिया है तो भी सुना जाता है कि आजकल वहां के हिन्दू भले ही नागरी अक्षरों में लिखी अर्जी दूर फेंक देते हैं।" इस स्थिति से निबटने के लिए छिटपुट व्यक्तिगत स्तर के प्रयास भी किये गये। गुरु ने एक ऐसे जज का उदाहरण दिया है जिसने हुक्म दिया था कि उसकी—"अदालत में केवल ऐसी अर्जियां पेश हों जो हिन्दी भाषा और नागरी अक्षरों में लिखी गई हों। इस आज्ञा के बल पर कई लोग अपनी अर्जियां आप ही लिखने लगे और जो अर्जीनवीस लोग हिन्दी जानते थे, उनको अच्छी आय होने लगी। उक्त जज साहब की बदली हो जाने पर फिर वही पुराना अंधेर मच गया।"

यह बात क़ाबिलेगौर है कि 1912 के अक्टूबर से दिसम्बर तक संयुक्त प्रान्तों में जितनी पुस्तकें छपी थीं, उनमें उर्दू पुस्तकों की संख्या 58 है। इन 58 पुस्तकों में से 23 उर्दू पुस्तकें हिन्दुओं द्वारा लिखी गई थीं। यानी कि उर्दू के लेखकों में से लगभग आधे लेखक हिन्दू थे। अक्टूबर से दिसम्बर 1912 तक संयुक्त प्रान्त में छपने वाली हिन्दी पुस्तकों की संख्या 120 है। 38 किताबें

अंगरेज़ी में, 12 संस्कृत में और 7 फ़ारसी में छपी थीं। हिन्दी में छपने वाली पुस्तकों में से 58 कविता की क़िताबें थीं, 12 धर्म सम्बन्धी, 15 उपन्यास तथा विज्ञान 3, जीवन-चरित 2, भूगोल तथा इतिहास 5, और सामयिक पत्रिकाएं 5 थीं। उर्दू पुस्तकों में से 14 कविता, 13 धर्म सम्बन्धी, 7 उपन्यास, 2 विज्ञान की, 7 भूगोल, इतिहास 4, और सामयिक पत्रिकाएं[4] 6।

1901 और 1911 की जनगणना में संयुक्त प्रान्त में हिन्दी और उर्दू की स्थिति क्या थी, इसका लेखा-जोखा कुछ यों हैं—"1901 में 4 करोड़ 31 लाख आदमी यहां हिन्दी बोलने वाले थे, पर 1911 में यह संख्या बढ़कर 4 करोड़ 37 लाख हो गई। उर्दू बोलने वालों की संख्या 1901 में 52 लाख थी, 1911 में वह घटकर 41 लाख ही रह गई।

1901 और 1911 की जनगणना के अनुसार उर्दू और हिन्दी पुस्तकों, पत्रों तथा ग्राहकों की संख्या इस तरह थी—

विषय	1901	1911
उर्दू पुस्तकें	4218	4547
हिन्दी पुस्तकें	3186	5063
उर्दू-पत्र	71	122
उर्दू-पत्रों के ग्राहक	25000	80160
हिन्दी-पत्र	34	91
हिन्दी-पत्रों के ग्राहक	17400	79000[5]

इस पर 'सरस्वती' की टिप्पणी है—"इससे साफ ज़ाहिर है कि हिन्दी उन्नति कर रही है। उसके पत्रों और पत्रिकाओं की संख्या बढ़ रही है और साथ ही हिन्दी पत्रों के ग्राहक भी खूब बढ़ रहे हैं। उर्दू की भी उन्नति हो रही है, पर हिन्दी की उन्नति उर्दू की उन्नति से कहीं अधिक है।"

1901 और 1911 में हिन्दी और उर्दू में शिक्षा पाये हुओं की संख्या क्या थी, इसे इन आंकड़ों से देखा जा सकता है—

विषय	1901	1911
हिन्दी में शिक्षित	9,85648	10,17562
उर्दू में शिक्षित	2,48468	2,86651
उर्दू में शिक्षित हिन्दू	1,06904	1,13286

हिन्दी में शिक्षित मुसलमान	27408	23902
उर्दू में शिक्षित हिन्दू स्त्री	1025	2644
हिन्दी में शिक्षित मुसलमान स्त्री	×	×

(पृ॰ 246)

इन आंकड़ों से हिन्दी-उर्दू की शिक्षा ने दस सालों में किस तरह की प्रगति की उसकी जानकारी मिलती है, साथ ही इससे हिन्दी-उर्दू के आपसी सम्बन्धों तथा हिन्दू-मुस्लिम आपसी रिश्तों की पहचान भी बनाई जा सकती है। मसलन 1901 में हिन्दी में शिक्षितों की संख्या 9 लाख 85 हज़ार थी; 1911 में यह संख्या 10 लाख 17 हज़ार हुई। अर्थात् 10 सालों में कुल 32 हज़ार लोग पहले से अधिक शिक्षित हुए। ज़ाहिर है कि यह संख्या बहुत कम है, जबकि 1901 से लेकर 1911 तक के बीच में देश में राजनीतिक उथल-पुथल काफी रही। बंगाल-विभाजन के विरोध में जनान्दोलन, 1909 का मोर्ले-मिन्टो सुधार, जिसमें साम्प्रदायिक आधार पर अलग मुस्लिम निर्वाचक मंडल का प्रावधान किया गया। 1910 में हिन्दू महासभा का जन्म, 1911 में बंग-विभाजन के विरुद्ध आन्दोलनों के आगे झुककर बंग-विभाजन का रद्द किया जाना। भारत की राजधानी का कलकत्ता से दिल्ली लाने की घोषणा आदि अनेक घटनाएं ऐसी थीं जो हिन्दुस्तानियों में राजनीतिक चेतना के संचार को लाने वाली साबित हुईं। ऐसे माहौल में दस वर्षों में यदि केवल 32 हज़ार लोग अधिक शिक्षित हुए तो यह स्थिति निराशाजनक ही कही जायेगी। हिन्दी में शिक्षा के प्रचार के अत्यल्प होने का कारण सरकार की इसके प्रति उदासीनता थी। सरकार अंग्रेज़ी भाषा और अंग्रेज़ी माध्यम को बढ़ावा देने में लगी हुई थी, और उसी मात्रा में देशी भाषाओं की शिक्षा के प्रति उदासीन थी। जहां अंग्रेज़ी का सवाल था, वहां सभी देशी भाषाओं के प्रति उपेक्षा रही। जहां अंग्रेज़ी बनाम देशी भाषाएं थीं, वहां अंग्रेज़ी को हर तरह का सरकारी संरक्षण और बढ़ावा दिया गया और देशी भाषाओं को पीछे ढकेल दिया गया। 1901 से 1911 के बीच के दस सालों में जो स्थिति हिन्दी की रही, कुछ वैसी ही स्थिति उर्दू की भी थी। 1901 में उर्दू में शिक्षित 2 लाख 48 हज़ार थे और 1911 में 2 लाख 86 हज़ार हुए। अर्थात् केवल 38 हज़ार लोग अधिक शिक्षित हुए; जबकि हिन्दी बनाम उर्दू में सरकार का रवैया उर्दू के पक्ष में रहा। यही नहीं, हिन्दुओं में भी कायस्थ और कश्मीरी पंडित तथा कचहरियों का हिन्दू अमला हमेशा उर्दू के पक्षधर रहे। इन दस सालों में उर्दू में शिक्षित हिन्दुओं की संख्या 1901 में 1 लाख 7 हज़ार के लगभग थी, और 1911 में हिन्दू महासभा के वजूद में आ जाने के बावजूद 1 लाख 13 हजार 286 हुई। अर्थात् 6 हजार से कुछ ऊपर बढ़ी, जबकि इस दौरान हिन्दी में शिक्षित मुसलमानों की संख्या कम हुई। 1901 में हिन्दी में

शिक्षित मुसलमान 27,500 के लगभग थे, जो 1911 में घटकर 23,900 रह गये। स्त्रियों की शिक्षा की स्थिति यह है कि इस दौरान ऐसी हिन्दू स्त्रियों की संख्या बढ़ी जो उर्दू में शिक्षित हुईं। 1901 में उर्दू में शिक्षित हिन्दू स्त्रियां 1 हज़ार 25 थीं, 1911 में बढ़कर यह 2644 हो गयी, अर्थात् उर्दू में शिक्षित हिन्दू स्त्रियों की संख्या ढाई गुना बढ़ी। दूसरी ओर हिन्दी में शिक्षित मुसलमान स्त्रियों की संख्या नगण्य रही। यह संख्या आंकड़ों में नहीं दी गई है, जिससे ज़ाहिर होता है कि संख्या न के बराबर थी।

इस पर ध्यान देना चाहिए कि हिन्दी में शिक्षित मुसलमानों की संख्या में गिरावट किस वजह से आई होगी। जहां तक हिन्दी भाषा का सवाल है इस बीच उसने प्रगति की, पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की संख्या काफ़ी बढ़ी। 1900 ई० में संयुक्त प्रान्त की कचहरियों वगैरह में नागरी लिपि को अपना भी लिया गया, अर्थात् उससे नौकरी मिलने की कुछ उम्मीद भी बंधी। फिर क्या वजह है कि हिन्दी में शिक्षित मुसलमानों की तादाद में कमी हुई।

इसकी वजह राजनीति और धर्म में ढूंढनी चाहिए। जो मुस्लिम राजनीतिक नेता थे, वे यह सोचते थे कि यदि हिन्दी की ओर मुसलमानों का झुकाव हो गया तो मुसलमानों को एक जगह एकत्रित करने का एक हथियार—भाषा—उनके हाथ से जाता रहेगा। वे यह जानते थे कि हिन्दी और उर्दू में भाषिक स्तर पर कोई ऐसा अन्तर नहीं है जिसे मुसलमान न सीख सकें। अन्तर बहुत थोड़ा है, यह उन्हें मालूम था। लेकिन उस थोड़े अन्तर को बहुत बढ़ाने की तरकीब भी वहीं थी। वह तरकीब लिपि और अरबी-फ़ारसी के बड़े-बड़े शब्द थे। फ़ारसी रस्मुलख़त को अपनाये रखकर वे हिन्दी को दूर झटक रहे थे। यह बात बहुत महत्त्व की है कि मुस्लिम राजनीतिक नेता हमेशा नागरी बनाम उर्दू की बात करते रहे हैं। अर्थात् वे भाषा के स्थान पर रस्मुलख़त की बात लाते रहे हैं। सो उन्होंने कोशिश की कि मुसलमान हिन्दी कम पढ़ें। मुस्लिम अवाम पर दबाव को और गहरा करने के लिए उर्दू को इस्लाम के साथ जोड़ा गया। और यह काम उलमा ने नहीं किया, राजनीति करने वालों ने किया। यही वजह थी कि हिन्दी में शिक्षित मुसलमानों की तादाद, शिक्षा में आम बढ़ोत्तरी के बावजूद 1901 से 1911 के दौरान कम हुई।

जहां तक हिन्दी में शिक्षित मुसलमान स्त्रियों का सवाल है वह संख्या तो नगण्य होनी ही है; क्योंकि मुस्लिम औरतों में शिक्षा का प्रचार बहुत ही कम था।

1901 से 1911 के बीच हिन्दी प्रकाशनों की स्थिति काफ़ी बेहतर हुई थी। इस दौरान प्रकाशित हिन्दी पुस्तकों की संख्या 3186 से बढ़कर 5063 तक पहुंची, और पत्रों की संख्या 34 से बढ़कर 91 तक। हिन्दी पत्रों के ग्राहकों की संख्या में इस अनुपात से भी अधिक की वृद्धि हुई, जो 17400 से बढ़कर 79000

हो गयी। उर्दू पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की स्थिति भी पहले से काफ़ी बेहतर थी; जैसा कि ऊपर दिये गये आंकड़ों से ज़ाहिर होता है।

लेकिन हिन्दी-उर्दू समेत सभी देशी भाषाओं की स्थिति काफ़ी चिन्ताजनक थी। उस वक़्त की 27-28 करोड़ की आबादी में कुछ हज़ार या एकाध लाख का अपनी भाषा में शिक्षित होना निराशाजनक स्थिति का ही सूचक था। दूसरी ओर अंग्रेज़ी भाषा का प्रचार-प्रसार दिन-दूना रात चौगुना बढ़ रहा था। अंग्रेज़ी शिक्षा देने वाले नये-नये स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय खुल रहे थे। सरकार अंग्रेज़ी को आगे बढ़ाने के लिए कमर कसे बैठी थी। अंग्रेज़ी सरकार की धांधली और उसके पक्षपातपूर्ण रवैये पर 1913 की 'सरस्वती' की सम्पादकीय टिप्पणी देखने लायक है। टिप्पणी में कहा गया है कि "अंग्रेज़ी राज की बदौलत अंग्रेज़ी भाषा का प्रचार दिन-पर-दिन बढ़ता जाता है। नये-नये स्कूल खुल रहे हैं, नये-नये कॉलेजों की स्थापना हो रही है, यहां तक कि नये-नये विश्वविद्यालयों की भी नींव डाली जा रही है। यह सब भारत की भलाई ही के लिए किया जा रहा है। पर सोचने की बात है कि इन यत्नों से उद्देश्य-सिद्धि कितनी होती है। दो-चार सौ गांवों के इर्द-गिर्द कहीं एकाध क़स्बा है, शहरों की संख्या तो और भी कम है। अतएव अंग्रेज़ी भाषा के द्वारा शिक्षा-प्रचार से करोड़ों देहातियों को क्या लाभ? भांति-भांति की विद्याओं और विज्ञानों के तत्त्व अंग्रेज़ी में पढ़ाने से बेचारे देहातियों की मूर्खता कैसे दूर हो सकती है? गवर्नमेंट तो यही चाहती है न कि देश की मूर्खता कम हो जाय, साक्षरता बढ़े, विद्या और विज्ञान की प्राप्ति अधिकाधिक सुलभ होती जाए? फिर वह अपने इन सदुद्देश्यों की सिद्धि के लिए देशी भाषाओं को उन्नत करने—उनके द्वारा विद्या और विज्ञान की शिक्षा देने—का यत्न क्यों नहीं करती? करना तो ज़रूर चाहिए। देशी भाषाएं विश्वविद्यालयों में प्रायः स्थान ही नहीं पातीं। स्कूलों में भी उनका दरजा बहुत ही नीचा है। फल यह हो रहा है कि जो युवक स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षा पाकर शिक्षित कहलाते हैं वे अपने सीखे हुए विद्या-विषयों को अपनी मातृभाषा में व्यक्त ही नहीं कर सकते। उनमें से अधिकांश को तो अपनी भाषा से नफ़रत-सी हो जाती है, और नहीं भी होती तो वे न तो उसमें कुछ लिख ही सकते हैं, और न किसी विषय को अच्छी तरह दूसरों को समझा ही सकते हैं। इसके लिए उन्हें अपनी भाषा में बहुधा शब्द ही नहीं ढूंढ़े मिलते...।" (पृ० 300-301)

यह जो 1913 की 'सरस्वती' की टिप्पणी है उससे अंग्रेज़ी सरकार के मक़सद का बखूबी पर्दाफ़ाश होता है, लेकिन यह कितनी अजीब बात है कि आज 77 वर्षों के बाद भी, और आज़ादी के 43 सालों के गुज़र जाने के बाद भी, शिक्षा-नीति में कोई गुणात्मक फ़र्क़ नहीं आया है। 1913 की सरकार अंग्रेज़ों की थी, उनका अंग्रेज़ी को आगे बढ़ाने के लिए कुछ भी करना समझ में आता

है, पर हमारी अपनी कही जाने वाली सरकार देशी भाषाओं की क़ीमत पर अंग्रेज़ी को क्यों आगे बढ़ा रही है ? वैसे अपनी सरकार का भी मक़सद साफ़ है और समझ में भी आता है, पर लोगों का उसे चुपचाप सहते जाना समझ में नहीं आता। क्या देश की स्थिति उस अर्जुन की हो गयी है जो महाभारत के बाद गांडीव नहीं उठा सका था ?

हिन्दी के पक्षपातियों में ऐसे लोगों की तादाद बहुत कम थी जो संस्कृत-निष्ठ भाषा के व्यवहार के पक्ष में थे, ज़्यादातर लोग आम बोलचाल की हिन्दी के ही पक्षधर थे। 1913 में संयुक्त प्राप्त के ले० गवर्नर काशी पधारे थे। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें एक अभिनन्दन-पत्र दिया था, जिसके ज़वाब में ले० गवर्नर ने कहा—"आप लोगों के इस निश्चय दिलाने पर मैं विशेष प्रसन्न हूं कि आप लोग मौक़े-बे-मौक़े सब जगह और सब प्रकार से उच्च हिन्दी का अन्ध पक्षपात नहीं करते। विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती या तो व्यर्थ मानसिक काम कर रहे हैं या ऐसा काम कर रहे हैं जिसका उद्देश (उद्देश्य) झगड़ा करना है।"[6]

ले० गवर्नर के इस कथन में जो सबसे अधिक खटकने वाली बात है वह उनका यह कहना है कि विशुद्ध हिन्दी के पक्षपातियों का उद्देश्य झगड़ा करना है, वे विवाद उत्पन्न करने के लिए ही विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग करते हैं। यह हो सकता है कि हिन्दी में संस्कृत शब्दों को जान-बूझकर अधिक भरने वालों में कुछ शरारती तत्त्व भी हों, पर यह क़तई विश्वासयोग्य नहीं है कि संस्कृतनिष्ठ हिन्दी या उच्च हिन्दी लिखने या बोलने वाले सभी लोग आसान ज़बान बोलने वालों से झगड़ा मोल लेने के मक़सद से ही ऐसा करते हैं। जहां तक सामान्यतया समझा जा सकता है कि उच्च हिन्दी के प्रयोग करने वालों का उद्देश्य यही रहा होगा कि हिन्दी संस्कृत के अधिक नज़दीक बनी रहे। यह बात दूसरी है कि उनका यह ख़याल अदूरदर्शिता का नमूना था। इसमें भाषा के दायरे को सीमित करने की अदूरदर्शिता थी।

ले० गवर्नर के कथन में एक तरह की खीझ दिखाई दे रही है। इस बात के लिए खीझ कि अंग्रेज़ आकाओं द्वारा जिस भाषा को अपनाने के लिए उन्हें कह दिया गया है, प्रजा को तुरन्त उसे अपना लेना चाहिए। आख़िर किसी भाषा को महत्त्वपूर्ण या महत्त्वहीन बनाने का काम सरकार का ही है।

जिस वक़्त का यहां हवाला दिया गया है उस वक़्त मध्य प्रान्त में कचहरी की भाषाएं हिन्दी और मराठी थीं। हिन्दी से अंग्रेज़ी सरकार की मुराद नागरी लिपि में अरबी-फ़ारसी से ठुंसी उर्दू हुआ करती थी। अंग्रेज़ हाक़िमों की निगाह में "उर्दू हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा और हिन्दुस्तानियों की मातृभाषा" थी। इसी-लिए स्कूली बच्चों के लिए जो पाठ्य-पुस्तकें थीं, उनमें कौआ के लिए ज़ाग़ और

पड़ोसी के लिए हमसाया जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया था। गोया कि छोटे बच्चे घरों में ज़ाग़ बोलते हों, कौआ न कहते हों।

1913 की सरस्वती, भाग-14 संख्या 4 में कामताप्रसाद गुरु का एक निबन्ध है—'संयुक्त प्रदेश की कानूनी हिन्दी'। इसमें गुरु ने लिखा है कि—"भारत सरकार ने मुन्शियों की परीक्षा के लिए हिन्दी भाषा भी रक्खी है। 'हिन्दुस्तानी' भाषा में योग्यता प्राप्त करने के लिए हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि पहली में पिछली दोनों भाषाएं शामिल हैं।

अब 'हिन्दुस्तानी' की कठिनाई पर विचार करना चाहिए। अंग्रेज़ी के क़ानूनी शब्दों के अनुवाद के लिए जो 'हिन्दुस्तानी' (वरन् उर्दू) शब्द लाये जाते हैं वे बहुधा उतने ही कठिन और अपरिचित रहते हैं जितने (मूल) अंग्रेज़ी के शब्द रहते हैं। जिन लोगों का सुभीता इस अनुवाद से सोचा जाता है उनके लिए 'क़िक़रात ज़िमनी', 'साक़ितुल मिल्कियत', 'इन्दराजात', 'नौय्यत', 'इस्तिसवाब' आदि शब्द वैसे ही विदेशी और अटपटे हैं, जैसे अंग्रेज़ी के 'सबक्लासेज़' 'ऐक्स-प्रोप्रायटरी', 'ऐण्ट्रीज़', 'नेचर', 'रिफ़रेंस' आदि हैं। देहाती लोगों के लिए दोनों प्रकार के शब्दों का उच्चारण और अर्थ एक ही-से हैं। वकीलों और पढ़े-लिखे लोगों का भी इन फारसी-अरबी क़ानूनी शब्दों का अर्थ अंग्रेज़ी शब्दों की सहायता से ही मालूम होता है। केवल शब्दों ही में बनावट और कठिनाई नहीं है वरन् वाक्यांशों और वाक्यों की रचना भी लोगों के मुहाविरे के विरुद्ध की जाती है। 'मुनासिब रसूम' की कठिनाई 'रसूम मुनासिब' लिखने से पढ़ जाती है। नीचे लिखा हुआ वाक्य इसी कारण से जल्द समझ में नहीं आता।

"पाबन्दी आम निगरानी कलक्टर के हिस्सा ज़िला का हर ओहदेदार माल असिस्टेंट कलक्टर मुहतमिय हिस्सा ज़िला का (अगर कोई हो) मातहत होगा।" एक्ट नं० 3, सन् 1901 ई० 'ममालिक मगरबी व शिमाली।'

हिन्दी, अंग्रेज़ी, संस्कृत और फ़ारसी में भी (बहुधा) विशेषण विशेष्य के पहले आता है, पर न जाने इस 'हिन्दुस्तानी' में वह विशेष्य के पीछे क्यों सरक जाता है।

क़ानूनी 'हिन्दुस्तानी' केवल क़ानूनी शब्दों अथवा उलटी वाक्य-रचना ही के कारण कठिन नहीं होती, वरन् सहज और प्रचलित शब्दों के बदले मौलवियों की योग्यता के सूचक शब्द रखने से भी वह कठिन हो जाती है। 'हिन्दुस्तानी' अनुवाद में बहुधा 'मुकर्रर के लिए 'तक़र्रूर', 'पूजा' के लिए 'पुरस्तिश', 'हक्कों' के लिए 'हकूक' या 'इस्तहफ़ाक' सरीखे शब्द रहते हैं। कभी 'ब', 'दर', 'जात', 'हाय' आदि प्रत्ययों को शब्दों से अलग लिखने के कारण शब्द या वाक्य का अर्थ ही समझ में नहीं आता।

संयुक्त प्रान्त के सन् 1901 के ऐक्ट नं० 3 का जो 'हिन्दुस्तानी' अनुवाद

देवनागरी अक्षरों में छपा है उसकी भाषा ऊपर लिखे कारणों से बहुत ही कठिन और बनावटी हो गयी है। मालूम नहीं कि यह अनुवाद किसके लिए किया गया है। यदि वह उर्दू भाषा जानने वालों के लिए है तो उसे देवनागरी अक्षरों में छपाने की आवश्यकता ही न थी; क्योंकि उर्दू जानने वाले मुन्शी लोग फ़ारसी अक्षर आप ही पढ़ सकते हैं। और यदि इस अनुवाद का उद्देश्य साधारण पढ़े-लिखे किसानों को क़ानून का ज्ञान कराना है तो उनके लिए 'बंजर', 'पड़ती' या 'ऊसर' के बदले 'अराज़ी-उफ़तादा' लिखने से कौन-सा लाभ सोचा गया है, अथवा क़ानून के किस अर्थ का बचाव किया गया है? निरी हिन्दी जानने वालों को, जिनकी संख्या औरों से अधिक है, इस अनुवाद की भाषा वैसी ही कठिन है जैसी नागरी में लिखी अंग्रेज़ी होगी।"

आगे कामताप्रसाद गुरु ने कई दफ़ाओं के सरकारी अनुवाद के साथ सहज हिन्दुस्तानी का अनुवाद देकर यह सिद्ध किया है कि सरकारी अनुवाद दफ़ा को समझने में सुभीता की बजाय कठिनाई ही उत्पन्न करते हैं। बात को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लिया जा रहा है—

"दफ़ा-116—······

"अगर वह तादाद जिसका पहले तख़मीना किया गया हो ग़ैर काफ़ी पाई जाय तो जायज़ है कि वक़्तन-फवक्तन तख़मीना के तितम्मे बनाये जाते रहें और रक़म ज़ायद जैसा कि ऊपर हुक्म हुआ है वसूल की जाय।"

इसका सहज हिन्दुस्तानी अनुवाद ऐसा हो सकता है—"अगर वह रक़म जिसका अन्दाज़ा पहले किया गया है, अधूरी पाई जाय तो उचित है कि समय-समय पर दूसरे अन्दाज़ा किये जावें और अधिक रक़म वसूल की जाय जैसा कि ऊपर हुक़्म हुआ है।"

इसका मूल अंग्रेज़ी भी दिया गया है—"If the amount first estimated is found insufficient, supplementary estimates may pe made from time to time and the additional amount may be levied as above provided."

'संयुक्त प्रदेश की क़ानूनी हिन्दी' को लेकर कामताप्रसाद गुरु ने अक्टूबर 1913 की 'सरस्वती' में जो लेख लिखा था, उस पर संयुक्त प्रदेश की काउंसिल में 20 जनवरी 1914 को पूछे गये सवाल पर सरकार ने अपना मत व्यक्त किया। जवाब में सरकार की ओर से जो बातें कही गयीं उनमें तीन बातें ख़ास तौर पर ध्यान देने लायक हैं। सरकार द्वारा कही गयी पहली बात जो ख़ास ध्यान देने लायक है वह है कि, "यह अनुवाद लोगों के समझने लायक भाषा में किया गया है।" दूसरी बात कि—"इस अनुवाद में अरबी और फ़ारसी के ऐसे शब्द आये हैं जो माल के काम-काज में मुहाविरा माने या जाने गये हैं।" और

तीसरी बात जिस पर सरकार ने जोर दिया वह थी—"छोटे लाट साहब इस अनुवाद को असाधारण रीति से कठिन नहीं समझते हैं।"

कामताप्रसाद गुरु ने कहा कि—"यह जान पड़ता है कि इसके लेखक हिन्दुस्तानी नहीं, वरन् उर्दू जानते थे।···'लोगों (पीपुल) का अर्थ यहां हमारी समझ में साधारण पढ़े-लिखे लोग हैं। जो लोग केवल हिन्दी पढ़े हैं—और संयुक्त प्रदेश में कई ऐसे बी० ए० भी मिलेंगे जो उर्दू नहीं जानते—वे 'नौय्यत,' 'तनाज़ियात,' 'हुदूद,' 'बर बिनाय ऐसी वजूह,' 'तक़र्रूर' इत्यादि, जो परिभाषिक शब्द भी नहीं हैं, कैसे समझ सकते हैं। इन शब्दों को कोश में ढूंढने के लिए भी उर्दू पढ़ना आवश्यक है।···क्या सरकार ने इस बात का भरोसा कर लिया है कि निरी हिन्दी जानने वाले लोग इस अनुवाद को समझकर उससे लाभ उठा सकते हैं।

"अनुवाद में अरबी और फारसी शब्दों के उपयोग का कारण यह बताया गया है कि वे माल के काम-काज में मुहाविरा माने या जाने गये हैं। इसका अर्थ यह जान पड़ता है कि यदि माल के काम-काज में ये शब्द मुहाविरा नहीं जाने गये हैं तो माने अवश्य गये हैं, फिर चाहे कोई (माल से संबंध रखने वाले) उन्हें जानें या न जानें। और अगर 'माने' और 'जाने' (रिकग्नाइज़्ड आर नोन) का एक ही अर्थ है तो यह कहना पड़ेगा कि सरकार ने ये मुहाविरे अपने ही सुभीते के लिए मान लिये हैं, लोगों के सुभीते के लिए उन्हें नहीं माना। तो फिर क्या सरकार के मुहाविरे लोगों के मुहाविरों से भिन्न हैं!···क्या लोगों का मुहाविरा माल के काम-काज का मुहाविरा नहीं हो सकता? क्या माल के काम-काज का मुहाविरा 'हुदूद' के बदले 'हद्दों', 'ज़ायद' के बदले 'ज़्यादा,' 'अहकाम' के बदले 'हुक्मों', या 'तक़र्रूर' के बदले 'मुक़र्रर' लिखने से बिगड़ जाता है?"

"लाट साहब इस अनुवाद को असाधारण रीति से कठिन नहीं समझते हैं, पर यह बात लोगों की दृष्टि से ठीक नहीं कही जा सकती। साधारण पढ़ा-लिखा ज़मींदार जिसने अरबी-फ़ारसी लदी उर्दू नहीं पढ़ी है, नीचे लिखा गड़बड़ वाक्य क्या समझेगा?

"बपाबन्दी आम निगरानी कलक्टर के हिस्सा ज़िला का हर ओहदेदार माल असिस्टेन्ट कलेक्टर मुहतमिम हिस्सा ज़िला का (अगर कोई हो) मातहत होगा।"

"यदि अनुवाद की भाषा न हिन्दी होती और न उर्दू वरन् बीच की हिन्दुस्तानी होती जिसमें हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे से बातचीत कर सकते हैं तो कोई भी आदमी उसे सहज समझता और अनुवाद यथार्थ में उपयोगी होता।

सरकार अपने उत्तरों में अपने पक्ष का समर्थन नहीं कर सकी। उसने केवल

टालमटोल की है। यह अफ़सोस की बात है। संयुक्त प्रान्त में चार करोड़ आदमी हिन्दी बोलते और देवनागरी लिखते हैं। यदि उनके फ़ायदे के लिए ये अनुवाद प्रकाशित होते हैं तो उन्हीं की भाषा या बोली में होने चाहिए। फ़ारसी लदी हुई उर्दू में नहीं। 41 लाख आदमी जो फ़ारसी लदी उर्दू या हिन्दुस्तानी पढ़ते हैं उनके लिए तो फ़ारसी अक्षरों में अलग ही अनुवाद प्रकाशित होते हैं। कहां हैं मर्दुमशुमारी के सुपरिन्टेन्डेन्ट ब्लंट साहब जो ऊंची हिन्दी (हाई हिन्दी) से इतने नाराज़ हैं। वे देखें कि उनकी सरकार कितनी सीधी हिन्दुस्तानी में अपनी पुस्तकें प्रकाशित करती है। और प्रार्थना करने पर भी इस दोष को दूर न करके टालटूल करती है।"

कामताप्रसाद गुरु के इस ज़वाब से सरकार की असली नीयत का बखूबी पर्दाफ़ाश होता है। ऐसे करारे ज़वाब के बाद इस पर और कोई टिप्पणी करना अनावश्यक लग रहा है।

'सरस्वती' (भाग 14, सं० 4, 1913 ई०) के सम्पादकीय लेख में यह कहा गया कि—"जिन लोगों के सुभीते के लिए ये अनुवाद प्रकाशित किये जाते हैं उनको इनसे बहुत ही कम फ़ायदा पहुंचता है, क्योंकि इनकी भाषा अरबी-फ़ारसी के मुश्किल से मुश्किल शब्दों और मुहाविरों से परिपूर्ण रहती है। लिपि मात्र इनकी देवनागरी होती है, पर भाषा वही जटिल उर्दू।"

15 सितम्बर 1913 को संयुक्त प्रान्त के काउंसिल की बैठक नैनीताल में हुई। उस बैठक में एक सदस्य राय विश्वम्भरनाथ बहादुर ने सरकार का ध्यान इस जटिल भाषा की ओर दिलाया और पुस्तकों की भाषा को आसान कराने की प्रार्थना की। सरकार की ओर से उन्हें ज़वाब दिया गया कि 'ये अनुवाद 'हिन्दुस्तानी' भाषा में प्रकाशित होते हैं और क़ानून के पारिभाषिक शब्दों और मुहाविरों का ख़याल रखते हुए यथासम्भव सरल ही भाषा में किये जाते हैं।" (पृ० 591)

संयुक्त प्रान्त के लिए क़ानूनी क़िताबों के दो अनुवाद अंग्रेज़ी से प्रकाशित किये जाते थे—एक फ़ारसी लिपि में उर्दू अनुवाद और दूसरा नागरी लिपि में हिन्दुस्तानी अनुवाद। एक का मक़सद था उर्दू-भाषियों को लाभान्वित करना और दूसरे का हिन्दी-भाषियों को। पर यह बात समझ में नहीं आती कि जो अनुवाद हिन्दी-भाषियों को लाभान्वित करने के लिए होते थे, उनकी भाषा हिन्दी क्यों नहीं रखी जाती थी? इन्हें 'हिन्दुस्तानी' अनुवाद कहा जाता था, इनकी लिपि नागरी होती थी, लेकिन भाषा अरबी-फ़ारसी शब्दों से लदी-फंदी वही उर्दू थी। कहने का मतलब यह है कि हिन्दी के नाम पर अंग्रेज़ बहादुर नागरी लिपि को देकर संतुष्ट करना चाहते थे। और उर्दू का दुहरा प्रयोग कर एक जगह उसे उर्दू कहते थे, जब वह फ़ारसी लिपि में लिखी जाती थी और दूसरी जगह

हिन्दुस्तानी, जब नागरी लिपि में लिखी जाती थी ।

इससे कोई भी यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि 'हिन्दुस्तानी' नाम एक धोखे की टट्टी थी, जो उर्दू को ही नागरी लिपि में लिखने का नाम था। उर्दू भी वह जो अरबी-फ़ारसी शब्दों और मुहावरों से लदी-फंदी थी। 'हिन्दुस्तानी' शब्द की यह दूसरी परिभाषा थी जो अंग्रेज़ों द्वारा इसे दी गई। उर्दू के लिए हिन्दुस्तानी शब्द को प्रचलित और प्रचारित करने की शुरूआत गिलक्राइस्ट ने की थी। पर बाद में अंग्रेज़ों ने उसमें कूटनीतिक मक़सद घुसेड़ दिया। वे हिन्दुस्तानी को ऐसी भाषा के रूप में पेश करने लगे जो लिखी तो जाए नागरी में पर मुश्किल से मुश्किल अरबी-फ़ारसी शब्द उस पर सवार हों। उर्दू के नाम पर भी फ़ारसी लिपि में यही भाषा थी। इस तरह अंग्रेज़ मुसलमानों को तो पूरी तौर पर संतुष्ट किये हुए थे। हिन्दुओं को वे न तो पूरी तौर पर संतुष्ट करना चाहते थे, न असंतुष्ट। नागरी को लाने के लिए जो जनाक्रोश था उसे दबाने के लिए नागरी लायी जाती थी, पर उस नागरी में पारिभाषिक शब्द या विषय की तकनीकी प्रकृति आदि के बहाने से अरबी-फ़ारसी शब्दों को उसमें ठूंस दिया जाता था। पाठ्य पुस्तकों तक में यही हाल था। इससे हिन्दुओं का असंतोष बना रहता था, और वह असंतोष अंततः मुस्लिम-विरोध में प्रकट होता था। अंग्रेज़ यही चाहते थे।

पर इस सबके बीच धीरे-धीरे हिन्दुस्तानी हिन्दी और उर्दू के बीच की ज़बान का आकार भी ग्रहण कर रही थी। अरबी-फ़ारसी और संस्कृत के दो छोरों के बीच आम जनता की भाषा का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा था। बीच की इस धारा के लिए हिन्दुस्तानी नाम भी रूढ़ होता जा रहा था। यहीं से हिन्दुस्तानी नाम को लोकप्रियता मिली। 1926 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 'हिन्दुस्तानी' को कांग्रेस की भाषा के बतौर घोषित किया। उस दौर में हिन्दुस्तानी को बहुत अधिक लोकप्रिय बनाने का श्रेय गांधी जी को है। इस तरह गांधी जी जिस हिन्दुस्तानी को कांग्रेस की ज़बान बना रहे थे, या जिस हिन्दुस्तानी को अपनाने की वे वकालत कर रहे थे, वह हिन्दुस्तानी अंग्रेज़ों द्वारा प्रचारित हिन्दुस्तानी से भिन्न आम बोलचाल की ज़बान थी, जिसका प्रचार लगभग पूरे हिन्दुस्तान में कुछ स्थानीय प्रभावों के साथ था। वह न उर्दू की पर्याय थी और न हिन्दी की, बल्कि इन दोनों में सायास लाये गये शब्दों को निकालकर जो सरल और सहज ज़बान बनती है, वह थी। उसी मिली-जुली सहज और लोकप्रिय ज़बान को गांधी जी ने राष्ट्रभाषा कहा था, उसी हिन्दुस्तानी को सुभाषचन्द्र बोस भारत की लिंगुआ फ्रांका कहते थे। इसी हिन्दुस्तानी से आज़ादी की लड़ाई लड़ी गयी थी। यह बताने की यहां ज़रूरत नहीं होनी चाहिए कि आज़ादी की लड़ाई में ज़बान की कितनी अहम् भूमिका थी।

इसलिए इस तथ्य के प्रति किसी को मुग़ालता नहीं होना चाहिए कि कांग्रेस द्वारा अपनायी गयी हिन्दुस्तानी अंग्रेज़ों द्वारा प्रचारित 'हिन्दुस्तानी' से एकदम भिन्न थी। दोनों की भूमिकाएं अलग-अलग थीं। दोनों में अवधारणात्मक अन्तर था। कांग्रेस की हिन्दुस्तानी सहज, सरल आम बोलचाल की ज़बान थी, और अंग्रेज़ों की हिन्दुस्तानी अरबी-फ़ारसी शब्दों से बोझिल उर्दू का छद्म नाम थी।

अब यहां पर यह सवाल उठ सकता है कि अंग्रेज़ों ने उर्दू के पर्याय के रूप में 'हिन्दुस्तानी' नाम ही क्यों रखा। वह इसलिए कि 'हिन्दुस्तानी' नाम ज़बान के लिए बहुत पहले से छिटफुट इस्तेमाल हो रहा था, जिसे लोगों द्वारा आसानी से ग्रहण किया जा सकता था। दूसरा सवाल यह उठता है कि हिन्दुस्तानी से अंग्रेज़ों का आशय और मुक़सद समझते हुए भी कांग्रेस ने इसे क्यों अपनाया? उसका जवाब यह है कि आम बोलचाल के लिए हिन्दुस्तानी नाम का प्रचलन भी ख़त्म नहीं हुआ था। ग़ैर सरकारी तौर पर वह चल रहा था। इसी लोक-प्रचलन से फ़ायदा उठाने के लिए अंग्रेज़ भी इस नाम की आड़ ले रहे थे। आम बोल-चाल की ज़बान के लिए हिन्दुस्तानी नाम किसी न किसी तरह से शुरू से चलता आ रहा था। कांग्रेस को तो इसे अपनाना ही था।

1910 में सरकार ने एक कमेटी की नियुक्ति इस आशय से की कि वह संयुक्त प्रान्त के मदरसों में देशी भाषाओं में शिक्षा देने के लिए रीडरों की भाषा पर अपनी सिफारिशें दे। कमेटी के 12 सदस्य थे जिनमें 6 अंग्रेज़, 4 हिन्दू और दो मुसलमान थे। कमेटी की सिफ़ारिशों में यह कहा गया कि 'पहले और दूसरे दरज़ों की रीडरों की भाषा' एक ही रहनी चाहिए। तीसरे और चौथे दरज़ों की रीडरों में संस्कृत और फ़ारसी के ज़रूरी शब्दों को रखने की सिफ़ारिश की गई। अर्थात् नागरी में छपी पुस्तकों में यदि कोई संस्कृत शब्द आ गया हो तो उसका पर्यायवाची फ़ारसी शब्द ब्रैकेट में दे दिये जायं, इसी तरह फ़ारसी के कठिन शब्द के साथ हिन्दी का पर्यायवाची दिया जाय। साथ ही हिन्दी और उर्दू अख़बारों और पुस्तकों से छः-छः सबक इसमें अलग-अलग नागरी और उर्दू रीडरों में रखे जाएं। बाकी की भाषा एक रहे।

इस प्रस्ताव को हिन्दू सदस्य डॉ० सुन्दर लाल ने कमेटी के समक्ष रखा जो बड़ी मुश्किल से बहुमत से कहीं जाकर पारित हुआ। मुसलमान सदस्य और कुछ अंग्रेज़ सदस्य यह चाहते थे कि रीडरों में जो भाषा चली आ रही है, वही रहे। जो अब तक की रीडरें थीं उन्हें फ़ारसी और नागरी लिपियों में अलग-अलग क्रमशः उर्दू और हिन्दी पढ़ने वालों के लिए दिया गया था। फ़ारसी और नागरी लिपि में दी गई इन रीडरों की भाषा एक ही थी—'हिन्दुस्तानी'। बरेली के असग़र अली खानबहादुर, जो इस कमेटी के सदस्य थे, ने कमेटी की सिफ़ारिशों

पर आपत्ति उठाई। और बहुमत से मान लिये गये प्रस्तावों पर अपना असहमति वक्तव्य (नोट ऑफ़ डिसेंट) रखा। इस वक्तव्य में खानबहादुर ने कहा कि "हिन्दी भाषा जैसी कोई चीज़ इन प्रान्तों (संयुक्त प्रान्त) में विद्यमान नहीं है।" दूसरी बात उन्होंने यह कही कि "जो पुरानी भाषा हुआ करती थी वह संस्कृत की तरह ही मर चुकी है।" तीसरी बात उन्होंने कही कि तीन सौ वर्षों से जो भाषा यहां बोली जाती है वह उर्दू या हिन्दुस्तानी है जो कि यहां की लिंगुआ फ्रान्का है।"

जो बातें असग़र अली ख़ानबहादुर ने अपने असहमति-वक्तव्य में कहीं हैं, उनसे भाषा सम्बन्धी उनके ज्ञान का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इससे अधिक की टिप्पणी उसके लिए नहीं चाहिए। जहां तक बात उर्दू या हिन्दुस्तानी की है, वह भी स्पष्ट ही है। अंग्रेज़ी सरकार के साथ-साथ उर्दू का हिमायती मुस्लिम वर्ग भी हिन्दुस्तानी से आशय उर्दू से ही ग्रहण करता था। अंग्रेज़ी सरकार और मुस्लिम नेताओं के लिए हिन्दुस्तानी एक भ्रम थी जिसकी वास्तविकता उर्दू के रूप में थी।

हां, ग्रियर्सन ज़रूर इसे थोड़ा हटाकर देखने की कोशिश करते हैं। उनके अनुसार "वर्नाक्यूलर के तौर पर हिन्दुस्तानी पश्चिमी हिन्दी की एक बोली है।" यहां तो वे स्पष्ट नहीं हो पाये पर 'दि लैंग्वेज़ेज़ ऑफ़ इंडिया' पुस्तक में ही एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है कि "हिन्दुस्तानी मूलतः उत्तरी दोआब की भाषा है···और इसे फ़ारसी तथा देवनागरी दोनों लिपियों में लिखा जा सकता है। फ़ारसी और संस्कृत के बड़े-बड़े शब्दों के प्रयोग से भी यह अलग है।"

दिसम्बर 1914 में आगरा में मुसलमानों का शिक्षा सम्बन्धी एक सम्मेलन हुआ। देश के अनेक भागों से प्रतिष्ठित मुसलमानों ने इसमें शिरकत की। इस सम्मेलन में इलाहाबाद के बैरिस्टर अब्दुल रऊफ़ ने यह प्रस्ताव रखा कि प्रारम्भिक शिक्षा के मदरसों में केवल फ़ारसी लिपि के ही रीडरों को लगाया जाय। नागरी लिपि के रीडरों को शामिल करने के वे ख़िलाफ़ थे। अलीगढ़ के शेख मुहम्मद अब्दुल्ला ने भी पिगट कमेटी की इस बात के लिए आलोचना की कि नागरी लिपि को तरजीह दी जा रही है, जब कि वास्तविकता यह थी कि पिगट कमेटी ने प्रारम्भिक मदरसों में भाषा को लेकर विचार किया था, लिपि का मसला तो उसके सम्मुख आया ही नहीं था।

यह सवाल पहले उठाया गया है कि अंग्रेज़ी सरकार को 'हिन्दुस्तानी' को आगे बढ़ाने की ज़रूरत क्यों महसूस हुई। जो वजहें ऊपर बताई गई हैं उनमें यह वजह भी शामिल है कि 'हिन्दुस्तानी' को अंग्रेज़ों ने एक ऐसी भाषा के तौर पर प्रचारित किया था जो फ़ारसी लिपि में भी लिखी जाये और नागरी में भी। ज़बान वे उर्दू ही को रखना चाहते थे, क्योंकि एक तो कचहरियों या दूसरे माल

आदि के दफ्तरों में फ़ारसी लिपि और भाषा का भी प्रयोग पहले हुआ करता था, जिसका स्थान अंग्रेज़ी ले रही थी, पर पूरी तौर पर, कम समय में ही अंग्रेज़ी को वह स्थान लेने में कई व्यावहारिक कठिनाइयां थीं। कोई भाषा दूसरी भाषा का स्थान एक दिन में ले भी नहीं सकती। दूसरे जो अंग्रेज़ अधिकारी भारतीय नौकरियों में आते थे वे जिस हिन्दुस्तानी ज़बान को थोड़ा बहुत सीखते थे वह फ़ारसी शब्दों से लदी हुई उर्दू होती थी। जो ज़बान को थोड़ा बहुत भी सीख नहीं पाता था, वह भी फ़ारसी के कुछ लफ़्ज़ों को तो सीख ही लेता था। हिन्दी वे सीख नहीं पाते थे। इसलिए उनका जो स्वाभाविक झुकाव था वह उर्दू ही की ओर था। तीसरा कारण यह था कि अंग्रेज़ी सरकार की 1857 के बाद के कुछ वर्षों तक ज़रूर मुसलमानों के विरुद्ध नीति रही, पर बाद में यह नीति मुसलमानों के पक्ष में हो गयी और अंत तक मुसलमानों के पक्ष में ही रही। सैयद अहमद से लेकर सभी मुस्लिम नेताओं (1906 के बाद मुस्लिम लीगी नेताओं) की नीति भी सदैव अंग्रेज़ी सत्ता के समर्थन की ही रही। 1911-12 जैसे वर्षों में जब ब्रिटिश सरकार त्रिपोली टर्की युद्धों में मुस्लिम-विरोधी रुख अख़्तियार किये हुए थी, तब ज़रूर यहां के नेता कुछ कसमसाये थे पर तब भी उन्होंने ज़्यादा कुछ नहीं किया था। हां, इन नेताओं का साथ उलमा ने कभी नहीं दिया और उनकी नीति सदैव अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध रही। या फिर कांग्रेस के मुस्लिम नेता इनके ख़िलाफ़ ही रहे।

इस तरह मुसलमानों के और साथ में उर्दू के प्रति एक स्वाभाविक झुकाव, जो नीतिगत झुकाव बन गया था, अंग्रेज़ी सरकार का सदैव रहा। लेकिन सरकार हिन्दुओं को भी एकदम से नाराज़ नहीं कर सकती थी। हिन्दुस्तान में वे बहुसंख्यक थे और इस देश के सांस्कृतिक रिक्थ के मुख्य रूप से वे ही उत्तराधिकारी थे। ऐसे में अंग्रेज़ी सरकार की नीति फूंक-फूंककर क़दम रखने की रही। हिन्दुस्तानी को उन्होंने ऐसी भाषा के रूप में आगे बढ़ाया जो नागरी लिपि में भी लिखी जा सकती थी और सामान्य रूप से जनता में प्रचलित थी। हिन्दी-उर्दू के झगड़े के मूल में भी लिपि ही थी। नागरी रहे या फ़ारसी लिपि, सो 'हिन्दुस्तानी' को दोनों लिपियों में लिखने की छूट देकर और पाठ्य पुस्तकों को दोनों लिपियों में छापकर अंग्रेज़ों ने अपने ढंग से इस भाषा-समस्या का निराकरण किया। लेकिन निराकरण हुआ नहीं, क्योंकि भाषा तो उर्दू ही अपनायी गयी थी। जिसे अंग्रेज़ हिन्दुस्तानी कहते थे, वह हिन्दी से बहुत दूर थी।

हिन्दी को बहुत अधिक बढ़ावा सरकार दे नहीं सकती थी। उसके कई ख़तरे थे। एक बड़ा ख़तरा तो यही था कि उच्च हिन्दी को बढ़ावा देने से हिन्दुओं में कहीं इस क़िस्म की जागरूकता या चेतना न फैलने लगे, जिससे वे अपने सांस्कृतिक पुनरुत्थान के बारे में कुछ अधिक सोचने लग जाएं, या उन्हें अपनी सांस्कृतिक

विरासत का आभास होने लग जाय, जो आगे चलकर कहीं राजनीतिक उथल-पुथल में न बदल जाये। सांस्कृतिक विरासत का आभास लोगों को बाद में हुआ, पर उसके मुख्य कारण दूसरे थे। उसे यथा-स्थान मैंने दिया है।

आल इंडिया मुस्लिम लीग का चौथा अधिवेशन नागपुर में 28 से 30 दिसम्बर 1910 को हुआ। आग़ा ख़ान अध्यक्ष थे। 30 दिसम्बर 1910 को अधिवेशन की तीसरी बैठक में जो पहला प्रस्ताव रखा गया, वह उर्दू से सम्बन्धित था। प्रस्ताव रखने वाले थे शेख़ ज़हूर अहमद। प्रस्ताव रखते हुए शेख़ ज़हूर अहमद ने जो वक्तव्य दिया उसमें जगह-जगह 'उर्दू या हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग किया गया है। उर्दू की प्रशंसा और हिन्दी को हर तरह से जहालत से भरी हुई ज़बान बताने वाला लंबा-चौड़ा यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित हुआ। इससे यह साबित हुआ कि मुस्लिम लीग की आधिकारिक मान्यता यह थी कि उर्दू और हिन्दुस्तानी दोनों एक ही ज़बान के दो नाम हैं। ठीक यही मान्यता अंग्रेज़ों की थी जो गिलक्राइस्ट से शुरू होकर चली आ रही थी।

मुस्लिम लीग के 1910 के प्रस्ताव (रेज़ोल्यून्शन 8) में प्रस्तावक ने अपने वक्तव्य में कहा कि—चाहे जितना भी पक्षपातपूर्ण ढंग से देखें हिन्दी अपने में कोई भाषा नहीं कही जा सकती। यह उर्दू का भ्रष्ट और गंवारू रूप है। यह बोलियों का एक गड्ड-मड्ड सम्मिश्रण है। मानक हिन्दी साहित्य जैसी कोई चीज नहीं है, और न ही मानक हिन्दी वर्नाक्यूलर तथा मानक लेखन-प्रणाली है—जो कोई इसे लिखता है अपनी मर्जी से लिखने का ढंग अपना लेता है, और अकसर अपने ही लिखे हुए को पढ़ने में उसे बहुत कठिनाई होती है। यदि मैं ग़लती नहीं कर रहा हूं तो सात, अगर नौ नहीं तो, तरीक़े इसके लिखने के हैं। बोलियों का यह निराशाजनक घालमेल नागरी के रूप में है, जिसका न तो कोई निश्चित शब्द-भंडार है, न उच्चारण है और न ही निश्चित वर्ण विन्यास है…।

इसी वक्तव्य में आगे कहा गया कि "सांस्कृतिक नागरी' को जो लोग फिर से जिन्दा करना चाहते हैं…उनकी कोशिशें मिश्र की ममी के ऊपर लगातार सांस छोड़कर उसे जिन्दा करने की हैं। उन्हें इस तथ्य का ज्ञान नहीं है कि हिन्दुस्तान में उर्दू की जो स्थिति है, उनकी प्रिय भाषा (अर्थात् हिन्दी) को उस स्थिति तक पहुंचने में सैकड़ों वर्ष लगेंगे।"[7]

उर्दू से सम्बन्धित एक प्रस्ताव (रेजोल्यूशन 5) आल इंडिया मुस्लिम लीग के तीसरे वार्षिक अधिवेशन में सर्वसम्मति से अपनाया गया था। यह अधिवेशन

दिल्ली में 29-30 जनवरी 1910 को हुआ था। प्रस्ताव रखते हुए शेख अब्दुल क़ादिर ने कहा—"यह एकमात्र ऐसी भाषा है जो समूचे भारत में शिक्षित वर्ग द्वारा समझी जाती है। किसी दूसरी सामान्य भाषा की खोज उसी तरह की है जैसे आपके पैरों के पास से गंगा बह रही हो और आप पानी पीने के लिए कुआं खोदने में लगे हों।"[8]

आल इंडिया मुस्लिम लीग के इन प्रस्तावों पर टिप्पणी की कोई आवश्यकता नहीं है। हां, मौलवी सैयद अली बिलग्रामी के विचार यहां दिये जा रहे हैं।

मौलवी सैयद अली बिलग्रामी निज़ाम हैदराबाद के मंत्री और अरबी-फ़ारसी तथा संस्कृत के विद्वान थे, और रायल एशियाटिक सोसाइटी बम्बई तथा बंगाल एशियाटिक सोसाइटी और नार्थ ऑफ़ इंग्लैंड इंस्टिट्यूशन ऑफ़ माईनिंग इंजीनियर्स जैसी संस्थाओं के सदस्य थे, उन्होंने 1898 में अरबी सभ्यता से सम्बन्धित एक फ्रेंच पुस्तक का उर्दू में अनुवाद किया था। उर्दू अनुवाद के साथ अपनी एक भूमिका उर्दू भाषा के बारे में उन्होंने लिखी थी। उस भूमिका में सैयद बिलग्रामी ने लिखा—"अब हम थोड़े में उर्दू की लिखावट के ढंग का कुछ वर्णन किया चाहते हैं। पहलवी और फ़ारसी की नाईं उर्दू भी उन अभागी भाषाओं में से है जिन के अक्षर दूसरी जाति से बनाए गए हैं, और जिन अक्षरों का भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् भाषा में जो शब्द हैं, उनके लिए ठीक अक्षर नहीं हैं। कोई-कोई शब्द के लिए तो बहुत से अक्षर हैं और किसी-किसी शब्द क लिए अक्षर हैं ही नहीं। जैसे अरबी के 'से' और 'स्वाद' और 'सीन' तीनों से उर्दू में एक ही शब्द निकलता है। इन अक्षरों का काम केवल 'सीन' ही से चल सकता था। निस्संदेह उन अरबी शब्दों का ध्यान करके, जो कि उर्दू में मिल गए हैं, इन अक्षरों का रहना आवश्यक है। परन्तु केवल उर्दू के शब्दों के लिए उनका रहना अनावश्यक और निष्प्रयोजन है। अर्थात् यदि कोई मनुष्य उर्दू भाषा के वाक्यों को बोलता जाय और दूसरा कोई अरबी से अनभिज्ञ मनुष्य उसे लिखता जाय तो जब तक कि उस लेखक को अरबी के इमलों का ज्ञान न हो तो वह केवल सुनकर शुद्ध नहीं लिख सकता। उर्दू अक्षरों में यह एक बड़ा भारी दोष है। यही हाल ज़े, ज़ाल, ज़्वाद और ज़ो का और इसी प्रकार के उर्दू के अक्षरों का भी है।

"प्रायः लोगों को यह ज्ञात है कि उर्दू आर्य भाषा की सन्तान है, अर्थात् वास्तव में यह 'हिन्दी' अथवा 'भाषा' है जो संस्कृत से निकली है और मुसलमानों के संसर्ग के कारण इसमें फ़ारसी और अरबी के शब्द अधिकता से मिल गए हैं।...

"इन आर्य भाषाओं के अक्षरों में बहुत ही उपयुक्त बात यह है कि इनमें स्वर

मात्रा से दिखलाये जाते हैं। परन्तु शेमेटिक भाषाओं में स्वर कुछ चिह्नों से दिखलाये जाते हैं जिनको ज़ेर, ज़बर, पेश और तनवीन इत्यादि कहते हैं। अर्थात् आर्य भाषा में तो 'स्वर' शब्द का एक भाग है परन्तु शेमेटिक भाषाओं में वह केवल एक ऐसा चिह्न है जिसका लिखना अथवा न लिखना लेखक की इच्छा पर निर्भर है और लेखक इसे प्रायः छोड़ दिया करते हैं।

"इससे यह बात विदित हो गई होगी कि शेमेटिक भाषा की अपेक्षा आर्य भाषा क्यों सरल है। आर्य भाषा में एक शब्द केवल एक ही प्रकार से पढ़ा जा सकता है। यदि उस शब्द में कोई शंका उत्पन्न हो सकती है तो केवल इसी कारण कि कोई अक्षर ठीक प्रकार से नहीं लिखा गया। शेमेटिक भाषा में एक शब्द को तीन-चार से भी अधिक प्रकार से पढ़ सकते हैं। जैसे—अरबी शब्द कतब को तीन प्रकार से पढ़ सकते हैं—'कुतिब', 'कुतुबु' अथवा 'कतब' और इन तीनों में से कहां पर क्या पढ़ना चाहिए सो केवल वाक्य प्रबन्ध से ही ज्ञात हो सकता है। परन्तु यही शब्द यदि संस्कृत, यूनानी वा रूमी अक्षरों में लिखा जाय तो शंका करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। इन तीनों में से जहां जो शब्द लिखना है वहां उसे स्पष्ट रीति से लिख सकेंगे और उसका अशुद्ध अथवा दूसरे प्रकार से पढ़ा जाना असम्भव होगा। यही कारण है कि कोई मनुष्य अरबी को बिना उसके कोश और व्याकरण से विज्ञ हुए नहीं पढ़ सकता। परन्तु एक बालक भी अक्षर पहचानने के पश्चात् ही संस्कृत, यूनानी अथवा लैटिन भाषा को बिना अर्थ समझे और बिना कठिनता के भली-भांति पढ़ सकता है।

"जब कि शेमेटिक अक्षरों की यह व्यवस्था उन भाषाओं के लिए है जिनके लिए कि वे बनाये गए थे और जिनके साथ उनका विशेष सम्बन्ध होना चाहिए, तो तनिक विचारने की बात है कि उर्दू और फ़ारसी के समान आर्य भाषाओं के लिए ये अन्तर कैसे अनुपयुक्त हैं क्योंकि इनका सम्बन्ध इन भाषाओं के साथ केवल असली लोगों के राजनैतिक प्रभुत्व के कारण हुआ। हम दिखला चुके हैं कि इस प्रयोग से प्रत्येक शब्द कई प्रकार से पढ़ा जा सकता है और जब तक कि वह शब्द पहले ही से न मालूम हो तब तक उसका शुद्ध उच्चारण कदापि नहीं किया जा सकता। अतएव यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक लिखा हुआ शब्द एक कल्पित चित्र है जिसके कि उच्चारण का उसकी लिखावट से कोई सम्बन्ध नहीं है और यदि है भी तो बहुत ही थोड़ा।

"यह भली-भांति समझ में आ सकता है कि इस दूसरी जाति के अक्षर ने उर्दू की पढ़ाई को कितना कठिन कर रक्खा है। कुछ आश्चर्य की बात नहीं है कि हमारी पाठशाला के बालकों को केवल शुद्धतापूर्वक पढ़ना सीखने में दो वर्ष लग जाते हैं। इसका बहुत बड़ा प्रभाव मुसलमानों की विद्या सम्बन्धी उन्नति पर पड़ा है और पड़ रहा है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो दूसरी जाति में इतनी

अविज्ञता कदापि नहीं है जितनी मुसलमानों में। और पढ़े-लिखे आदमियों की अधिक संख्या उन्हीं मुसलमानों में है जिन्होंने अपने को इस दूसरी जाति के अक्षरों के बन्धन से निर्मुक्त कर लिया है : अर्थात् सिंध, बम्बई और बंगाल के मुसलमानों में, जो अपनी भाषा को सिंधी, गुजराती और बंगाली के आर्य अक्षरों में लिखते-पढ़ते हैं।"[9]

मौलवी सैयद अली बिलग्रामी ने अपनी भूमिका में उर्दू के जिन दोषों का बयान किया है, उनमें पहला दोष (और सबसे बड़ा दोष) लिपि से सम्बन्धित है, जिसमें उन्होंने बताया है कि उर्दू के 'अक्षर दूसरी जाति से बनाये गये हैं और जिन अक्षरों का भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है।' इस कथन में दो बातें शामिल हैं। पहली यह कि उर्दू के अक्षर (अर्थात् लिपि) दूसरी जाति से बने हैं। आशय यह है कि उर्दू आर्य भाषाओं में से एक है। सभी आर्य भाषाओं की लिपियां बाएं से दाएं लिखी जाती हैं, और उन सभी भाषाओं की लिपियों में, भाषा और लिपि का तालमेल अपने ढंग का दिखाई देता है। पर उर्दू इसका अपवाद है। उसे दाएं से बाएं की ओर लिखते हैं और उसमें भाषा और लिपि का आपसी कोई तालमेल नहीं है। कारण यह है कि भाषा तो आर्य है पर लिपि शेमेटिक भाषा-परिवार से उठा ली गई है।

इस कथन में दूसरी बात यह शामिल है कि 'अक्षरों का भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है।' इसका आशय यह है कि उर्दू के लघुतम व्यवच्छेदक इकाइयों और उनके चाक्षुष प्रतीकों में प्रतीकात्मकता के स्तर पर गड़बड़ियां हैं। लिपि की वैज्ञानिकता यह होती है कि प्रत्येक स्वनिम के लिए अलग-अलग लिखित चिह्न हों। उर्दू में इसका नितान्त अभाव है। दूसरी बहुत-सी भाषाओं में भी यह अभाव है, मसलन अंग्रेज़ी की रोमन लिपि में जो कि नितान्त अवैज्ञानिक लिपि है, जैसे क ध्वनि को लिपि के स्तर पर K, C, Ch तीनों से लिखा जाता है। इस तरह के बहुत से उदाहरण हैं। पर दूसरी और भी लिपियां अवैज्ञानिक हैं, यह कह देने से अरबी-फ़ारसी लिपि की अवैज्ञानिकता कम नहीं हो जाती। इस दृष्टि से देवनागरी लिपि संसार की सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि कही जा सकती है।

तीसरी जिस बड़ी गड़बड़ी की ओर सैयद बिलग्रामी ने इशारा किया है वह यह है कि उर्दू में ज़ेर, ज़बर, पेश और तनवीन आदि कुछ चिह्न हैं जिनसे स्वरों को बताने का काम लिया जाता है, पर इनका लिखना-न लिखना लेखक की अपनी मर्जी पर है अर्थात् इन्हें लिखा ही जाय, यह ज़रूरी नहीं है। आप चाहें तो लिखें, न चाहें तो न लिखें। पर पढ़ने वाले की कठिनाई इससे बढ़ती है। वह अन्दाज़ से ही स्वरों को दूसरी ध्वनियों के साथ जोड़ेगा। जैसे बिलग्रामी ने 'कतब' का उदाहरण दिया है जो 'कुतिब' और 'कुतुबु' की तरह भी पढ़ा जा सकता है।

अब अगर पहले से 'कतब' आपको मालूम नहीं है तो आप किसी भी तरह से उसे पढ़िये। इस तरह की भ्रमात्मक स्थितियां उर्दू स्वर और उनके चिह्नों को लेकर हैं। अंग्रेज़ी की रोमन लिपि में भी स्वरों के अलग-अलग निश्चित चिह्न नहीं हैं, जैसे पी, यू, टी 'पुट' लेकिन बी, यू, टी 'बट' अर्थात् 'यू' चिह्न दो स्वरों उ और अ का प्रतिनिधित्व करता है। इसी तरह a चिह्न कहीं ए का प्रतिनिधित्व करता है, कहीं ऐ का और कहीं अ का। रोमन में तो इस तरह की अराजकता की कोई सीमा ही नहीं है, जितने उदाहरण चाहें मिल जायेंगे। दूसरी ओर देवनागरी में प्रत्येक स्वर के लिए अलग-अलग निश्चित चिह्न हैं। जैसे 'आ' स्वनिम को या तो आ की तरह लिखेंगे या उसकी निश्चित मात्रा (ा) से उसे द्योतित करेंगे, और कोई तरीक़ा उसे लिखने का नहीं है। या 'उ' को या तो 'उ' की तरह लिखेंगे या ु मात्रा की तरह। दूसरा कोई विकल्प नहीं है। यही नहीं, स्वर को कहां पूरा लिखना है और कहां उसे मात्रा द्वारा बताना है यह भी पूर्व निश्चित है, आपकी मर्ज़ी पर उसे नहीं छोड़ा गया है।

सैयद बिलग्रामी ने उर्दू का एक और बड़ा दोष यह बताया है कि उर्दू को शुद्धतापूर्वक पढ़ना सीखने में बहुत समय लगता है, जिसकी वजह से मुसलमानों की विद्या सम्बन्धी उन्नति दयनीय स्थिति में है। और यह इसलिए है कि अरबी-फ़ारसी लिपि के कारण उर्दू आसानी से सीखी ही नहीं जा सकती। उसे ठीक-ठीक पढ़ने में दो वर्ष लग जाते हैं। व्यावहारिक स्तर पर यह एक बहुत बड़ी कठिनाई है। यदि हम आज के ज़माने को निगाह में रखें तो यह कठिनाई और भी बड़ी दिखाई देगी। क्योंकि अब हर काम में लगने वाला समय बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया है। समय की ओर से आंखें मींचकर अब नहीं चला जा सकता।

सैयद बिलग्रामी ने एक और महत्त्वपूर्ण बात की ओर भी संकेत किया है। उनका कहना है कि उन मुसलमानों में पढ़े-लिखे आदमियों की संख्या दूसरे मुसलमानों से अधिक है, जिन्होंने अरबी-फ़ारसी लिपि से अपने को मुक्त कर लिया है, और आर्य अक्षरों में (ही) लिखते-पढ़ते हैं। जैसे सिंध, बम्बई और बंगाल के मुसलमान। इन तीनों जगहों के मुसलमानों ने सिंधी, गुजराती और बंगला ज़बानों को अपना लिया है। सैयद बिलग्रामी साहब की इस बात में भी काफ़ी दम है। अगर ध्यान से देखें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि इन स्थानों के मुसलमानों में दूसरे मुसलमानों की अपेक्षा शिक्षा सम्बन्धी प्रगति अधिक दिखाई देती है। इन्होंने भौतिक उन्नति भी अपेक्षाकृत अधिक की है।

29 सितम्बर 1830 को ईस्ट इंडिया कम्पनी के कोर्ट ऑफ़ डाइरेक्टर्स ने एक आज्ञा-पत्र निकाला, जिसमें यह कहा गया कि "यहां के वासियों को जज की भाषा सीखने के बदले जज को भारतवासियों की भाषा सीखना बहुत सुगम

होगा । अतएव हम लोगों की सम्मति है कि न्यायालयों की समस्त कार्रवाई उस स्थान की भाषा में हो । "[10]

परन्तु यह आज्ञापत्र फाइलों में ही बन्द रहा । फिर 1835 का वह प्रस्ताव आया जिसे मैकाले ने बनाया था और जिसमें अंग्रेज़ी को हर स्तर पर और हर क्षेत्र में लागू करने की सिफ़ारिश की गयी थी । उसे वायसराय ने सिर्फ़ माना ही नहीं, बल्कि उसकी प्रशंसा भी की । 1837 में यह निर्णय हुआ कि अंग्रेज़ी का प्रयोग सरकारी कागज़-पत्रों में किया जाय पर न्याय और माल सम्बन्धी काम फ़ारसी के स्थान पर देशी भाषाओं में हो । इसी निर्णय के तहत बंगाल में बंगला और उड़ीसा में उड़िया को अपनाया गया । लेकिन बिहार, पश्चिमोत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश की कचहरियों में नागरी लिपि में हिन्दी की बजाय फ़ारसी लिपि में उर्दू को स्थान मिला । नाम उसका हिन्दुस्तानी रखा गया, जिसे अंग्रेज़ बड़े ज़ोर-शोर से चला रहे थे । इसके बाद 1881 में कहीं जाकर बिहार में नागरी या कैथी लिपि को अपनाया जा सका । 1881 में ही मध्यप्रदेश में भी हिन्दी और नागरी को कचहरियों में जगह मिली । लेकिन पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध में 1900 ई० से पहले नागरी को लागू नहीं किया जा सका ।

1900 ई० की 'सरस्वती' में यह कहा गया है कि "मुसलमानी राज्य के प्रारम्भ (1200 ई०) से लेकर अकबर के राज्य के मध्य (1565 ई०) तक माल विभाग में हिन्दी का और दीवानी तथा फ़ौज़दारी कचहरियों में फ़ारसी भाषा का प्रचार था ।" (पृ० 124)

इससे यह ज़ाहिर होता है कि हिन्दी और फ़ारसी कई सौ वर्षों तक साथ-साथ चल रही थीं । चूंकि मुस्लिम राज्य था इसलिए धीरे-धीरे फ़ारसी का विस्तार हुआ और उसने हिन्दी की जगह भी ले ली । अंग्रेज़ी राज (1757 से) के आने के बाद भी 1837 तक फ़ारसी उसी तरह चलती रही । 1835-37 अंग्रेज़ी-राज की भाषानीति और शिक्षानीति के ख़याल से बहुत महत्त्वपूर्ण वर्ष थे, मैकाले की भाषा और शिक्षानीति सम्बन्धी सिफ़ारिशें लागू की जा रही थीं । ये नीतियां एक ओर ब्रिटिश साम्राज्य की नींव को पुख्ता कर रही थीं और कालान्तर में अनचाहे दूसरी ओर हिन्दुस्तानियों को ब्रिटिश लोकतंत्र के प्रति जागरुक भी कर रही थीं, जिससे बाद में उनमें स्वयं को स्वतंत्र करने की भावना पैदा होती है ।

10 मार्च 1911 ई० को होने वाली मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट के अनुसार संयुक्त प्रान्त की कुल आबादी चार करोड़ अस्सी लाख थी । इस आबादी में से हिन्दी बोलने वालों की संख्या चार करोड़ सैंतीस लाख थी और उर्दू बोलने वालों की संख्या इकतालीस लाख थी । इस मर्दुमशुमारी के सुपरिन्टेन्डेंट ब्लण्ट थे । ब्लण्ट ने मर्दुमशुमारी पर अपनी जो रिपोर्ट प्रस्तुत की, उसमें संयुक्त प्रान्त में

बोली जाने वाली भाषाओं को चार वर्गों में विभाजित किया—पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, बिहारी और पहाड़ी। पश्चिमी हिन्दी में हिन्दुस्तानी, ब्रज, कन्नौजिया और बुंदेली और पूर्वी-हिन्दी में अवधी और बघेली का उन्होंने उल्लेख किया। ब्लण्ट के विचार से हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी और उच्च हिन्दी एक ही भाषा के रूपान्तर हैं। रिपोर्ट में उर्दू को हिन्दी की एक शाखा के रूप में माना गया, लेकिन रिपोर्ट के जो नक़्शे हैं उनमें उर्दू और हिन्दुस्तानी एक ही खाने में दी गई हैं। इससे ज़ाहिर होता है कि उर्दू और हिन्दुस्तानी एक ही ज़बान हैं। ब्लण्ट की इस रिपोर्ट से यह स्पष्ट हो जाता है।

देवनागरी और फ़ारसी लिपि को लेकर भी मर्दुमशुमारी की इस रिपोर्ट में उल्लेख हुआ है। संयुक्त प्रान्त में देवनागरी और फ़ारसी लिपियों को व्यवहार में लाने वाले विभिन्न समुदायों का प्रतिशत क्या है, उसे ब्लण्ट ने इस तरह दिया है—

	देवनागरी	फारसी
हिन्दू	84	15
मुसलमान	14	81
आर्यसमाज	59	39
जैन	79	19
किरानी	36	52

ब्लण्ट ने अपनी रिपोर्ट में यह भी दिया है कि उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि का जो व्यवहार संयुक्त प्रान्त में है वह इसलिए है कि फ़ारसी लिपि कचहरियों में प्रयुक्त होती है। वकीलों से लेकर मुहर्रिर और अर्ज़ीनवीस तक इसी लिपि का प्रयोग करते चले आ रहे हैं, पर अब हिन्दी की ओर इनका झुकाव साफ़ दिखाई देने लगा है।

रिपोर्ट में 1891, 1901 और 1911 में उर्दू और हिन्दी के अखबारों और सामयिक प्रकाशनों की संख्या भी दी गयी है। वह संख्या इस तरह है—

वर्ष	उर्दू		हिन्दी	
	अखबारों आदि की संख्या	कापियों की संख्या	अखबारों आदि की संख्या	कापियों की की संख्या
1891	68	16256	24	8002
1901	69	23757	34	17419
1911	116	76608	86	77731

बीस वर्षों की इस तालिका से स्पष्ट है कि उर्दू अखबारों और दूसरे सामयिक प्रकाशनों की संख्या इन बीस वर्षों में डेढ़ गुने से कुछ ज़्यादा बढ़ी और कॉपियों

की संख्या में साढ़े चार गुना से कुछ अधिक की वृद्धि हुई। इसमें दूसरी ध्यान देने लायक बात यह है कि 1891 से 1901 तक के दस वर्षों में अख़बारों और सामयिक प्रकाशनों की संख्या में सिर्फ एक की वृद्धि हुई। हां, कॉपियों की संख्या में ज़रूर साढ़े सात हज़ार की बढ़ोत्तरी रही। 1901 से 1911 के दरम्यान 47 नये अख़बार और दूसरे सामयिक प्रकाशन अस्तित्व में आये। इस दृष्टि से 1901 से 1911 तक का समय उर्दू अख़बारों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। इसे कॉपियों की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण माना जायेगा। 1891 से 1901 तक के समय में कॉपियों की संख्या में सिर्फ़ साढ़े सात हज़ार कॉपियों की वृद्धि हुई थी, जब कि 1901 से 1911 तक के काल में यह वृद्धि 53 हज़ार की हुई। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि उर्दू में साक्षरता और साथ ही पाठकों की संख्या में 1891 से 1901 के बीच वृद्धि की जो गति थी, वह निराशाजनक ही थी। हां, 1901 से 1911 के बीच साक्षरता और पाठकों की संख्या में वृद्धि को पहले से बहुत बेहतर माना जा सकता है।

जहां तक हिन्दी का सवाल है 1891 से 1901 तक के दस वर्षों में अख़बारों आदि की संख्या में 10 की वृद्धि हुई, लेकिन 1901 से 1911 के दूसरे दस वर्षों में वृद्धि की संख्या 34 से 86 हो गयी, अर्थात् ढाई गुना अख़बार आदि अधिक निकलने लगे। 51 नये अख़बार आदि का प्रकाशन शुरू हुआ। इस समय के दौरान उर्दू की बढ़ी हुई संख्या 47 थी। हिन्दी की कॉपियों की संख्या में वृद्धि की रफ्तार अधिक संतोषजनक दिखाई देती है। 1891 में कुल आठ हज़ार कॉपियां निकलती थीं, अगले दस वर्षों में ये लगभग साढ़े सत्रह हज़ार हो गयीं अर्थात् दुगुने से कुछ ज़्यादा, जो कि कुछ खास बात नहीं थी। दूसरे दस सालों में साढ़े सतहत्तर हज़ार से भी अधिक कॉपियां निकलने लगीं। दूसरे शब्दों में हिन्दी के साक्षरों और पाठकों की संख्या में बढ़ोत्तरी 1911 में पिछले दस सालों से साढ़े चार गुना बढ़ गई। इसे पिछले दस सालों की प्रगति को देखते हुए संतोषजनक कहा जा सकता है।

रिपोर्ट में 1901 और 1910 में पुस्तकों की संख्या भी दी गई है। 1901 में उर्दू की 488 पुस्तकें निकलीं और हिन्दी की 429, और 1910 में उर्दू की 435 पुस्तकें निकलीं और हिन्दी की 807 पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इस तरह 1910 में 1901 की अपेक्षा 53 उर्दू पुस्तकें कम छपीं, यह स्थिति चिन्ता-जनक थी जो कि उर्दू में पुस्तक-प्रकाशन के ह्रास को बताती है। हां, हिन्दी की स्थिति अवश्य ही संतोषजनक थी। 1910 में 1901 की अपेक्षा लगभग दुगुनी पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं से लेकर पुस्तकों के प्रकाशन में 1901 के बाद जो वृद्धि दिखाई देती है उसका एक प्रमुख कारण 1900 में संयुक्त प्रान्त की

कचहरियों में फ़ारसी लिपि के साथ नागरी को भी अपना लिया जाना दिखाई देता है; हालांकि अमला ने और वकील मुख़्तार लोगों ने उसे अपनाया नहीं था। मान्यता कागज़ पर ही मिली थी, व्यवहार में उतरी नहीं थी।

इसका दूसरा कारण हिन्दी-उर्दू का झगड़ा भी हो सकता है, जिसकी वजह से हिन्दुओं में हिन्दी के प्रति अपनापन पैदा हुआ और उसके पठन-पाठन में रुचि बढ़ी। इस नतीजे पर पहुंचने का कारण यह है कि एक ओर हिन्दी प्रकाशनों की संख्या जिस गति से बढ़ रही थी उर्दू में प्रकाशनों की संख्या उतनी बेहतर नहीं थी। ऐसा इसलिए हुआ होगा कि उर्दू पढ़ने वाले हिन्दुओं की तादाद में कमी आयी होगी, जिससे उर्दू के प्रकाशन वांछित प्रगति नहीं कर सके।

ब्लण्ट ने अपनी रिपोर्ट में हिन्दुस्तानी को परिभाषित करते हुए यह कहा है कि जो भाषा फ़ारसी और नागरी दोनों लिपियों में लिखी जा सके और जिसमें न तो फ़ारसी के बहुत अधिक शब्द प्रयुक्त हों और न संस्कृत के, वह 'हिन्दुस्तानी' है।

स्कूलों और विश्वविद्यालय के पाठ्य-क्रम को लेकर 1915 में सरकार ने एक कमेटी बनाई थी। उस कमेटी में मि० बर्न यद्यपि सदस्य नहीं थे पर हिन्दी-उर्दू के विद्वान की हैसियत से सरकार ने उनकी लिखित राय मांगी थी। बर्न ने अपनी राय में कहा कि "(1) हिन्दी-उर्दू की रीडरों की भाषा एक ही होनी चाहिए। संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के शब्द उसमें रहें, पर वे ऐसे हों जो सब लोग समझ सकें। (2) हिन्दुस्तानी, अर्थात् उर्दू, के गद्य-पद्य की भाषा तो एक ही है, पर हिन्दी की नहीं। हिन्दी के पद्य की भाषा में गद्य की भाषा से भेद है। (3) हिन्दू और मुसलमान दोनों को रामायण और पदुमावत पढ़ना चाहिए।"[11]

बर्न के इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि अंग्रेज़ जिसे हिन्दुस्तानी भाषा के रूप में आगे कर रहे थे वह मूलतः उर्दू से भिन्न नहीं थी। अंग्रेज़ों के मन में दोनों में भेद अगर था तो इतना ही था कि उर्दू केवल फ़ारसी लिपि में लिखी जाती थी जब कि 'हिन्दुस्तानी' फ़ारसी और नागरी दोनों लिपियों में लिखी जा सकती थी। जब यह सवाल उठा था कि प्रारम्भिक कक्षाओं के लिए फ़ारसी और नागरी दोनों लिपियों में पाठ्य-पुस्तकें हों तो संयुक्त प्रान्त की सरकार ने ऐसी पाठ्य-पुस्तकें लिखवायीं, जिनकी ज़बान उर्दू थी, यानी कि अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग संस्कृत शब्दों की अपेक्षा अधिक किया गया था, पर फ़ारसी और नागरी दोनों लिपियों में उसे लिखवाया गया। इन पाठ्य-पुस्तकों को लेकर काफ़ी विवाद चला। विवाद में हर तरह के विचार सामने आये।

ऊपर जो बर्न के विचार दिये गये हैं, उन पर अरबी-फ़ारसी के विद्वान

मौलाना शिबली ने यह कहा कि—

"स्कूली किताबों में भाषा का एकाकार करने से अपार हानि होगी। छोटे दरजों में तो इस एकाकार करने से किसी तरह काम चल जायेगा, पर आगे नहीं। भाषा में नये-नये भावों और विचारों को व्यक्त करने की ज़रूरत होती है। हिन्दुस्तानी भाषा रखने से उन भावों और विचारों को प्रकट करने के लिए शब्द कहां से आवेंगे ? अतएव प्रारम्भिक दरजों के आगे की पुस्तकों की भाषा जुदा-जुदा किये बिना किसी तरह निस्तार नहीं। देवनागरी अक्षरों में छपी हुई पुस्तकों की भाषा हिन्दी रहे और फ़ारसी अक्षरों में छपी हुई पुस्तकों की भाषा उर्दू। ऐसा न करने से टेक्स्ट बुक कमिटी के हिन्दू-मुसलमान मेम्बरों में नित-नया झगड़ा हुआ ही करेगा। हिन्दू संस्कृत की ओर झुकेंगे, मुसलमान अरबी-फ़ारसी की ओर। नतीजा यह होगा कि भाषा सत्यानाश हो जायेगी। न वह हिन्दी ही रही रहेगी, न उर्दू ही।[12]

उपर्युक्त समिति के एक सदस्य थे, मिर्जा हबीब हुसेन। हुसेन साहब ने समिति के समक्ष जो अपना नोट दिया, उसकी कुछ बातें इस तरह थीं: (1) "रामायण की भाषा छः-सात सौ वर्ष पहले बोली जाती रही हो तो रही हो। (2) प्राचीन भाषा अथवा अवधी भी संस्कृत की तरह मर चुकी। (3) हिन्दी नाम की कोई भाषा नहीं। (4) हिन्दी शब्द गंवारी का पर्यायवाची है। अर्थात् वह गंवारी बोली है और बिगड़ी हुई उर्दू के सिवा और कुछ नहीं। (5) यहां की भाषा का नाम उर्दू ही है, और (6) पांचवें दरज़े से फिर आगे सर्वत्र यही उर्दू या हिन्दुस्तानी जारी करना चाहिए।"[13]

मिर्जा जी के परिचय में यह लिखा हुआ है कि वे लखनऊ के अमीनाबाद हाई स्कूल में हेडमास्टर थे। जिस कमेटी का उन्हें सरकार ने सदस्य बनाया था, वह कमेटी विश्वविद्यालय के लिए पाठ्य-क्रम को निर्धारित करने के लिए थी। मिर्जा जी ने कोई पुस्तक लिखी हो या और कुछ लिखा हो, इसका भी किसी को ज्ञान नहीं था। इससे सहज ही अनुमान हो सकता है कि सरकार स्कूलों में और विश्वविद्यालयों में हिन्दी-उर्दू की शिक्षा को लेकर कितनी गम्भीर थी, और गम्भीर से गम्भीर मसले को भी किस तरह हास्यास्पद और विवादास्पद बना दिया करती थी। सरकार अगर कहीं गम्भीर थी तो वह अंग्रेज़ी शिक्षा के मामले में, जिसका प्रचार-प्रसार बड़े जोर-शोर से उन दिनों किया जा रहा था। डॉक्टर हेनरी ह्वाइटहेड की तरह के अंग्रेज़ शिक्षाविदों की संख्या नगण्य थी जो अंग्रेज़ी भाषा में शिक्षा देने के नतीजों से वाक़िफ़ थे और इसीलिए उसके ख़िलाफ़ थे। पर देश को अंग्रेज़ी की आंधी उड़ाये लिये जा रही थी। सरकार द्वारा चलायी उस आंधी ने सबकी आंखों में धूल झोंक रखी थी। हेनरी ह्वाइटहेड जो मद्रास

के लार्ड बिशप थे, के विचारों का एक नमूना देखिये। ये विचार उन्होंने 1914 में व्यक्त किये थे। वे कहते हैं—"अंग्रेज़ी भाषा में शिक्षा देने से अनेक हानियां हैं। अंग्रेज़ी से विद्यार्थियों के दिमाग़ पर बेजा बोझ पड़ता है। उससे अधिकांश विद्यार्थियों की वह शक्ति जिसकी प्रेरणा से नये-नये विचार सूझ पड़ते हैं, बिलकुल ही मारी जाती है। स्वतंत्र विचारों का बीज ही उनके हृदय में नष्ट हो जाता है। फिर, जो कुछ वे अंग्रेज़ी के द्वारा सीखते हैं उसे अच्छी तरह समझ ही नहीं सकते। स्कूलों के अध्यापक स्वयं ही अंग्रेज़ी में पारंगत नहीं होते। इस कारण विद्यार्थियों की शिक्षा में बाधा पड़ती है। अंग्रेज़ी में शिक्षा प्राप्त करने से अंग्रेज़ी जानने वाले लोगों का दल अंग्रेज़ी न जानने वालों से पृथक् होता जाता है। दोनों दलों में सहानुभूति और एकजीवता कम होती जाती है। जातीयता को इससे बड़ा धक्का पहुंचता है। अंग्रेज़ी के कारण ही देशी भाषाओं की उन्नति नहीं होती।

"शिकायत इस बात की है कि देशी भाषाओं की शिक्षा दी कैसे जाय, आवश्यक पुस्तकें तो हैं ही नहीं, विज्ञान के पारिभाषिक शब्द भी नहीं हैं। भाषायें भी कोड़ियों हैं। किस-किस में शिक्षा दी जाय? इन सब एतराज़ों में कुछ भी सार नहीं। आप यहां की भाषाओं में शिक्षा देना आरम्भ कीजिये, छः ही महीने में पाठ्य-पुस्तकों के ढेर लग जायेंगे। बाइबल का तर्जुमा भारत की सभी भाषाओं में हो गया है। उसके लिए पारिभाषिक शब्द कहां से आये? भाषायें अनेक अवश्य हैं, पर कुछ अधिक खर्च से यह कठिनता भी दूर हो सकती है। कितनी ही भाषाएं परस्पर बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। तब तक प्रधान भाषाओं के द्वारा ही शिक्षादान का काम आरम्भ कीजिए। जिस लड़के की भाषा तामील है वह अंग्रेज़ी की अपेक्षा तेलुगु भाषा में अधिक सरलता से शिक्षा प्राप्त कर सकता है। हां, राजनैतिक दृष्टि से अंग्रेज़ी पढ़ने की आवश्यकता पर बहुत कुछ कहा जा सकता है। पर हम यह कहां कहते हैं कि अंग्रेज़ी की पढ़ाई बन्द कर दी जाय। नहीं, अंग्रेज़ी खूब पढ़ाई जाय। पर उसकी शिक्षा भाषा की हैसियत से दी जाय। मातृभाषा की प्रधानता रहे, अंग्रेज़ी की गौणता।"[14]

1916 की 'सरस्वती'[15] में दिया गया है कि "वर्तमान काल में मिडिल स्कूल से लेकर ऊपर की सभी क्लासों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी है। अधिक प्रान्तों में मिडिल स्कूल के तीसरे दरजे तक गणित, विज्ञान, इतिहास और भूगोल की शिक्षा का माध्यम प्रान्तिक भाषायें हैं। उसके ऊपर सम्पूर्ण शिक्षा अंग्रेज़ी भाषा में दी जाती है।"

यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि बिशप हेनरी ह्वाइटहेड और उन-जैसे विचारकों की कोई सुनवाई न तो अंग्रेज़ी शासन में थी और न आज तैंतालीस वर्ष के स्वतन्त्र राष्ट्र में ही है। आज भी इस देश की शिक्षा का माध्यम कुल-

मिलाकर अंग्रेज़ी ही है, और आज भी हमारी मातृभाषाएं उसी तरह उपेक्षित हैं। बल्कि आज उनकी दुहरी उपेक्षा है—एक इस स्वतन्त्र कहे जाने वाले राष्ट्र के द्वारा और दूसरे उनके द्वारा जिनकी वे मातृभाषायें हैं।

1916 में बंगाल के मुसलमानों ने शिक्षा-सम्बन्धी एक कांफ्रेंस की थी। मौलवी अब्दुल करीम उसके सभापति थे। अपने अध्यक्षीय भाषण में मौलवी करीम ने कहा—"मैं समझता हूं कि बंगाल में मुसलमान लोग जो शिक्षा में बहुत पिछड़े हुए हैं, उसका एक कारण यह भी है कि उनमें से अधिकांश उर्दू को ही अपनी भाषा समझते हैं और उसी के द्वारा अपने बच्चों को शिक्षा दिलाते हैं। एक समय था जब मेरी भी यही समझ थी—मैं भी यही कहता था कि बंगाल में मुसलमान लड़कों की आरम्भिक शिक्षा उर्दू ही के द्वारा होनी चाहिए। परन्तु अच्छी तरह विचार करने पर मुझे उर्दू के द्वारा शिक्षा-प्राप्ति हानिकारिणी और भ्रममूलक मालूम हुई इसलिए मैंने अपनी पूर्व-सम्मति बदल दी। बंगाल के अधिकांश मुसलमानों की मातृभाषा उर्दू नहीं, बंगला है। कलकत्ता, ढाका और मुर्शिदाबाद आदि दो-चार बड़े-बड़े शहरों के ही मुसलमान यह कह सकते हैं कि उनकी मातृभाषा उर्दू है; और कहीं के मुसलमान यह नहीं कह सकते। उनके लिए तो उर्दू विदेशी भाषा हो रही है। मेरा तजुरबा तो यह है कि जहां उर्दू और बंगला दोनों भाषाओं के सिखाने का प्रबन्ध है वहां भी मुसलमान लड़के बहुत करके बंगला ही में शिक्षा ग्रहण करना पसन्द करते हैं।"[16]

मौलवी करीम के इस विचार से कोई भी समझदार आदमी असहमत नहीं हो सकता। हिन्दुस्तान में मुस्लिम आबादी जहां-जहां है, बड़े शहरों को छोड़कर सब कहीं मुसलमान उसी तरह वहां की स्थानीय बोलियों का व्यवहार करते हैं, जैसे हिन्दू। भाषा के नज़रीये से उनमें कोई भेद नहीं होता। बंगाल के मुसलमान बंगला बोलते हैं, बिहार के बिहारी बोलियां, अवध के देहातों के अवधी, पूर्वी उत्तर प्रदेश के भोजपुरी, महाराष्ट्र के मराठी, गुजरात के गुजराती, केरल के मलयालम और आंध्र के तेलुगु तथा उर्दू। यही स्थिति एक ज़माने से चलती चली आ रही है। और यही नहीं कि वे उन बोलियों और भाषाओं को बोलते भर हैं, या सिर्फ हिन्दुओं से बातचीत में उन्हें अपनाते हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि वे अपने घरों में भी उन्हीं भाषाओं को अपनाये हुए हैं। यह भी कि उनका अपनी इन भाषाओं से दिली लगाव है। पाकिस्तान से ईस्ट पाकिस्तान का अलग होकर बांग्ला देश में बदलने के पीछे जो सबसे बड़ा मुद्दा था वह यही भाषा थी। उन्होंने अपने ऊपर उर्दू का थोपा जाना पसन्द नहीं किया।

दूसरी बात यह है कि उर्दू को मुस्लिम क़ौम की भाषा बताने वाले मुस्लिम राजनीति के खिलाड़ी थे जो इस राजनीति का खेल कोई सवा सौ वर्षों से खेलते

के लार्ड बिशप थे, के विचारों का एक नमूना देखिये। ये विचार उन्होंने 1914 में व्यक्त किये थे। वे कहते हैं—"अंग्रेज़ी भाषा में शिक्षा देने से अनेक हानियां हैं। अंग्रेज़ी से विद्यार्थियों के दिमाग़ पर बेजा बोझ पड़ता है। उससे अधिकांश विद्यार्थियों की वह शक्ति जिसकी प्रेरणा से नये-नये विचार सूझ पड़ते हैं, बिलकुल ही मारी जाती है। स्वतंत्र विचारों का बीज ही उनके हृदय में नष्ट हो जाता है। फिर, जो कुछ वे अंग्रेज़ी के द्वारा सीखते हैं उसे अच्छी तरह समझ ही नहीं सकते। स्कूलों के अध्यापक स्वयं ही अंग्रेज़ी में पारंगत नहीं होते। इस कारण विद्यार्थियों की शिक्षा में बाधा पड़ती है। अंग्रेज़ी में शिक्षा प्राप्त करने से अंग्रेज़ी जानने वाले लोगों का दल अंग्रेज़ी न जानने वालों से पृथक् होता जाता है। दोनों दलों में सहानुभूति और एकजीवता कम होती जाती है। जातीयता को इससे बड़ा धक्का पहुंचता है। अंग्रेज़ी के कारण ही देशी भाषाओं की उन्नति नहीं होती।

"शिकायत इस बात की है कि देशी भाषाओं की शिक्षा दी कैसे जाय, आवश्यक पुस्तकें तो हैं ही नहीं, विज्ञान के पारिभाषिक शब्द भी नहीं हैं। भाषायें भी कोड़ियों हैं। किस-किस में शिक्षा दी जाय? इन सब एतराज़ों में कुछ भी सार नहीं। आप यहां की भाषाओं में शिक्षा देना आरम्भ कीजिये, छ: ही महीने में पाठ्य-पुस्तकों के ढेर लग जायेंगे। बाइबल का तर्जुमा भारत की सभी भाषाओं में हो गया है। उसके लिए पारिभाषिक शब्द कहां से आये? भाषायें अनेक अवश्य हैं, पर कुछ अधिक खर्च से यह कठिनता भी दूर हो सकती है। कितनी ही भाषाएं परस्पर बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। तब तक प्रधान भाषाओं के द्वारा ही शिक्षादान का काम आरम्भ कीजिए। जिस लड़के की भाषा तामील है वह अंग्रेज़ी की अपेक्षा तेलुगु भाषा में अधिक सरलता से शिक्षा प्राप्त कर सकता है। हां, राजनैतिक दृष्टि से अंग्रेज़ी पढ़ने की आवश्यकता पर बहुत कुछ कहा जा सकता है। पर हम यह कहां कहते हैं कि अंग्रेज़ी की पढ़ाई बन्द कर दी जाय। नहीं, अंग्रेज़ी खूब पढ़ाई जाय। पर उसकी शिक्षा भाषा की हैसियत से दी जाय। मातृभाषा की प्रधानता रहे, अंग्रेज़ी की गौणता।"[14]

1916 की 'सरस्वती'[15] में दिया गया है कि "वर्तमान काल में मिडिल स्कूल से लेकर ऊपर की सभी क्लासों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी है। अधिक प्रान्तों में मिडिल स्कूल के तीसरे दरज़े तक गणित, विज्ञान, इतिहास और भूगोल की शिक्षा का माध्यम प्रान्तिक भाषायें हैं। उसके ऊपर सम्पूर्ण शिक्षा अंग्रेज़ी भाषा में दी जाती है।"

यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि बिशप हेनरी ह्वाइटहेड और उन-जैसे विचारकों की कोई सुनवाई न तो अंग्रेज़ी शासन में थी और न आज तैंतालीस वर्ष के स्वतन्त्र राष्ट्र में ही है। आज भी इस देश की शिक्षा का माध्यम कुल-

मिलाकर अंग्रेज़ी ही है, और आज भी हमारी मातृभाषाएं उसी तरह उपेक्षित हैं। बल्कि आज उनकी दुहरी उपेक्षा है—एक इस स्वतन्त्र कहे जाने वाले राष्ट्र के द्वारा और दूसरे उनके द्वारा जिनकी वे मातृभाषायें हैं।

1916 में बंगाल के मुसलमानों ने शिक्षा-सम्बन्धी एक कांफ्रेंस की थी। मौलवी अब्दुल करीम उसके सभापति थे। अपने अध्यक्षीय भाषण में मौलवी करीम ने कहा—"मैं समझता हूं कि बंगाल में मुसलमान लोग जो शिक्षा में बहुत पिछड़े हुए हैं, उसका एक कारण यह भी है कि उनमें से अधिकांश उर्दू को ही अपनी भाषा समझते हैं और उसी के द्वारा अपने बच्चों को शिक्षा दिलाते हैं। एक समय था जब मेरी भी यही समझ थी—मैं भी यही कहता था कि बंगाल में मुसलमान लड़कों की आरम्भिक शिक्षा उर्दू ही के द्वारा होनी चाहिए। परन्तु अच्छी तरह विचार करने पर मुझे उर्दू के द्वारा शिक्षा-प्राप्ति हानिकारिणी और भ्रममूलक मालूम हुई इसलिए मैंने अपनी पूर्व-सम्मति बदल दी। बंगाल के अधिकांश मुसलमानों की मातृभाषा उर्दू नहीं, बंगला है। कलकत्ता, ढाका और मुर्शिदाबाद आदि दो-चार बड़े-बड़े शहरों के ही मुसलमान यह कह सकते हैं कि उनकी मातृभाषा उर्दू है; और कहीं के मुसलमान यह नहीं कह सकते। उनके लिए तो उर्दू विदेशी भाषा हो रही है। मेरा तजुरबा तो यह है कि जहां उर्दू और बंगला दोनों भाषाओं के सिखाने का प्रबन्ध है वहां भी मुसलमान लड़के बहुत करके बंगला ही में शिक्षा ग्रहण करना पसन्द करते हैं।"[16]

मौलवी करीम के इस विचार से कोई भी समझदार आदमी असहमत नहीं हो सकता। हिन्दुस्तान में मुस्लिम आबादी जहां-जहां है, बड़े शहरों को छोड़कर सब कहीं मुसलमान उसी तरह वहां की स्थानीय बोलियों का व्यवहार करते हैं, जैसे हिन्दू। भाषा के नज़रीये से उनमें कोई भेद नहीं होता। बंगाल के मुसलमान बंगला बोलते हैं, बिहार के बिहारी बोलियां, अवध के देहातों के अवधी, पूर्वी उत्तर प्रदेश के भोजपुरी, महाराष्ट्र के मराठी, गुजरात के गुजराती, केरल के मलयालम और आंध्र के तेलुगु तथा उर्दू। यही स्थिति एक ज़माने से चलती चली आ रही है। और यही नहीं कि वे उन बोलियों और भाषाओं को बोलते भर हैं, या सिर्फ हिन्दुओं से बातचीत में उन्हें अपनाते हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि वे अपने घरों में भी उन्हीं भाषाओं को अपनाये हुए हैं। यह भी कि उनका अपनी इन भाषाओं से दिली लगाव है। पाकिस्तान से ईस्ट पाकिस्तान का अलग होकर बांग्ला देश में बदलने के पीछे जो सबसे बड़ा मुद्दा था वह यही भाषा थी। उन्होंने अपने ऊपर उर्दू का थोपा जाना पसन्द नहीं किया।

दूसरी बात यह है कि उर्दू को मुस्लिम क़ौम की भाषा बताने वाले मुस्लिम राजनीति के खिलाड़ी थे जो इस राजनीति का खेल कोई सवा सौ वर्षों से खेलते

चलते चले आ रहे हैं। आज भी यह खेल खेला जा रहा है। साथ ही यहां पर यह कहना भी उचित होगा कि इन्हीं सवा सौ वर्षों से हिन्दुओं की भी एक जमात हिन्दी को हिन्दू क़ौम की ज़बान साबित करने में लगी हुई है। बस फ़र्क़ यह है कि किसी भी चीज़ को हिन्दुत्व की निशानी बताना ज़रा कठिन है, क्योंकि बहुत से मत-मतान्तर हैं जो एक-दूसरे की काट करते हैं, और हिन्दुत्व में बहुत कुछ हज़म कर लेने की शक्ति है। एक खेमे के लोग जो कुछ थोपने की कोशिश करते हैं, दूसरे खेमे के द्वारा उसका बहिष्कार हो जाता है। इस तरह साथ-साथ बहुत-सी अन्तर्विरोधी बातें और प्रचार चलते रहते हैं।

पर इस्लाम के साथ इसमें थोड़ी कठिनाई है। एक तो मुसलमान यहां अल्पमत में हैं और अल्पमत के मनोविज्ञान के कारण वे एक-दूसरे से क़ौम के स्तर पर अधिक जुड़े हुए हैं। नेताओं द्वारा ख़तरे का ऐलान होते ही उनमें शीघ्र और अपेक्षाकृत अधिक तीव्र प्रतिक्रिया होती है। चतुर नेता हर बात को क़ौम के परिप्रेक्ष्य में रखता है। शुरू से ही उर्दू के साथ भी उसने क़ौमी नारा बुलन्द किया हुआ है। वरना सीधा और सरल तथ्य यह है कि सरकारी काम-काज की भाषा फ़ारसी की लिपि को अपना लेने के कारण मुसलमानों का स्वाभाविक झुकाव उसके प्रति हो गया था। वैसे बात सिर्फ इतनी ही नहीं है। इससे संबंधित सभी पहलुओं पर उचित स्थान पर विचार हुआ है, यहां मैं सिर्फ़ यह कहना चाहता था कि उर्दू मुसलमानों का क़ौमी निशान नहीं है। वैसे भी मुस्लिम मुल्क़ों में उर्दू सिर्फ़ पाकिस्तान में बोली जाती है, वहां भी पूरी मुस्लिम आबादी का एक बहुत छोटा हिस्सा इसे बोलता है। इससे कहीं अधिक तो पंजाबी, सिंधी और पश्तो बोलने वाले लोग वहां हैं। दूसरा देश हिन्दुस्तान है, जहां यह लखनऊ, अलीगढ़, मेरठ, बुलन्दशहर, मुरादाबाद जैसे कुछ शहरों के मुसलमानों द्वारा बोली जाती है। इसलिए मुस्लिम क़ौम की क़ौमी पहचान के तौर पर इसे हम नहीं ले सकते। पर ऐसा कहने से मेरा आशय इसके महत्त्व को कम करके देखने का नहीं है। उर्दू जबान की खुसूसियतें बेमिसाल हैं। ग़ालिब और मीर के मुक़ाबले के साहित्यकार दुनिया-भर के अदीबों में से ढूंढ़ने पर भी मुश्किल से मिलेंगे। ये सारी चीज़ें हैं, पर यहां पर चर्चा का विषय ज़बान से जुड़ी राजनीति है।

सितम्बर 1930 में प्रेमचन्द ने 'ज़माना' में 'उर्दू में फिरऔनियत'* शीर्षक से एक लेख लिखा। लेख में हिन्दुस्तानी ऐकेडमी का ज़िक्र करते हुए कहा गया है कि "हिन्दुस्तानी ऐकेडमी का जन्म उर्दू-हिन्दी दोनों भाषाओं को सशक्त और

* मिश्र के बादशाह 'फिरौन' से जिसने घमंड के मारे खुदाई का दावा किया था और जिसे हज़रत मूसा के शाप ने समाप्त किया।

उन्नत करने के लिए हुआ और दोनों ही भाषाओं के कुछ विशिष्ट लोग उसके सदस्य बनाये गये। हिन्दी के विभाग में किसी मुसलमान लेखक को नामज़द नहीं किया गया क्योंकि इस सूबे में हिन्दी का कोई मुसलमान लेखक नहीं है। उर्दू विभाग में दो-एक हिन्दू भी नामज़द कर दिये गए, इसलिए कि हज़रत नियाज़ चाहे उनके अस्तित्व से इनकार करें पर उर्दू में हिन्दुओं की एक अच्छी-ख़ासी संख्या है। ऐकेडमी चूंकि एक साहित्यिक संस्था है जहां उसने तत्त्व-चिन्तन, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति की ओर ध्यान दिया वहां साहित्य की भी उपेक्षा नहीं की और अंग्रेज़ी के एक प्रसिद्ध नाटककार के कुछ नाटकों को दोनों भाषाओं में प्रकाशित करने का निश्चय किया। हिन्दी अनुवाद मुझको सौंपा गया, उर्दू अनुवाद मुंशी दया नरायन साहब निगम एडिटर 'ज़माना' और मुंशी जगतमोहन लाल साहब 'खां' को। हज़रत नियाज उस वक़्त ऐकेडमी के मेम्बर थे। मगर तब उन्होंने इन प्रस्तावों के विरोध में ज़बान खोलना किसी वजह से ठीक नहीं समझा। अब आपको यह आपत्ति है कि अंग्रेज़ी नाटकों का अनुवाद क्यों किया गया और क्या इसके लिए मुसलमान लेखक न मिल सकते थे।

"आपके ख़याल में कोई हिन्दू उर्दू लिख ही नहीं सकता चाहे वह सारी उम्र इसकी साधना करता रहे और मुसलमान जन्म से ही उर्दू लिखना जानता है यानी उर्दू लिखने की योग्यता वह मां के पेट से लेकर आता है। यह दावा इतना ग़लत, पोच, लचर और बेवकूफी से भरा हुआ है कि इसके जवाब की ज़रूरत नहीं। मैं तो इतना ही कह सकता हूं कि जिस ज़बान के साहित्यकार इतने तंग-नज़र अपने घमंड में फूले हुए हों उसका खुदा ही मालिक है। मुसलमानों पर यह आम ऐतराज है कि उन्होंने हिन्दू शायरों और लिखने वालों का कभी सम्मान नहीं किया। यहां तक कि नसीम और सरशार भी उर्दू के बड़े लिखने वालों के दायरे से बाहर कर दिये गये मगर ऐसी ढिठाई की हिम्मत आज तक किसी ने न की थी। उसका सेहरा मिस्टर नियाज के सर है। मैं यह मानने के लिए तैयार हूं कि उर्दू ज़बान पर निसबतन मुसलमानों के एहसान ज़्यादा हैं लेकिन यह नहीं मान सकता कि हिन्दुओं ने उर्दू के लिए कुछ किया ही नहीं। आज करोड़ों हिन्दू उर्दू पढ़ते हैं, लाखों लिखते हैं, हज़ारों इसी ज़बान में साहित्य-रचना करते हैं चाहे कविता में, चाहे गद्य में, और उर्दू की हस्ती हिन्दुओं के सहयोग से क़ायम है।

"पंजाब के मुसलमान पंजाबी लिखते और बोलते हैं, बंगाल के मुसलमान बंगाली, सिन्ध के सिन्धी, गुजरात के गुजराती, मद्रास के तमिल। उर्दू बोलने वाले हिन्दू या मुसलमान ज़्यादातर इस सूबे में हैं। कुछ पंजाब और हैदराबाद में। अगर इस बात की छानबीन का कोई सही तरीका हो कि कितने हिन्दू उर्दू बोलते हैं और कितने मुसलमान तो मेरे ख़याल में दोनों की तादाद में बहुत

ज्यादा फ़र्क न नज़र आयेगा। यह दूसरी बात है कि हज़रत नियाज़ हिन्दुओं की उर्दू को उर्दू ही न कहें। इसी तरह हिन्दू भी मुसलमानों की उर्दू को उर्दू न समझें तो उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता। अगर मुसलमान उर्दू में अरबी और फ़ारसी लफ्ज ठूंस-ठूंसकर उसे इस्लामी रंग देना चाहता है तो हिन्दू भी उसमें हिन्दी और भाषा के शब्द दाखिल करके उसे हिन्दू रंग देने का इच्छुक हो सकता है। उर्दू न मुसलमान की बपौती है, न हिन्दू की। उसके लिखने और पढ़ने का हक़ दोनों को हासिल है। हिन्दुओं का उस पर हक़ पहला है, क्योंकि वह हिन्दी की एक शाखा है, हिन्दी पानी और मिट्टी से उसकी रचना हुई है, और सिर्फ़ कुछ थोड़े से अरबी और फ़ारसी शब्दों के दाखिल कर देने से उसकी असलियत नहीं बदल सकती, उसी तरह जैसे पहनावा बदलने से राष्ट्रीयता या जाति नहीं बदल सकती। हज़रत नियाज़ चाहे जितनी ही आंखें लाल-पीली करें मगर हिन्दू उर्दू पर अपने हक़ से अपना हाथ नहीं खींच सकता और न यह उसे अपने ढंग पर लिखने ही से बाज़ आ सकता है, उसी तरह जैसे मुसलमान उसे अपने ढंग पर लिखने से बाज़ नहीं आते। हिन्दू उर्दू का ख़ून कर रहे हैं, उसी तरह हिन्दू भी कह सकता है मुसलमान उर्दू के गले पर कुन्द छुरी फेर रहे हैं।"

1930 में लिखे प्रेमचंद के लेख के इस अंश से यह अन्दाज़ा लगाना कठिन नहीं होना चाहिए कि उर्दू का साम्प्रदायीकरण किस हद तक हो चुका था।

पं० पद्मसिंह शर्मा ने मार्च 1932 में इलाहाबाद की हिन्दुस्तानी ऐकेडमी में 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दोस्तानी' पर भाषण दिये थे, जिन्हें ऐकेडमी ने पुस्तक रूप में प्रकाशित किया था। पद्मसिंह शर्मा ने अपने भाषण में कहा है कि "हमारी भाषा का पुराना नाम हिन्दी था और अमीर खुसरो के वक़्त तक उर्दू का प्रयोग ही न हुआ था। अमीर खुसरो ने 'खालक बारी' में बार-बार 'हिन्दी या हिन्दवी' शब्द का प्रयोग किया है। कवि मीर के ज़माने में 'रेख़ता' शब्द का व्यवहार शुरू हुआ। 'उर्दू' शब्द का व्यवहार अठारहवीं सदी से पहले कहीं नहीं पाया जाता। शायद इसका कारण यह है कि उस वक़्त हिन्दी में फ़ारसी और अरबी के शब्द इतनी कसरत से न आये थे। अब फ़ारसी और अरबी शब्दों की खूब भरमार हो गयी तो हिन्दी के दो भिन्न-भिन्न रूप हो गये और अब तक वही नाम चला आता है। हिन्दुस्तानी शब्द का व्यवहार अंग्रेज़ी राजकाल में शुरू हुआ है और अब वह उस मिली-जुली भाषा का पर्याय है जो जन साधारण की भाषा है और जिसमें फ़ारसी-अरबी के वे सभी शब्द धड़ल्ले से प्रयुक्त होते जाते हैं, जो आमतौर पर बोले जाते हैं। उसका सबसे नया नाम राष्ट्र-भाषा हो गया है।"

पद्मसिंह शर्मा ने आगे मौलवी अब्दुल हक़ का एक उद्धरण दिया है।

मौलवी हक का कहना है कि "हमारे यहां अब तक जो पुस्तकें व्याकरण की प्रचलित हैं, उनमें अरबी व्याकरण का अनुसरण किया गया है। उर्दू ख़ालिस हिन्दी ज़बान है और इसका सम्बन्ध सीधा आर्य भाषाओं से है। इसके विरुद्ध अरबी भाषा का ताल्लुक सेमिटिक भाषाओं के परिवार से है, इसलिए उर्दू का व्याकरण लिखने में अरबी ज़बान का अनुकरण किसी तरह जायज नहीं। दोनों ज़बानों की विशेषताएं पृथक्-पृथक् हैं, जो विचारने से स्पष्ट प्रतीत हो जायेंगी।"

यहीं पर एक और मुसलमान विद्वान का उद्धरण दिया गया है, जिसमें कहा गया है कि "उर्दू ज़बान की बुनियाद जैसा कि मालूम है, हिन्दी भाषा पर रखी गयी है। उसके क्रियापद, कारक-चिह्न और संज्ञा-पद हिन्दी से लिये गये हैं··· पर, उर्दू ज़बान का शायर जो हिन्दी भाषा के मुतलक नहीं जानता और महज अरबी-फ़ारसी की गाड़ी चलाता है, वह मानो अपनी गाड़ी को बेपहियों के, ठिकाने तक पहुंचाना चाहता है।"

1961 की जनगणना (ज़िल्द 1, भाग 11) के मुताबिक पाकिस्तान की भाषाई स्थिति और कुल आबादी का भाषावार प्रतिशत इस तरह था—

	बंगला	पंजाबी	उर्दू	पश्तो	सिन्धी	अंग्रेज़ी	बलूची
पूर्वी पाकिस्तान	98.42	0.02	0.61	0.01	0.01	0.01	—
पश्चिमी पाकिस्तान	0.11	66.39	7.57	8.47	12.59	0.04	2.4
पाकिस्तान	55.48	29.02	3.65	3.70	5.51	0.02	1.0

पाकिस्तान में कुल मिलाकर 32 विभिन्न भाषायें बोली जा रही थीं, लेकिन इनमें से कोई भी ऐसी भाषा नहीं थी, जो कि देश के सभी हिस्सों में बोली जा रही हो। बंगला और पंजाबी भाषायें ऐसी थीं जिन्हें कुल आबादी के अस्सी प्रतिशत से ज़्यादा लोग बोलते थे। दूसरी बात यह है कि पश्चिमी पाकिस्तान में पंजाबी बोलने वालों की तादाद 66 प्रतिशत से अधिक है, लेकिन साथ ही सिन्धी, पश्तो और उर्दू बोलने वालों की तादाद भी काफ़ी है, अर्थात् पश्चिमी पाकिस्तान में बहुभाषिकता की स्थिति है, जब कि पूर्वी पाकिस्तान में बंगला बोलने वालों की तादाद 98 प्रतिशत से भी अधिक है, और दूसरी भाषाओं की स्थिति नगण्य है। अर्थात् वहां पूरी तौर पर एकभाषिकता की स्थिति है। इसीलिए 1952 में जब पश्चिमी पाकिस्तानियों के दबाव में पाकिस्तान सरकार ने उर्दू को राष्ट्र-भाषा घोषित किया और पूर्वी पाकिस्तान पर उसे थोपना चाहा तो पूर्वी पाकिस्तान के पूरे इलाक़े में बड़े पैमाने पर दंगे

हुए । जिन्ना की मृत्यु (सितम्बर, 1948) के बाद उनके उत्तराधिकारी गवर्नर-जनरल ख़्वाजा नाज़िमुद्दीन भाषाई दंगों पर काबू नहीं पा सके ।

इससे यह हुआ कि उर्दू जिसे मुस्लिम-लीग के फ़िरक़ापरस्त तत्त्व, यह कह कर कि उर्दू सभी मुसलमानों को एकता में बांधने का सूत्र है, एक हथियार के तौर पर इस्तेमाल कर रहे थे, वह मिथक टूट गया । और तो और, पश्चिमी पाकिस्तान में भी इसकी स्थिति कुछ बहुत अच्छी नहीं थी । 1961 की जनगणना के मुताबिक पश्चिमी पाकिस्तान में इसके बोलने वालों की तादाद सिर्फ़ 7.57 प्रतिशत थी और समूचे पाकिस्तान में 3.65 प्रतिशत, जो कि बंगला, पंजाबी, सिंधी और पश्तो के बाद पांचवें स्थान की भाषा थी ।

जहां तक इन भाषाओं में साहित्य-रचना का सवाल है, बंगला का साहित्य उस वक़्त भी बहुत समृद्ध था । 1913 में टैगोर को नोबेल पुरस्कार मिल चुका था । समृद्धि को देखते हुए ये भाषायें उससे पीछे थीं । पंजाबी, सिन्धी और पश्तो के साहित्यों की उर्दू के साहित्य से तुलना करने में, एक को दूसरे से उच्च सिद्ध करने में अगर हम कठिनाई भी अनुभव करें तो भी इस बात में कोई विवाद नहीं हो सकता कि पंजाबी और सिन्धी और पश्तो बोलने वाले मुसलमान उसी भावुकता और गहराई से उनसे जुड़े हुए थे जिस भावुकता और गहराई से पंजाबी और सिन्धी हिन्दू इन भाषाओं से जुड़े हुए थे । पश्तो-भाषियों की कुल आबादी का अधिकांश मुसलमान थे और उनके लिए पश्तो की तुलना में किसी दूसरी भाषा को तरजीह देना मुमकिन नहीं था । कुल मिलाकर स्थिति यह थी कि पश्चिमी पाकिस्तान में उर्दू एक दूसरी भाषा के तौर पर बोली जा रही थी, और मुसलमानों का इससे भावनात्मक सम्बन्ध धर्म की खातिर था, इसी से जुड़ा हुआ दूसरा सम्बन्ध राजनीति के कारण था और इससे भी बड़ा सम्बन्ध आर्थिक था । सरकारी काम-काज से फ़ारसी की विदाई के बाद उर्दू को स्वाभाविक रूप से लिपि के कारण फ़ारसी का उत्तराधिकार मिला । इससे कचहरियों और सरकारी दफ़्तरों की नौकरियां और दूसरे काम-काज जुड़े हुए थे । उर्दू उनके लिए रोज़ी-रोटी का आधार बनी । अब यदि उर्दू के साथ कचहरियों तथा दूसरे सरकारी काम-काज की भाषा का दरजा देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी 'हिन्दुस्तानी' को भी मिलता है तो ज़ाहिर है कि एक बड़ी मुस्लिम आबादी का आर्थिक आधार खंडित होता दिखाई देता है । और यहीं पर राजनीति करने वाले लोग अवतरित होते हैं, जिनमें से कुछ तो क़ौम के वास्तविक ख़िदमतगार हैं, जो क़ौम के एक आर्थिक आधार को खंडित होने से बचाना चाहते हैं पर ज़्यादातर वे लोग कूद पड़ते हैं, जिनका उद्देश्य फ़क़त राजनीति करना है और नेतागिरी का एक अच्छा मौक़ा हाथ आते देख मैदान में उतरते हैं । इन्हीं नेताओं ने उर्दू को इस्लाम के साथ जोड़ा । ऐसा करने में

उन्हें फ़ायदा यह था कि इससे सिन्धी, पंजाबी, बलूची से लेकर बंगाली तक सभी मुसलमानों को एक छत्र के नीचे लाया जा सकता था, और दूसरे यह कि ब्रिटिश हुकूमत का ध्यान इससे सहज ही खींचा जा सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि जो लड़ाई अर्थ (इकॉनामिक) के मैदान में लड़ी जानी चाहिए थी वह धर्म के मैदान में लड़ी गई। कट्टरपंथी हिन्दुओं की ओर से भी धार्मिक भावनाओं को भड़का कर इसी तरह हिन्दी को हिन्दू धर्म से जोड़ा गया और हिन्दी हिन्दुत्व से तथा उर्दू इस्लाम से जुड़ती चली गयीं।

श्री श्रीप्रकाश ने एक जगह[17] लिखा है —"यदि हमसे यह पूछा जाय कि प्रचलित शिक्षा प्रणाली (अर्थात् अंग्रेज़ी द्वारा शिक्षा देने की प्रणाली) में तुम क्यों परिवर्तन करना चाहते हो तो हम यह कहेंगे कि हम देख रहे हैं कि अंग्रेज़ी भाषा के द्वारा जिन्होंने शिक्षा ग्रहण की है उनकी एक नूतन और पृथक् जाति-सी बन रही है। उनको देश के आचार-विचार से बहुत ही कम सहानुभूति है।... जिन घरों में पुरुष अंग्रेज़ीदां हैं और स्त्रियां नहीं हैं वहां प्रायः अशान्ति का दौर-दौरा देख पड़ता है।"

श्री श्रीप्रकाश के इस कथन से दो बातें प्रकट होती हैं—पहली कि अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों की एक पृथक् जाति बन रही थी। देश के रंग-ढंग से अलग छिटका हुआ यह वर्ग चूंकि शासक की ज़बान को बोलता था, इसलिए मानसिक रूप से वह अपने को शासक के अधिक निकट पाता था। शासक भी अपने प्रति उसकी स्वामिभक्ति में अधिक विश्वास रखता था। धीरे-धीरे यही वर्ग भारतीयों में इलीट वर्ग बनता है। दूसरी बात जिसकी ओर श्री श्रीप्रकाश इशारा कर रहे हैं वह है परिवारों में समरसता के ह्रास की। पति अंग्रेज़ीदां है, पत्नी को गीता के अनुवाद और रामचरितमानस का पाठ कर लेने तक की शिक्षा मिली हुई है। अर्थात् विचारों के स्तर पर दोनों दो अलग किनारों पर खड़े हैं। उनके बीच सामरस्य क़ायम करने वाली तरलता सूख जाती है। कोई डायलॉग नहीं रह पाता। अंग्रेज़ी भाषा और उसके कन्धे पर सवार होकर आयी अंग्रेज़ी सभ्यता का भारतीय परिवारों के लिए यह तोहफ़ा था। यह पारिवारिक और फिर सामाजिक विसंगति जो आज पूरी तरह से जड़ जमाये हुए है, इसकी शुरूआत भी अंग्रेज़ी शिक्षा के ग्रहण और भारतीय भाषाओं की अवमानना से होती है।

10 अक्टूबर 1916 को झांसी में संयुक्त प्रान्त का एक प्रान्तीय सम्मेलन हुआ। उस सम्मेलन में शिक्षा से सम्बन्धित भी एक प्रस्ताव पास हुआ, जिसके अनुसार मैट्रिकुलेशन तक की शिक्षा देशी भाषाओं में देने की सिफारिश की गई थी, साथ में यह भी कहा गया था कि अंग्रेज़ी भाषा की पढ़ाई हो, पर भाषा के नाते ही उसे पढ़ाया जाय। इस प्रस्ताव को पारित कराने में पंडित मदनमोहन मालवीय और राय आनन्दस्वरूप बहादुर का काफ़ी योगदान रहा। पर जैसा

कि हुआ करता था, प्रान्त की सरकार ने इस पर कोई ध्यान देना ज़रूरी नहीं समझा। और स्कूल स्तर पर भी शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी बनी रही।

सन् 1900 के आस-पास से राष्ट्र-भाषा की ज़रूरत को लेकर सभाओं आदि में विचार-विमर्श होने लगा था। उसी समय यह बात भी स्पष्ट हो चली थी कि राष्ट्रभाषा का दर्ज़ा हासिल करने की योग्यता और क्षमता केवल हिन्दी में है, हालांकि अंग्रेज़ी हिन्दी को धकिया कर ज़बरन राष्ट्रभाषा बनी हुई थी। कुछ समर्थ और विचारवान भारतीयों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन कराने के लिए बहुत कुछ किया था। बड़ौदा के महाराजा ने अपने यहां के कागज-पत्रों के लिए गुजराती के स्थान पर नागरी लिपि को लागू करने के आदेश दिए थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर जहां सम्भव हो सकता था, वहां हिन्दी में बोलने तथा पत्र-व्यवहार करने को अच्छा मानते थे। राजनीतिज्ञों में से बहुत से लोग हिन्दी के प्रबल समर्थक थे।

कामताप्रसाद गुरु[18] ने 1916 में हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के लिए 'शाब्दिक प्रयत्न' के बदले 'व्यावहारिक प्रयत्न' करने की सलाह दी थी। कौन-कौन से व्यावहारिक प्रयत्न इस दिशा में होने चाहिए, इसे उन्होंने बताया था।

गुरु ने पहला उपाय यह बताया कि "हमारे अगुआ लोग अपने अंग्रेज़ी विचारों को राष्ट्र-भाषा में सोचकर हिन्दी में प्रकट करें।" दूसरा "हिन्दी के समाचार-पत्रों को पढ़ने की आदत बनानी चाहिए।" तीसरा उपाय उन्होंने बताया कि "उन्हें (सुधारकों को) स्वयं अंग्रेज़ों से सीखना चाहिए, जो दूसरे देशों की बातें अपनी भाषा में लिखते हैं, और हमारे सुधारक लोग अपने ही देश की बातें विदेशी भाषा में लिखकर गौरव प्राप्त करने की इच्छा करते हैं।" चौथा उपाय उन्होंने यह बताया कि जो लोग भारत के हित के बारे में सोचते हैं वे "अपना मत प्रजा के हितार्थ हिन्दी-समाचार-पत्रों में और हिन्दी भाषा में प्रकाशित करने का प्रण करें।" पांचवां उपाय यह है कि दूसरी भारतीय भाषाओं के बोलने वाले लोग "अपनी मातृ-भाषा के उपयोगी लेखों और ग्रंथों का अनुवाद हिन्दी में करने की कृपा करें।" छठा उपाय यह हो सकता है कि "लोकहित सम्बन्धी जितनी रिपोर्टें और प्रार्थनायें हैं वे भारत सरकार तथा प्रजा के पास हिन्दी में छापकर भेजी जायें।"

"सातवां उपाय धर्म संस्थाओं का कर्तव्य है। इस विषय में आर्यसमाज अपना कर्तव्य पालन कर रहा है और यथार्थ में हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के लिए जो उद्योग उसने अकेले किया है वह और कई संस्थाओं ने मिलकर भी नहीं किया। इसका अनुकरण (मतभेद रहने पर भी) सनातन धर्म-सभायें करने लगें तो कार्य-सिद्धि में बड़ी सहायता हो।...."

"आठवां उपाय देश के बड़े-बड़े व्यापारी कर सकते हैं, जिनका व्यापार सम्पूर्ण भारतवर्ष में है। हिन्दी में पत्र-व्यवहार करने और हिसाब रखने से स्वयं इन लोगों को सुभीता है और इनके ग्राहकों को भी है, जिनमें हिन्दी जानने वाले अथवा समझने वाले लोगों की संख्या अधिक है। अपने सूचीपत्र आदि हिन्दी में प्रकाशित कराकर ये लोग राष्ट्र-भाषा की सहायता कर सकते हैं और साथ ही अपना आर्थिक लाभ भी सम्पादित कर सकते हैं।

यह एक दुखद सत्य है कि हिन्दी के सबसे बड़े व्याकरणाचार्य और भाषा-चिन्तक कामताप्रसाद गुरु ने 1916 में हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के लिए जिन व्यावहारिक उपायों का सुझाव दिया था उसे व्यवहार में न के बराबर ही उतारा गया। अंग्रेज़ों की भाषा-नीति कुछ इस तरह की थी कि अंग्रेज़ी को शीर्ष पर बिठाये बग़ैर कोई चारा ही नहीं था। आख़िर अंग्रेज़ी शासन-तंत्र और हुकूमत की भाषा थी। शासन-तंत्र ने बड़ी खूबी से हिन्दी बनाम अंग्रेज़ी के मसले को हिन्दी बनाम उर्दू में बदल दिया था और हिन्दी-उर्दू के झगड़े को खड़ा करके अंग्रेज़ों ने एक साथ कई शिकार किये थे। हिन्दी-उर्दू के झगड़े का मतलब यह था कि अंग्रेज़ी बिना किसी रुकावट के सरकारी काम-काज की भाषा बन सकती थी, क्योंकि हिन्दी ही अंग्रेज़ी के रास्ते की सबसे बड़ी रुकावट थी। हिन्दी-उर्दू झगड़े का दूसरा मतलब यह था कि हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को बढ़ावा मिल रहा था, जिसकी विशेष कोशिश 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम की विफलता के बाद से ही हो रही थी, जो अब पूरी तौर पर एक स्थापित सत्य है। 1857 में हिन्दू-मुस्लिम एकता में कोई दरार नहीं थी। दोनों क़ौमों ने कंधे से कंधा मिला कर आज़ादी की इस पहली लड़ाई का बिगुल बजाया था, जो अंग्रेज़ों के लिए सबसे अधिक खटकने वाली एक ख़तरनाक बात थी। अंग्रेज़ों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता को तोड़ने के लिए तभी कमर कसी थी और अपने पूरे शासन-काल में अंग्रेज़ी सत्ता इसी नीति को प्राथमिकता दिये हुए थी।

1857 में तो अंग्रेज़ों ने मुसलमानों को हिन्दुओं के ख़िलाफ भड़काने के लिए इश्तहार तक दिये थे। ऐसा ही एक इश्तहार 5 जुलाई 1857 को देहली उर्दू अखबार में छपा था, जिसमें कहा गया है कि—"सबसे पहले हमारा उद्देश्य हिन्दुओं को दंड देना है और जो उनकी सहायता करेंगे तथा साथ देंगे उन्हें भी दंड दिया जायेगा। तुमको (अर्थात मुसलमानों को) चाहिए कि शरा के आदेशानुसार हमारा साथ देकर हिन्दुओं की हत्या करो।"[19]

प्रभा दीक्षित ने अपने एक लेख में सैयद अहमद ख़ां की पुस्तक 'असबाबे बग़ावते हिन्द', जो 1858 में विद्रोह के कारणों को लेकर लिखी गयी थी, का एक हवाला दिया है, जिसके अनुसार हिन्दू और मुस्लिम 'दो प्रतिद्वंद्वी क़ौमें' हैं। सैयद अहमद के अनुसार "सरकार ने इन दोनों प्रतिद्वंद्वी क़ौमों को एक ही

रिसाले में रखा था और आपसी मेल-मिलाप के कारण सभी रिसाले पूर्णतः संगठित और एक-दिल बन गये थे। रिसाले के सदस्यों में मित्रता और भ्रातृ-भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। वे अपने को एक ही समझते थे और इस प्रकार हिन्दुओं और मुसलमानों में परस्पर आचार-विचार सम्बन्धी जो भेदभाव था वह जाता रहा। यदि रिसाले की कोई टुकड़ी किसी काम के लिए लगती थी तो पूरा रिसाला उसका साथ देता था। हिन्दुओं और मुसलमानों के अलग-अलग रिसाले होते तो यह भ्रातृ-भावना कभी उत्पन्न नहीं होती।"

प्रभा दीक्षित की इस पर टिप्पणी है कि अंग्रेज़ सरकार ने सैयद अहमद की योजना के महत्त्व को तुरन्त समझ लिया। 1861 में पील कमीशन ने भारतीय सेना को जो नया रूप दिया, उसने भविष्य में भारतीयों की सैनिक एकता की सभी सम्भावनायें समाप्त कर दीं। रिसाले धर्म, जाति और वर्ग के सिद्धान्त पर संगठित किये गये। इस बात पर समुचित ध्यान रखा गया कि इनमें किसी प्रकार का मेल-मिलाप न स्थापित हो पाए।"

1916 ईस्वी की 'सरस्वती' (भाग-17, संख्या-5) में यह कहा गया है कि "पूर्व काल में संयुक्त प्रान्त में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का खूब प्रचार था। यहां का अधिकांश काम-काज हिन्दी-भाषा और नागरी लिपि में ही होता था। अकबर के समय में भी लगान सम्बन्धी कागज़-पत्र हिन्दी में ही लिखे जाते थे। हां, अदालतों में फ़ारसी अलबत्ते ज़ारी हो गयी थी।"

स्वयं ब्रिटिश सरकार ने यह निश्चय किया था कि अलग-अलग प्रान्तों में उन प्रान्तों की भाषाओं में अदालतों का काम-काज हो। पर यह निश्चय संयुक्त प्रान्त पर लागू नहीं किया गया। यहां फ़ारसी लिपि में हिन्दुस्तानी अर्थात् उर्दू ही लागू रही। नतीजा यह हुआ कि हिन्दी की प्रगति अवरुद्ध हो गयी। संयुक्त प्रान्त के एक शिक्षाविद श्री संजीव राव एम० ए० के विचार से "हिन्दी की जगह हिन्दुस्तानी (उर्दू) का अदालतों में प्रवेश होना ही इस प्रकार की शिक्षा-वृद्धि में रुकावट का मूल कारण है। खर्च की कमी भी इसका कारण है, पर वह गौण है।"[20]

संयुक्त प्रान्त में 1870-71 में छात्रों की कुल संख्या 1,53,252 थी, जो 1895-96 में बढ़कर 1,55,552 हो गयी। इस बढ़ोत्तरी की दर बिहार के प्रारंभिक मदरसों के विद्यार्थियों की संख्या के अनुपात से बहुत कम थी। बिहार में 1872 में प्रारम्भिक मदरसों में विद्यार्थियों की संख्या 33,430 थी, जो तेईस वर्षों में अर्थात् 1895-96 में बढ़कर 2,60,471 हो गयी। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि यह अठगुनी संख्या-वृद्धि बिहार में हिन्दी के लागू करने के बाद हुई। इसके पहले बिहार और मध्य प्रदेश दोनों में हिन्दुस्तानी उर्दू चल रही थी, उस दौरान प्रारम्भिक छात्रों की संख्या में नगण्य वृद्धि हुई थी। बिहार के

लगगभ साथ-साथ मध्य प्रदेश में भी हिन्दी लागू हुई और उसके कारण वहां भी छात्रों की संख्या में इसी तरह वृद्धि हुई थी।

संयुक्त प्रान्त में चूंकि फ़ारसी लिपि में हिन्दुस्तानी बनी रही इस वजह से हिन्दी पढ़ने वाले छात्रों की संख्या में ख़ास बढ़ोत्तरी नहीं हुई, पर उर्दू पढ़ने वाले छात्रों की संख्या बढ़ी। कुमाऊं और गढ़वाल ज़िलों को छोड़कर संयुक्त प्रान्त में 1860-61 में हिन्दी के छात्रों की संख्या 69,134 थी जो 1873-74 में 85,820 हुई। इन्हीं वर्षों के दौरान उर्दू पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या 11,490 से बढ़कर 48,229 हो गयी, जो हिन्दी पढ़ने वाले छात्रों के प्रति सैकड़ा के हिसाब से बहुत ज़्यादा है। दूसरी ओर कुमाऊं और गढ़वाल ज़िले, जहां केवल हिन्दी पढ़ाई जा रही थी, 1862-63 में हिन्दी के छात्रों की संख्या 1,187 थी जो 1873-74 में 6,708 हो गयी। यानी कि ग्यारह वर्षों में छः गुने की वृद्धि। संयुक्त प्रान्त में हिन्दी छात्रों की उल्लेखनीय वृद्धि 1900 के बाद शुरू होती है, जब कचहरियों आदि में देवनागरी लिपि को भी लागू किया जाता है।

29 दिसम्बर 1917 को लखनऊ में 'एक-भाषा और एक-लिपि प्रचार परिषद' की एक बैठक हुई। इस परिषद के सभापति गांधी जी थे। 29 दिसम्बर को अपने अध्यक्षीय भाषण में गांधी जी ने कहा—"एक भाषा और एक लिपि के प्रचार के लिए आपको 'क्रिश्चियन लिटरेचर डिपो' और 'बाइबिल सोसायटी' के अनुसरण की आवश्यकता है। आपकी तरह वे कभी सम्मेलन नहीं करते। वे तो प्रकृत कार्य कर दिखाते हैं। देखिये, उनकी क़िताबों का संसार में कितना प्रचार है। क्या शहरों में, क्या गांवों में, क्या पढ़े-लिखों में, क्या अनपढ़ों में, क्या पुरुषों में, क्या स्त्रियों में—सभी जगह, क्रिश्चियन धर्म की पुस्तकें बहुलता से देखी जाती हैं। इसी प्रकार यदि हिन्दी का प्रकृत प्रचार करने वाले लोग होते तो आज मदरासी भी हिन्दी पढ़े-लिखे मिलते। हिन्दी में नई-नई पुस्तकें बनें, अनुवाद हों और उसकी शिक्षा का प्रचार किया जाय। लोग बाहर जा-जाकर हिन्दी पढ़ावें। बाहरी लोगों को हिन्दी पढ़ाने का सुभीता और यथोचित प्रबन्ध करें। जिन प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार कम है वहां हिन्दी पढ़ाने वालों की बड़ी कमी है। मैं स्वयं हिन्दी सीखना चाहता था। पर अहमदाबाद में कोई हिन्दी-ज्ञाता शिक्षक न मिला। मिला बेचारा एक गुजराती भाषा-भाषी, जिसने 15-20 वर्ष काशी में रहकर टूटी-फूटी हिन्दी सीखी थी। उसी से मैंने हिन्दी सीखी। सम्मेलन यदि अन्य भाषा-भाषी प्रान्तों में आदमी भेजे तो बहुत से लोग हिन्दी सीख जाएं। आप बाहर जाकर लोगों को हिन्दी सिखाइए तथा और आवश्यक कार्य उचित रूप से कीजिए। जब आप काम करेंगे, तभी सरकार भी आपकी बात सुनेगी। बातें बनाने वालों की अर्जियों

पर कौन ध्यान देगा। काम बड़ा है पर इच्छा करने ही से आप उसे आन की आन में कर सकते हैं। अंग्रेज़ी-शब्द-समूह पहले 1000 था, अब बढ़कर कोई एक लाख हो गया है। लोग कहते हैं कि हिन्दी में कुछ नहीं है—हिन्दी साहित्य खोखला है अतएव अंग्रेज़ी के बिना काम नहीं चल सकता। कभी-कभी तो अंग्रेज़ी न जानने के कारण लोगों को वृथा ही बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। यह मैं भी मानता हूं। यहां तक कि मुझ-जैसे लोगों को हिन्दी का व्यवहार करने के कारण—हिन्दी बोलने के कारण—रेलवे इत्यादि में धक्के भी खाने पड़ते हैं। पर काम करने वाले इन बातों की परवाह नहीं करते। अंग्रेज़ी से हिन्दी कितनी ही पीछे क्यों न हो, हमें उसका गौरव बढ़ाना ही पड़ेगा।

"सरकारी काउंसिलों में अंग्रेज़ी की पूछ है। उसी का विशेष आदर है। लोग कहते हैं कि वायसराय इत्यादि अंग्रेज़ी के अतिरिक्त और कोई भाषा नहीं समझते। अतएव अंग्रेज़ी का ही उपयोग करना आवश्यक है। पर मैं कहता हूं कि यदि मैं बोलना जानता हूं और मेरे कथन में कोई बात ऐसी है जिससे वायसराय लाभ उठा सकें तो अवश्य ही वे मेरी बातें हिन्दी में होने पर भी सुनेंगे। आपको ज़रा दृढ़ता और मनोयोग से काम लेना चाहिए। आत्मावलम्ब किये बिना कोई काम सिद्ध नहीं होता। आशा है, आप इन बातों पर ध्यान दीजियेगा।" [21]

1917 में लखनऊ में कांग्रेस के इकतीसवें अधिवेशन में गांधी जी हिन्दुस्तानी कुलियों को बाहर भेजना बन्द करने से सम्बन्धित एक प्रस्ताव रखते हुए हिन्दी में बोलना चाहते थे पर कुछ मद्रासी सदस्यों के आग्रह पर उन्होंने अंग्रेज़ी में अपना भाषण दिया पर इस शर्त के साथ कि "अगले साल की कांग्रेस तक आपको यह 'लिंगुआ फ्रांका' (अर्थात् राष्ट्र-भाषा हिन्दी) अवश्य सीख लेनी चाहिए। देखिए, इसमें ग़लती या लापरवाही न हो।"

1917 में ही कानपुर में तिलक का स्वागत किया गया। तिलक ने अपने स्वागत के जवाब में कहा—"मैं इस बात को अपना बड़ा दुर्भाग्य समझता हूं कि आपके सम्मुख मैं हिन्दी में भाषण नहीं कर सकता। यद्यपि मैं उन लोगों में से हूं जो चाहते हैं और जिनका विचार है कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्र-भाषा हो। मैं हिन्दी समझ सकता हूं और टूटी-फूटी बोल भी सकता हूं. पर व्याख्यान नहीं दे सकता। इसका कारण यह है कि मेरी मातृ-भाषा हिन्दी नहीं। मेरे प्रान्त में हिन्दी में व्याख्यान बहुत ही कम, नहीं के बराबर होते हैं। इस दशा में मुझे लाचार होकर आपके सामने अंग्रेज़ी में बोलना पड़ता है।"

29 दिसम्बर 1917 को लखनऊ में 'एक भाषा और एक लिपि प्रचार परिषद' की जिस बैठक का उल्लेख हुआ है, दस हज़ार की संख्या वाली बैठक में गांधीजी के सभापतित्व में यह प्रस्ताव पारित हुआ कि "देवनागरी लिपि और

हिन्दी भाषा का सार्वदेशिक प्रचार होना चाहिए। देश-हित और ऐक्य-स्थापना के लिए इसकी बड़ी ज़रूरत है। मद्रास के श्रीयुत रामस्वामी अय्यर और रंगास्वामी आयंगार तक ने इसका अनुमोदन किया।" (वही, भाग 18, पृ० 106)

कानपुर से निकलने वाले उर्दू मासिक पत्र 'ज़माना' के नवम्बर 1916 के अंक में उर्दू के बारे में कहा गया है कि—"जब उर्दू की हिन्दुस्तान में दागबेल पड़ी तो उस वक़्त जहां फ़ारसी और अरबी से उर्दू दो-चार हुई तो हिन्दी और भाषा (अर्थात् ब्रजभाषा) की गोद में भी उसे आराम हासिल करने का मुद्दतों मौक़ा मिला। उर्दू की डिक्शनरी ज़रा ग़ौर से देखो, हिन्दी और भाषा का क़ब्ज़ा उसमें किस क़दर है। उस कुदरती फ़ैज़ के मातहत जो हमेशा एक जदीद ज़बान के वास्ते एक ज़रिया और सहारा दूसरी ज़बानों से इख़लात का होता है उर्दू ज़बान भी जब निकली तो सबसे अव्वल उसका साथ भाषा ही से पड़ा। उर्दू ज़बान क्या है, भाषा का एक ऐसा मुजस्सिमा जिसमें फ़ारसी, अरबी और अंग्रेज़ी के मौज़ूं हीरे और जवाहरात जड़े हुए हैं।"

उर्दू को लेकर 'ज़माना' में जो कहा गया है वह भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से उर्दू की वास्तविक स्थिति से हटकर है। पर इस मसले पर अन्यत्र चर्चा की गई है। यहां इस उद्धरण के देने का ख़याल यों आया है कि 'ज़माना' ने उर्दू के साथ हिन्दी के नज़दीकी रिश्ते को कम से कम माना तो है। वरना 'ज़माना' तो उन पत्रों में था जो हिन्दी को ठीक-ठाक ज़बान ही नहीं मानता था और उसे हमेशा खरी-खोटी सुनाया करता था।

संयुक्त प्रान्त के ले० गवर्नर मेक्डानेल ने 1900 ई० में कचहरियों आदि में नागरी को भी लागू करने का ऐलान तो कर दिया पर वास्तविकता यह थी कि कचहरियों में उन लोगों ने उसे आने नहीं दिया जो फ़ारसी लिपि में काम करते आ रहे थे।

सी० वाई० चिन्तामणि ने 1916 में संयुक्त प्रान्त की लेजिस्लेटिव काउंसिल में सरकार से यह पूछा कि मुंसिफ़ और सदरआला नियुक्त किये जाने पर जिस तरह उन्हें उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि सीखनी पड़ती है, उसी तरह हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि भी उन्हें सीखने को क्यों न कहा जाय? सरकार ने इस प्रश्न का उत्तर दिया कि इसकी ज़रूरत नहीं है। चिन्तामणि ने 12 दिसम्बर 1916 की काउंसिल की बैठक में पुनः इसी सवाल को दुहराया पर समयाभाव के बहाने से सरकार ने उस पर विचार नहीं किया।

यह उल्लेखनीय है कि संयुक्त प्रान्त की कुल आबादी के तीन चौथाई लोग हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि का प्रयोग करने वाले थे और एक चौथाई से भी कम लोग उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि का व्यवहार कर रहे थे। वैसे सरकार के सम्मुख यह सिफ़ारिश भी की जा चुकी थी कि फ़ारसी लिपि में इस तरह के

दोष हैं, जिससे सरकारी कागज़-पत्रों में बखूबी हेराफेरी की जा सकती है। दर-असल अंग्रेज़ी सरकार हिन्दी-उर्दू के झगड़े को अनेक तरह से बढ़ावा देती रहती थी, जिससे हिन्दू-मुस्लिम तनाव क़ायम रहे, और अंग्रेज़ी तथा अंग्रेज़ सरकार का मार्ग निष्कंटक रहे।

जनवरी 1917 में दिल्ली में शिक्षा विभाग के डायरेक्टरों के समक्ष भाषण देते हुए बड़े लाट लार्ड चेम्सफ़र्ड ने कहा—"उच्च शिक्षा आजकल अंग्रेज़ी भाषा के द्वारा दी जाती है। यह इसलिए कि अंग्रेज़ी जानने वालों को नौकरी मिलने में सुभीता होता है। इसका यह भी कारण है कि देशी भाषाओं में सब तरह की पाठ्य-पुस्तकें नहीं। इसका परिणाम जो हो रहा है उसे बताने की ज़रूरत नहीं। वह सभी पर विदित है। बेचारे विद्यार्थियों को गहन से गहन विषय भी विदेशी भाषा में सीखने पड़ते हैं।···यहां, इस देश में विदेशी भाषा के द्वारा शिक्षा देना दुःख की बात है। यह प्रणाली अच्छी नहीं। या तो हमें ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिससे, जहां तक हो सके, देशी भाषाओं द्वारा ही शिक्षा दी जाय, अंग्रेज़ी भाषा का प्रयोग बहुत पीछे से किया जाय, या अंग्रेज़ी सिखाने की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया जाय।"[22]

यह कितनी हैरत की बात है कि अंग्रेज़ी को बरकरार रखने और देशी भाषाओं को बहिष्कृत रखने के जो तर्क लार्ड चेम्सफर्ड ने 1917 में दिये थे, वे ही तर्क आज 1990 में 73 वर्षों के बाद हमारी अपनी सरकार भी देती है। चेम्सफर्ड ने भी विदेशी भाषा में शिक्षा देने को दुख की बात कहा था। आज के आक़ा भी इसे दुर्भाग्यपूर्ण बताते हैं। देशी भाषाओं द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिए, इसे चेम्सफर्ड ने भी कहा था, आज भी उसी तरह से चाहिए वाला यह वाक्य दुहराया जाता है, फ़र्क़ सिर्फ़ पुलपिट पर खड़े श्रीमान की चमड़ी के रंग का है, वह सफेद से गेहुंआ हुआ है, और कोई गुणात्मक फ़र्क़ नहीं आया है। विदेशी शासकों और हमारे प्रजातंत्रीय शासकों की भाषा और शिक्षानीति में इतनी आश्चर्यजनक समानता है कि देखकर हैरत होती है। सैंतालीस के पहले और सैंतालीस के बाद की नीति में कहीं कोई फ़र्क़ नहीं। शासनतन्त्र और नेताओं की सोच को देखकर लगता ही नहीं कि अंग्रेज़ सचमुच चले गये हैं। यक़ीन ही नहीं होता। देशी लोगों की दुर्दशा से लेकर देशी भाषाओं तक की दुर्दशा उसी तरह तो है। शासक और शासित के बीच जो अजनबीपन था वह भी उसी तरह है।

संयुक्त प्रान्त के शिक्षा विभाग के डायरेक्टर की अप्रैल 1915 से मार्च 1916 तक की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार उस वर्ष 170 विद्यालय कम कर दिये गये। यह कमी अधिकतर इमदादी मदरसों को तोड़ दिये जाने से हुई। विद्यालयों की कुल संख्या 10.537 से घटाकर 10.367 कर दी गई। इस पर सरकार

का कहना था कि वह सरकारी विद्यालयों की संख्या बढ़ायेगी। इमदादी विद्यालयों की गतिविधियां सरकार को अपने अनुकूल नहीं लग रही थीं इसी वजह से यह कार्रवाई की गई थी। हालांकि मदरसे कम हो गये पर छात्रों की संख्या पिछले साल से इस साल बढ़ी थी। यह संख्या 8, 32, 454 से बढ़कर 8, 41, 334 हो गयी। रिपोर्ट के अनुसार उस वर्ष विद्यालय जाने की आयु के लड़कों/लड़कियों में शिक्षा प्राप्त करने वालों की संख्या 12 प्रतिशत थी। और तो और, शिक्षा पर होने वाले खर्च में भी कमी कर दी गयी थी। पहले एक करोड़ इकतालीस लाख पचपन हज़ार खर्च हुआ था, 1915-16 में यह खर्च एक करोड़ उनतालीस लाख उन्नीस हज़ार रह गया। इस रिपोर्ट के मुताबिक अब माध्यमिक स्कूलों में (अर्थात् पांचवें और छठे दरजों में) भूगोल, इतिहास, हिसाब और विज्ञान की पढ़ाई देशी भाषाओं में होती है।

सन् 1900 ई० में, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, संयुक्त प्रान्त के ले० गवर्नर मेक्डानेल ने यह आदेश निकाला कि दीवानी, फ़ौज़दारी और माल की अदालतों में फ़ारसी लिपि के अलावा देवनागरी लिपि में भी अर्जी-दावे और अरज़ियां स्वीकार की जायेंगी। आदेश में यह भी कहा गया कि सम्मन और दूसरे क़ागज़ात में हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं का व्यवहार किया जायेगा। सरकार की ओर से यह भी हुक्म दिया गया कि अंग्रेज़ी आफ़िसों को छोड़कर कचहरियों में ऐसे किसी कर्मचारी की नियुक्ति नहीं की जायेगी जो नागरी और फ़ारसी लिपियों को अच्छी तरह लिख-पढ़ न सकता हो।

पर ये सभी आदेश एक खानापूर्ति की तरह थे। (और उसी तरह निरर्थक साबित हुए जैसे स्वतन्त्रता के बाद के हिन्दी को लागू करने से सम्बन्धित बीसियों आदेश निरर्थक होते रहते हैं। भारत सरकार और प्रदेशों की सरकारें हिन्दी को कार्यान्वित करने की तारीखें तक नियत कर देती हैं। सभाओं में नेता बड़ी-बड़ी क़समें खाते और वायदे करते हैं। हिन्दी के समर्थन में ज़ोर-शोर से ऐलान किया जाता है और अन्त में वही ढाक के तीन पात। वे नियत तारीखें जिस तरह आती हैं उसी तरह बीत जाती हैं।)

सरकारी आदेश में यह भी कहा गया कि संयुक्त प्रान्त में (1) आई० सी० एस० श्रेणी के कर्मचारियों, (2) डिप्टी कलक्टरों, (3) पुलिस के असिस्टेंट और डिप्टी सुपरिन्टेंडेंटों के लिए भी फ़ारसी लिपि के साथ देवनागरी लिपि का जानना आवश्यक होगा। ज़ाहिर है मुंसिफ़ और सब-जज वगैरह भी देवनागरी जानेंगे।

पर इन आदेशों का व्यावहारिक पहलू कुछ और ही था। "एक मुंसिफ़ साहब ने गवाहों के बयान देवनागरी लिपि में लिख डाले। इस पर होहल्ला मचा। अख़बारों में लेख निकले। कहा गया कि नागरी लिपि में बयान क्यों

लिखे। फ़ारसी में ही लिखना था।"[23]

चिन्तामणि, जो संयुक्त प्रान्त की काउंसिल के सदस्य थे, ने काउंसिल में 26 फरवरी 1917 को प्रश्न पूछा कि "जो लोग मुन्सिफ़ और सब-जज (सदर आला) नियत हों उनके लिए केवल फ़ारसी लिपि में हिन्दुस्तानी (उर्दू) भाषा लिख-पढ़ सकना ही लाज़मी न समझा जाय, देवनागरी-लिपि में हिन्दी-भाषा लिख-पढ़ सकना भी लाज़मी समझा जाय।"

अपने इस प्रश्न को और तर्कसंगत बनाने के लिए चिन्तामणि ने संयुक्त प्रान्त में हिन्दी बोलने वालों और उर्दू बोलने वालों के आंकड़े भी दिये जो कि क्रमशः चार करोड़ पच्चीस लाख (हिन्दी बोलने वाले) और 41 लाख (उर्दू बोलने वाले) थे।

सरकार की ओर से श्री बर्न ने चिन्तामणि की मांग को अस्वीकार करते हुए कहा कि वर्तमान पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं किया जायेगा, अर्थात् मुंसिफ़ और सब-जज वगैरह केवल फ़ारसी लिपि का ही व्यवहार करते रहेंगे।

काउंसिल के दूसरे सदस्य नवाब अब्दुल मजीद ने चिन्तामणि के प्रश्न को लेकर जो अपनी राय दी उसकी कुछ बातें इस तरह थीं[24]—"(1) हिन्दी-उर्दू का झगड़ा जिन्दा रखने के लिए ही यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया है।"

(2)"···जिसे हिन्दी कहते हैं वह सर्वसाधारण की भाषा नहीं।"

(3) "···अंग्रेज़ी राज्य के पहले हिन्दी भाषा का नाम तक किसी को न मालूम था। हिन्दी-लिपि शायद रही हो, पर उस लिपि में अपने विचार प्रकट करने वाले लोग गंवार ही समझे जाते थे।"

अब्दुल मजीद साहब ने जो बातें कही हैं उनसे नवाब साहब का भाषा-ज्ञान बखूबी ज़ाहिर होता है, उस पर कोई टिप्पणी करना अनावश्यक है। हां, इससे यह ज़रूर ज़ाहिर होता है कि अंग्रेज़ों की काउंसिलों के सदस्यों का बौद्धिक स्तर आज की असेंबलियों में जो जमावड़ा होता है उससे कुछ बेहतर नहीं था। इस बात को मद्देनज़र रखते हुए तब की काउंसिलें और भी हास्या-स्पद लगती हैं कि उनके सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत थे। अन्दाज़ा लगाइये ब्रिटिश सरकार किस तरह के लोगों को अपने इर्द-गिर्द रखती थी।

उसी काउंसिल के एक-दूसरे सदस्य रज़ा अली ने चिन्तामणि के प्रस्ताव पर अपना एक उपप्रस्ताव ठोंक दिया। उपप्रस्ताव में यह प्रस्तावित किया गया कि (1) "देवनागरी लिपि में हिन्दी भाषा निकाल दी जाय। उसकी जगह पर फ्रेंच, रशियन, इटालियन या फ़ारसी कर दी जाय। (2) हिन्दी कोई भाषा नहीं। (3) इस प्रान्त में इतने आदमी उर्दू बोलते हैं इतने हिन्दी, इसका हिसाब जैसा बताया गया है, ठीक नहीं। मर्दुमशुमारी के अंक विश्वासयोग्य नहीं।"[25]

सरकार की ओर से बर्न ने चिन्तामणि के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया।

इससे एक सवाल यह उठता है कि सत्रह साल पहले 1900 ई० में सरकार ने देवनागरी लिपि को अपनाने का जो ऐलान किया था, फिर उसकी वैधता क्या होगी ? मुंसिफ़ और सब-जज देवनागरी लिपि को जाने बग़ैर उसमें लिखी हुई अर्ज़ियों को कैसे पढ़ पायेंगे ?

इससे निष्कर्ष यह निकला कि सरकार दिल से देवनागरी लिपि को लागू नहीं करना चाहती थी। केवल आन्दोलनों की वजह से राजनीतिक दबाव में उसे देवनागरी को भी लागू करने का आदेश देना पड़ा। यह भी निष्कर्ष निकला कि सरकार 'हिन्दुस्तानी' जामा में उर्दू और फ़ारसी-लिपि को बनाये रखकर अन्य दूसरे मामलों की तरह भाषा के मामले में भी हिन्दू-मुस्लिम तनाव की राजनीति को बनाये रखना चाहती थी।

इस सन्दर्भ में मेक्डानेल के आदेश का वह हिस्सा विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है जिसमें यह कहा गया है कि "कई एक प्रधान कारणों (?) से श्रीमान लेफ्टिनेंट गवर्नर और चीफ़ कमिश्नर इन प्रान्तों (अर्थात् पश्चिमोत्तर प्रान्त और अवध) में भाषा सम्बन्धी परिवर्तन के प्रश्न को हाथ में नहीं लिया चाहते हैं और इसीलिए श्रीमान लेफ्टिनेंट गवर्नर महोदय इन प्रान्तों की भाषा को बदलना अथवा फ़ारसी के अक्षरों के प्रयोग को बन्द करना नहीं चाहते हैं।"

1918 की 'सरस्वती' (भाग 19, सं० 2) में कहा गया है कि—"हिन्दी और उर्दू का विरोध कुछ कम होता नहीं दिखाई देता। कौंसिल की स्पीचें और दोनों तरफ के समाचार-पत्रों के वादविवाद के अनुशीलन से तो प्रतीत होता है कि हिन्दी और उर्दू का प्रश्न, कहीं ऐसा न हो हमारी राजनैतिक जागृति को ठण्डा करके फूट के बीज बो दे। इसलिए इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि दोनों पक्षों के विद्वान आपस में इस प्रश्न को हल कर लें। जब हिन्दू और मुसलमानों के बीच राजनैतिक झगड़ों का अन्त हो गया, तब इस कार्य में सफलता होना कुछ भी कठिन नहीं।"

दो बातों की ओर यहां संकेत किया गया है। एक बात यह है कि कौंसिल की स्पीचों और समाचार-पत्रों में हिन्दी-उर्दू को लेकर वादविवाद बढ़ रहा है। दूसरी बात यह है कि हिन्दू और मुसलमानों में राजनैतिक झगड़ों का अन्त हो गया, तब भी हिन्दी-उर्दू का विवाद तूल पकड़ता जा रहा है।

जहां तक राजनैतिक झगड़ों का सवाल है उसकी पृष्ठभूमि यों है कि 1916 में लखनऊ में मुस्लिम लीग और कांग्रेस में समझौता हुआ था, और मुस्लिम साम्प्रदायिक आधार पर चुनाव जो मुस्लिम लीग के सामने उस वक़्त सबसे बड़ा सवाल था, को कांग्रेस ने माना था। यह बात दूसरी है कि मुसलमानों के लिए अलग से मुस्लिम प्रतिनिधि चुनने के अधिकार को कांग्रेस की सहमति कांग्रेस के माथे पर एक काला धब्बा था, क्योंकि इससे साम्प्रदायिकता को

बढ़ावा मिलता है और एक अन्तहीन सिलसिला पुष्ट होता है। पर जो भी हो, कांग्रेस ने उस वक़्त साम्प्रदायिक आधार पर मुस्लिम मतदाता मंडल को मान लिया था और इससे हिन्दू-मुस्लिम एकता के रास्ते में आने वाला एक बड़ा रोड़ा दूर हुआ था। यह भी एक अलग बात है कि यह एकता बहुत ही क्षण-स्थायी साबित हुई थी। जहां अंग्रेज़ जैसे फूट डालने में माहिर क़ौम का शासन हो वहां स्थायी क़ौमी एकता की बात सोचना एकदम बेमानी था। सो यह हिन्दू-मुस्लिम क़ौमी एकता, जो 1916 के आसपास क़ायम हुई थी, जल्दी ही टूट गयी।

हिन्दी-उर्दू का विरोध जो कौंसिलों और समाचार-पत्रों में एक-दूसरे के लिए हो रहा था उसके पीछे शासनतन्त्र का पूरा हाथ था। कौंसिल के मेम्बर मनोनीत थे, और ज़ाहिर है कि अंग्रेज़ी सरकार के पिट्ठू ही होते रहे थे। अधिकतर नवाब और ताल्लुक़ेदार मेम्बर हुआ करते थे। अखबारों में दो-चार अखबारों को छोड़कर बाक़ी सरकार का ही मुंह जोहते रहते थे, ख़ास तौर पर उर्दू अखबार। ये उर्दू अखबार आये दिन हिन्दी के विरोध में, ख़ास तौर पर नागरी के विरोध में लिखा करते थे, फिर उसकी प्रतिक्रिया में आर्य समाज और दूसरी हिन्दू-समर्थक संस्थाएं उर्दू के विरोध में उठ खड़ी होती थीं। इस तरह ले-दे चलती रहती थी। उर्दू मुसलमानों की ज़बान है और हिन्दी हिन्दुओं की, यह भेद भी कट्टरपंथियों की वजह से आया था, जिन्हें न तो भाषा की संरचना की कोई जानकारी थी और न ही भाषा के सामाजिक प्रकार्य की। वरना पहले उर्दू और हिन्दी के बोलने वालों में कोई भेद नहीं था, ऐसे शब्द भी नहीं थे जिनकी वजह से कोई दुश्वारी पैदा होती हो। भेद फ़ारसी और नागरी में लिखने मात्र का था। इसीलिए खुसरो (1255-1324) 'हिन्दुई' में अनुपम बातें बताने का दावा करते थे, सोलहवीं सदी के मलिक मुहम्मद जायसी फ़ारसी लिपि में अवधी का पहला महाकाव्य लिख रहे थे और मीर (1724-1810) तथा गालिब (1796-1869) जैसे महान शायर भी उर्दू को 'हिन्दवी' कहते थे।

1918 में ही कामताप्रसाद गुरु ने यह कहा कि "सरकार ने पाठशालाओं के बाहर हिन्दी को जो थोड़ा-सा आश्रय दिया है, वह मृगजल के समान है। युद्ध समाचार और युद्ध ऋण से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञापनों में सरकार शुद्ध हिन्दी का प्रयोग करने लगी है, और रामायण की चौपाइयों को अपने अर्थ के अनुकूल घटाने-बढ़ाने भी लगी है; परन्तु कचहरियों में वही पुरानी नवाबी बरती जाती है। सरकार की ओर से दो भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा शैलियों का प्रचार लोगों के मन में संदेह उत्पन्न करता है जो प्रजा-रंजन के तत्त्व के विपरीत है।"[26]

गुरुजी ने यहां अंग्रेज़ी सरकार की दोगली नीति को स्पष्ट रूप से दिया

है। जहां सरकार को हिन्दुओं की मदद की ज़रूरत है वहां शुद्ध हिन्दी का और रामायण की चौपाइयों का भी दोहन करने में उसे संकोच नहीं है, पर कचहरियों में हिन्दी का प्रयोग वर्जित है, क्योंकि वहां हिन्दी के आने से मुस्लिम-अनुदारवादियों के चिढ़ जाने का ख़तरा है। दूसरी चीज़ यह है कि सरकार हिन्दी और उर्दू के दो फ्रंट बनाये रखना चाहती है, जिससे हिन्दू-मुस्लिम तनातनी भी बनी रहे। अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तानी को जो चलाया उसे ऊपर से देखने से यह लगता है कि सरकार की मंशा हिन्दी-उर्दू के अतिवादी तत्त्वों को हटाकर सहज भाषा को सामने लाना रहा होगा, पर वास्तव में ऐसा नहीं था। वास्तविकता यह थी कि अंग्रेज़ जिसे 'हिन्दुस्तानी' जबान कहते थे, वह पूरी तौर पर उर्दू थी, बस अन्तर यह था कि उसे फ़ारसी के साथ नागरी लिपि में भी लिखा जा सकता था। इसलिए यह सोचना ग़लत है कि हिन्दुस्तानी को आगे बढ़ाकर अंग्रेज़ हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच चल रहे भाषाई झगड़े को निपटाना चाहते थे, जैसा कि बहुत से लोग आज भी सोचते हैं। यह ख़याल बिलकुल ही ग़लत है।

जैसा कि पहले कहा गया है, भारतीयों के दिल-दिमाग़ में 'हिन्दुस्तानी' ज़बान का जो नक़्शा आज है, वह दरअसल गांधी जी का मुख्य रूप से दिया हुआ है। गांधी जी हिन्दुस्तानी के रूप में जिस ज़बान को राष्ट्रभाषा बनाने का ख़्वाब देखते थे, वह हिन्दी और उर्दू के अतिवाद से मुक्त-सहज और आम लोगों की ज़बान थी, जिसमें संस्कृत के भी शब्द रह सकते थे और अरबी-फ़ारसी के भी, बशर्ते कि वे आम लोगों द्वारा बोले जा रहे हों। यही ज़बान पूरे हिन्दुस्तान में चल रही थी। राष्ट्रभाषा और हिन्दुस्तानी को लेकर गांधी जी के विचार[27] क्या थे, उसका एक नमूना यहां दिया जा रहा है।

"अब हम राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर विचार करें। यदि अंग्रेज़ी हमारी राष्ट्र-भाषा होनी है तो उसे हमारे स्कूलों में एक अनिवार्य विषय बना दिया जाना चाहिए। पहले हम इस बात पर विचार करें कि क्या अंग्रेज़ी हमारी राष्ट्रभाषा बन सकती है?

"हमारे कुछ विद्वान लोगों का, जो अच्छे देशभक्त भी हैं, कहना है कि इस प्रश्न को उठाना ही अज्ञान का द्योतक है। उनकी राय में वह तो राष्ट्रभाषा है ही।

"सतही तौर पर विचार करने पर उक्त मत सही मालूम होता है। हमारे समाज के शिक्षित वर्ग को देखने से मालूम होता है कि अंग्रेज़ी के न रहने पर हमारा सारा काम ठप्प हो जाएगा। लेकिन गहराई से विचार करने पर पता चलेगा कि अंग्रेज़ी न तो हमारी राष्ट्रभाषा बन सकती है और न बननी चाहिए।

"आइए देखें कि किसी भाषा के राष्ट्रभाषा बनने के लिए क्या-क्या बातें ज़रूरी हैं।

1. सरकारी अधिकारियों के लिए उसका सीखना आसान होना चाहिए।
2. वह भारत भर में धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विचार-विनिमय का माध्यम बनने के योग्य होनी चाहिए।
3. वह अधिकांश भारतीयों द्वारा बोली जानी चाहिए।
4. समूचे देश के लोगों के लिए उसका सीखना सरल होना चाहिए।
5. इस भाषा का चुनाव करते समय अस्थायी अथवा क्षणिक हितों का ख़याल नहीं रखा जाना चाहिए।

"अंग्रेज़ी इनमें से किसी भी शर्त को पूरा नहीं करती—तब वह कौन-सी भाषा है जो इन पांचों शर्तों की पूर्ति करती है ? हमें मानना पड़ेगा कि वह हिन्दी ही है।"

लेकिन हिन्दी से गांधी जी का आशय संस्कृतनिष्ठ हिन्दी से नहीं था, उस हिन्दी से था जिसे इस देश की आम जनता बोलती और समझती है, और जिसे देवनागरी तथा फ़ारसी दोनों लिपियों में लिखा जा सकता हो। उन्होंने कहा है :

"अब ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रभाषा के बारे में झगड़ा खड़ा हो गया है—कौन-सी भाषा राष्ट्रभाषा हो ? मुझे बताया गया कि देवनागरी लिपि में लिखी गई हिन्दी राष्ट्रभाषा होगी। मैं इससे कभी सहमत नहीं हो सकता। मैं दो बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष रहा हूं। मैं हिन्दी और उर्दू का शत्रु नहीं हो सकता। लेकिन मैंने अनुभव किया है कि सामान्य व्यक्ति की भाषा यानी भारत की राष्ट्रभाषा देवनागरी तथा उर्दू लिपियों में लिखी जाने वाली सरल हिन्दी तथा सरल उर्दू का सम्मिश्रण अर्थात् हिन्दुस्तानी हो सकती है।"

एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा कि—"मुझे इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दुस्तानी समस्त भारतीयों के लिए सबसे उपयुक्त अन्तर्प्रान्तीय भाषा होगी। आम जनता न तो फ़ारसी भरी उर्दू आसानी से समझ सकती है और न संस्कृत-निष्ठ भाषा हिन्दी।"[28]

कांग्रेस-मुस्लिम लीग सहकार और बाद के वर्ष

1916 में मुस्लिम लीग और कांग्रेस का जो समझौता हुआ था और जिसे 'लखनऊ समझौता' के नाम से जाना जाता है, उसके अनुसार कांग्रेस ने सभी प्रान्तीय विधान सभाओं (प्राविंशियल लेजिस्लेचर्स) में पृथक् मुस्लिम मतदाता मंडल की व्यवस्था को स्वीकार किया। साथ ही इस बात पर भी समझौता हुआ कि हिन्दू बहुसंख्यक प्रान्तों में मुसलमानों और मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों में दूसरे सम्प्रदायों को अनुपात से अधिक का प्रतिनिधित्व दिया जायेगा। उस समझौते के हिसाब से संयुक्त प्रान्त में हिन्दुस्तानियों के लिए निर्धारित सीटों का 30 प्रतिशत भाग उन मुस्लिम प्रतिनिधियों द्वारा भरा जायेगा जिनका निर्वाचन साम्प्रदायिक आधार पर अलग मुस्लिम मतदाताओं से होगा; जबकि संयुक्त प्रान्त में मुसलमानों की आबादी प्रान्त की कुल आबादी का 14.3 प्रतिशत थी। बिहार, उड़ीसा में मुस्लिम आबादी 20.9 प्रतिशत थी, जबकि सीटों की संख्या 25 प्रतिशत रखी गयी, मध्य प्रान्त में आबादी का प्रतिशत 4.4 था और सीटों का प्रतिशत 15 था, मद्रास में सीटों का प्रतिशत 15 था जबकि आबादी का प्रतिशत 6.7 था, बम्बई प्रान्त में 19.8 प्रतिशत मुस्लिम आबादी के लिए निर्धारित सीटों की संख्या 33.3 प्रतिशत थी। मुस्लिम बहुसंख्यक आबादी वाले प्रान्तों में पंजाब में मुसलमानों की आबादी 54.8 प्रतिशत थी। और भारतीयों के लिए कुल निर्धारित सीटों में से 50 प्रतिशत सीटें उनके हिस्से में थी, बंगाल से 52.7 प्रतिशत मुस्लिम आबादी पर उनकी कुल सीटें 40 प्रतिशत थीं। केन्द्रीय लेजिस्लेचर में कुल निर्वाचित सीटों में एक तिहाई सीटों पर मुस्लिम प्रतिनिधियों के चुनाव का प्रावधान रखा गया, जबकि मुस्लिम आबादी कुल आबादी का 24 प्रतिशत थी। साथ ही यह व्यवस्था भी रखी गयी कि विधान सभा द्वारा किसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित ऐसा कोई भी बिल पारित नहीं किया जाएगा, जिसे उस सम्प्रदाय के तीन चौथाई सदस्यों का समर्थन न प्राप्त हो[29]।

1920 में लीग ने स्वराज से सम्बन्धित प्रस्ताव भी पारित किया। 1921 का पूर्वार्द्ध भी कांग्रेस-लीग एकता के ख़याल से बहुत सफल माना जायेगा।

हिन्दू-मुस्लिम एकता की दृष्टि से भी ये वर्ष उत्तम थे। पर तभी अगस्त में मलबार कोस्ट के हिन्दू भूपतियों के विरुद्ध मोपला (मुस्लिम किसानों) विद्रोह शुरू हुआ जिससे एकता के माहौल को धक्का लगा।

1922 से 27 के बीच में केवल पंजाब में आठ शहरों में चौदह साम्प्रदायिक दंगे हुए। अमेठी, गुलबर्गा, कोहाट जैसे अन्य अनेक स्थानों पर भी दंगे होते रहे। मुस्तफ़ा कमाल पाशा द्वारा 10 मार्च 1924 को ख़िलाफ़त समाप्त करने की घोषणा से ख़िलाफ़त आन्दोलन ही बेमानी हो गया। अर्थात् कांग्रेस और खिलाफ़त आन्दोलनकारियों के गठबन्धन का सूत्र ख़त्म हो गया।

साम्प्रदायिक आधार पर अलग मुस्लिम मतदाता-मंडल और प्रान्तों में आबादी के अनुपात से बहुत अधिक सीटों के मिलने से मुस्लिम नेताओं की राजनीति स्वाभाविक रूप से साम्प्रदायिकता की ओर मुड़ गयी। अलग मुस्लिम मतदाता की पद्धति के कारण मुस्लिम राजनीतिज्ञों को क़ौम को अलग-थलग करने की अपरिहार्य ज़रूरत महसूस हुई। राजनीति खुलकर हिन्दू-मुस्लिम राजनीति बनी और उसे अपनी-अपनी दिशाओं में ले जाने का मौक़ा मिला।

तुर्की साम्राज्य का एक हिस्सा त्रिपली पर 1911 में इटली का कब्ज़ा हुआ। इस आक्रमण के दौरान बहुत से निर्दोष मुस्लिम स्त्री-पुरुषों और बच्चों का संहार किया गया। फिर प्रथम विश्वयुद्ध में तुर्की जर्मनी की ओर से लड़ा, इससे अंग्रेज़ों ने तुर्की के ख़िलाफ़ अरबों को भड़काकर तुर्कों से उन्हें आज़ादी दिलाई, पर उन्हें आज़ाद करने की बजाय ब्रिटेन और फ्रांस ने उनको अपने कब्जे में कर लिया। इन घटनाओं से भारतीय मुस्लिम अवाम प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती थी। नवम्बर 1914 में अंग्रेज़ी राज की ओर से एक घोषणा हिन्दुस्तान के कोने-कोने में वितरित की गयी। घोषणा में यह कहा गया कि इस्लाम के पवित्र स्थानों को कोई नुकसान नहीं पहुंचाया जायेगा और उनकी पवित्रता बरकरार रखी जायेगी। मुस्लिम ख़िलाफ़त की पवित्र पीठ को कोई नुकसान नहीं पहुंचाया जाएगा। हमारी लड़ाई उन तुर्की मन्त्रियों से है जो जर्मनी के प्रभाव में हैं, न कि इस्लाम के ख़िलाफ़त के प्रभाव में। ब्रिटिश सरकार अपनी ओर से और अपने सहयोगियों की ओर से इस प्रतिज्ञा की पूरी जिम्मेदारी लेती है।[30]

पर इन प्रतिज्ञाओं से हिन्दुस्तानी मुसलमानों को कोई तसल्ली न मिली। मुस्लिम मांगों में से एक यह थी कि अगस्त 1914 तक तुर्की के जो भाग उसके कब्ज़े में थे वे भाग तुर्की को वापस मिलने चाहिए। दूसरी मांग यह थी कि अरब तथा इस्लाम के पवित्र स्थान ख़लीफ़ा के ही नियंत्रण में रहने चाहिए। इस तरह की मांगों को पूरा करने के लिए ब्रिटेन ने ऊपर-ऊपर से अपनी रजामंदी भी जताई थी पर मन से पूरा करने के लिए तैयार न था।

ख़िलाफ़त आन्दोलन पर कट्टरपंथी हिन्दुओं का तर्क यह था कि ख़िलाफ़त का मसला मुसलमानों का मसला होते हुए भी मुख्यतया तुर्की का मसला है, जिससे हम किसी तरह भी जुड़े हुए नहीं हैं, इसलिए ऐसे आन्दोलन में शरीक होने की कोई तुक नहीं है। पर गांधी जी और कांग्रेस के दूसरे बड़े नेता ख़िलाफ़त के मसले को पूरे हिन्दुस्तान के मसले के तौर पर ले रहे थे। उनका यह भी मानना था कि इस मौक़े पर मुसलमानों का साथ देकर हिन्दू-मुस्लिम एकता के बंधन को बहुत दृढ़ किया जा सकता है।

1919 में लाजपत राय ने कहा कि हिन्दुस्तान में सात करोड़ मुसलमान रहते हैं, जिससे यह देश मुस्लिम भावनाओं (सेन्टिमेंटस) का एक प्रमुख केन्द्र बन गया है। हिन्दू अपने मुसलमान देशवासियों का, इस्लाम की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करने में उनका साथ देंगे।[31] 1918 में ख़िलाफ़त कमेटी की स्थापना हिन्दुस्तान में की गई।

हिन्दू-मुस्लिम एकता पर 29 फरवरी 1920 को नवजीवन में लिखते हुए गांधी जी ने कहा, "यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि आज हिन्दुओं और मुसलमानों में जो एकता है उसकी इस युग में कोई और मिसाल नहीं है। हम सभी की यह अभिलाषा है कि यह बिना किसी विघ्न के क़ायम रहे।

17 अक्टूबर 1920 को पूरे भारत में ख़िलाफ़त दिवस मनाया गया, और दिसम्बर के शान्ति उत्सवों के बायकाट के लिए आंदोलन की शुरुआत की गयी। 23-24 अक्टूबर की अपनी बैठक में, जिसमें गांधी जी भी शरीक थे, ख़िलाफ़त कमेटी ने जो प्रस्ताव पास किये उनमें 'शान्ति उत्सव' के बायकाट के साथ विलायती वस्तुओं के बहिष्कार और फौज तथा सिविल नौकरियों में असहयोग के प्रस्ताव भी शामिल थे। इसके पहले 19 जनवरी, 1920 को गांधी, अली बंधु, अजमल खां, डॉ० अन्सारी, अब्दुल बारी, सैफ़ुद्दीन किचलू, अबुलकलाम आज़ाद, हसरत मोहानी, स्वामी श्रद्धानन्द आदि प्रमुख नेताओं ने वाइसराय को एक प्रार्थना-पत्र दिया, जिसमें ख़िलाफ़त के विषय में मुस्लिम अवाम की भावनाओं से वाइसराय को अवगत कराया गया, जज़िरात-अल-अरब (अरब भूमि) के ऊपर मुस्लिम नियंत्रण (कंट्रोल), पवित्र स्थानों पर ख़लीफ़ा का वर्चस्व (वार्डनशिप) तथा ओटोमान साम्राज्य की एकता को लेकर भी अपील की गई।[32]

19 अप्रैल 1920 को दिल्ली में ख़िलाफ़त को लेकर बहुत बड़ी सभा हुई जिसमें 500 डेलीगेट थे और भाग लेने वाली जनता की संख्या करीब 2000 थी। इसमें देश के विभिन्न भागों से भाग लेने के लिए मुसलमान नेता उपस्थित हुए थे।

हकीम अजमल खां को अंग्रेज़ों ने 1912 के ताजपोशी के दरबार के मौक़े पर चांदी का पदक और 1915 में कैसरे-हिन्द पदक प्रदान किया था, जिसे

अजमल खां ने तुर्की के साथ 'शान्ति समझौता' की शर्तों के प्रोटेस्ट में वापस कर दिया। 17 मार्च 1922 को अजमल खां ने गांधी को लिखा : "इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है कि हमारे मुल्क की उन्नति का रहस्य हिन्दू-मुसलमान और यहां की दूसरी जातियों की एकता में निहित है।"[33]

ख़िलाफ़त आन्दोलन की सबसे बड़ी देन यह है कि इस आन्दोलन की वजह से अंग्रेज़ों के प्रति मुसलमानों के एक तबके की जो अन्ध स्वामिभक्ति थी उसमें दरार पड़ी और मुस्लिम नेताओं को भीतर तक यह अहसास हुआ कि अंग्रेज़ उनका दोहन कर रहे हैं। इसी अहसास की वजह से मुसलमानों में विभिन्न ढंग की जो पार्टियां थीं वे सब पहली बार ख़िलाफ़त के इस आन्दोलन में, भले ही थोड़े ही समय के लिए हुई हों, पर एकजुट हुईं।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि गांधी जी और कांग्रेस के ख़िलाफ़त आंदोलन में सक्रियता से हिन्दू-मुस्लिम एकता को बहुत बल मिला। यह एकता लम्बे समय तक क़ायम न रह सकी, जिसके बहुत से कारण थे। पर थोड़े समय तक तो यह एकता एक मिसाल के तौर पर थी। एकता स्थिर न रहने का एक कारण तो यह था कि ख़िलाफ़त आंदोलन हमारे देश की किसी जीवन्त समस्या से जुड़ा हुआ नहीं था। यह मूलतः एक मुस्लिम धार्मिक आन्दोलन था, जिससे हिन्दुस्तानी मुसलमान रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से जुड़ता नहीं था। समस्या मुस्लिम ख़लीफ़ा को लेकर थी जो तुर्की से जुड़ती थी। देहातों में रहने वाले आम मुस्लिम अवाम को इसकी कोई ख़बर नहीं थी। हिन्दू-मुस्लिम आपसी तालमेल और एकता को चिरस्थायी बनाने के लिए ख़िलाफ़त आन्दोलन के समय की एक-जुटता काफ़ी नहीं थी।

9 मई 1919 को बम्बई की ख़िलाफ़त से सम्बन्धित सभा में बोलते हुए गांधी जी ने कहा कि "मेरे जीवन का मुख्य उद्यम दो कर्मों पर है—हिन्दुओं और मुसलमानों में स्थायी एकता तथा सत्याग्रह।"[34]

1916 से कांग्रेस और मुस्लिम लीग में जो गठबंधन चल रहा था वह 1922 तक आते-आते शिथिल पड़ गया। 1924 दिसम्बर की अपनी बैठक, जो जिन्ना की सदारत में लाहौर में हुई थी, में मुस्लिम लीग ने प्रस्ताव पास किया कि फिलहाल अलग मुस्लिम मतदाता मंडल की पद्धति रहनी चाहिए। 1923 में अमृतसर, मुल्तान, मेरठ, मुरादाबाद, रायबरेली, सहारनपुर और अन्य शहरों में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। इनमें सितम्बर में हुआ कोहाट का दंगा सबसे भयंकर था, जिसमें सरकारी हिसाब के अनुसार 155 आदमी हताहत हुए थे और कितने ही घर जला दिये गये थे। इसकी भयंकरता का अंदाज इस बात से भी लगाया जा सकता है कि एक स्पेशल ट्रेन में भरकर चार हज़ार हिन्दुओं को कोहाट क्षेत्र से हटा लिया गया था।[35] 1925 में दिल्ली, कलकत्ता, इलाहाबाद और लाहौर में

बड़े दंगे हुए । सरकारी हिसाब के अनुसार अप्रैल 1926 से लेकर मार्च 1927 तक हिन्दुस्तान में 40 बड़े दंगे हुए, जिनमें 197 आदमी मारे गये और 1,598 घायल हुए ।[36] इनमें कलकत्ता का दंगा बहुत ही भयंकर था। इसमें सरकारी हिसाब के अनुसार 44 आदमी मारे गये थे और 584 घायल हुए थे ।[37] 1925 में लीग ने फिर मुस्लिम मतदाता को चालू रखने पर जोर दिया । संघीय योजना और प्रान्तीय स्वायत्तता पर भी बल दिया। इस बैठक में हर क़िस्म के मुस्लिम नेता मौजूद थे । जिन्ना जो तब तक राष्ट्रवादी ही कहे जाते थे, के अलावा अली बंधु थे जो ख़िलाफ़ती नेता थे, मुहम्मद शफ़ी थे जो ब्रिटिश पिट्ठू थे । इनके अलावा अन्य मुस्लिम दलों के नेता भी इसमें मौजूद थे। उस वक़्त के भारत सरकार के लोक सूचना विभाग के डाइरेक्टर (डाइरेक्टर ऑफ़ पब्लिक इन्फ़ॉरमेशन) जान कोटमैन ने उस बैठक से निकाले निष्कर्षों में कहा—"इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मुस्लिम लीग की इस बैठक की कार्यवाही से यह तथ्य पूरी तौर पर उजागर हो गया है कि प्रभावशाली मुस्लिम नेताओं के विचार और उच्च हिन्दू नेतृत्व के विचारों में मूलभूत अन्तर विद्यमान है ।[38]

मुस्लिम लीग का वार्षिक अधिवेशन दिसम्बर 1925 में कलकत्ता में हुआ । उसके अध्यक्ष अब्दुर्रहीम ने ऐलान किया कि हिन्दुओं की आक्रामक नीति की वजह से मुसलमानों के लिए मुस्लिम लीग की ज़रूरत अब सबसे ज़्यादा है। उन्होंने हिन्दुओं को मुसलमानों का सबसे बड़ा दुश्मन बताया । मुसलमानों से उन्होंने अपील की कि वे अपनी हिफ़ाजत के लिए हर तरह के क़दम उठायें । ज़ोर देकर उन्होंने कहा कि मुसलमानों को हिन्दुओं के साथ आम निर्वाचन क्षेत्र के लिए कभी राज़ी न होना चाहिए । मुसलमानों के निर्वाचन क्षेत्र अलग होने चाहिए। ब्रिटिश शासकों की तारीफ़ के पुल बांधते हुए मुस्लिम साम्प्रदायिकता के इस पुतले ने कहा कि हिन्दुस्तान की तरक्की के लिए ब्रिटेन की मदद निहायत ज़रूरी है ।

"दूसरी तरफ हिन्दू महासभा का भी यही सुर था । अप्रैल 1925 में उसका भी अधिवेशन कलकत्ता में हुआ था । उसने अपना लक्ष्य बताया : हिन्दुओं को संघबद्ध करना, जिन्हें ज़बरदस्ती मुसलमान बनाया गया था, उन्हें फिर से हिन्दू बनाना, हिन्दुओं के धार्मिक त्योहार मनाना आदि । इन लक्ष्यों को प्राप्त करने की दृष्टि से इस अधिवेशन में कई प्रस्ताव पास किये गये, जिन्हें पढ़कर, 1925-26 की सरकारी रिपोर्ट के अनुसार, मुस्लिम समाज के बहुत से लोग चिंतित और क्रुद्ध हो गये थे । हिन्दू महासभा के एक नेता हरदयाल लाल ने लाहौर के पत्र 'प्रताप' में जंगी हिन्दू धर्म का निम्नलिखित कार्यक्रम प्रकाशित किया—मैं घोषणा करता हूं, कि हिन्दुस्तान और पंजाब में हिन्दुओं का भविष्य चार स्तंभों पर आधारित है : 1. हिन्दू समाज, 2. हिन्दुओं की सर्वोच्चता, 3. मुसलमानों को हिन्दू बनाना

4. अफ़गानिस्तान और सरहदी जिलों को अधीन करना तथा वहां के लोगों को हिन्दू बनाना। जब तक हिन्दू क़ौम इन चार कामों को पूरा नहीं करती तब तक हमारे बाल-बच्चों और नाती-पोतों की सुरक्षा पर हमेशा ख़तरा बना रहेगा और हिन्दू-जाति का शांतिपूर्ण अस्तित्व असंभव हो जायेगा।[39]

मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा के नेताओं के ऐसे वक्तव्यों की प्रतिक्रिया हिन्दुओं और मुसलमानों पर क्या होगी, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। ये नेता अपने बयानों से राष्ट्रीय एकता को दुर्बल कर रहे थे और हिन्दुस्तान की आज़ादी के दुश्मन ब्रिटिश साम्राजियों की मदद कर रहे थे।[40]

1926 में 'हिन्दुस्तानी' भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की भाषा बनी! इसी साल भयंकर हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। 1926 में ही एक मुसलमान ने स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या की। स्वामी श्रद्धानन्द उन दिनों उन मुसलमानों और ईसाइयों को पुनः हिन्दू धर्म में दीक्षित करने का अभियान चला रहे थे जो परिस्थितिवश मुसलमान और ईसाई हो गये थे।

1928 में लखनऊ में नेहरू रिपोर्ट पर विचार करने के लिए सभी पार्टियों के मिले-जुले सम्मेलन में जयकर और मुंजे तथा जिन्ना की जो झड़प हुई उससे दोनों क़ौमों के अलगाववादी और साम्प्रदायिक तत्त्वों को बहुत बल मिला। दिल्ली में 'आल पार्टीज़ मुस्लिम कान्फ्रेंस' की बैठक 31 दिसम्बर 1928 तथा 1 जनवरी 1929 को आग़ा ख़ान की सदारत में हुई। इस बैठक में जिन्ना को छोड़कर अधिकांश मुस्लिम दलों के नेताओं ने भाग लिया। ख़िलाफ़त नेता भी इसमें शामिल थे। इस आल पार्टीज़ कान्फ्रेंस ने नेहरू रिपोर्ट को पूरी तरह नामंज़ूर कर दिया। उधर हिन्दू महासभा ने मार्च के अन्त में नेहरू रिपोर्ट द्वारा मुसलमानों के लिए प्रस्तावित कुछ रियायतों के ख़िलाफ़ निर्णय लिया। हिन्दू महासभा पृथक साम्प्रदायिक मतदाता-पद्धति के विरुद्ध और बिना किसी पूर्व शर्त के संयुक्त मतदाता पद्धति की समर्थक थी। महासभा का यह भी सोचना था कि प्रान्तों का साम्प्रदायिक बहुसंख्या के आधार पर पुनर्गठन नहीं किया जाना चाहिए।

रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद' (खण्ड 1, 1982) में 1920 के बाद की राजनीतिक स्थितियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनका मानना है कि 1920 से 1940 तक की अवधि में मुस्लिम लीग को भारत के राष्ट्रवादी आमतौर से साम्प्रदायिक और प्रतिक्रियावादी संगठन मानते थे। उनकी दृष्टि में वह राष्ट्रीय आन्दोलन में फूट डालने के लिए साम्राज्यवाद का साधन थी। यह दृष्टि केवल कांग्रेसजनों की ही नहीं थी, कम्युनिस्टों की भी थी। 1937 में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बनने के बाद जनता में जो असंतोष बढ़ा, उससे लाभ उठाकर मुस्लिम लीग ने पिछड़े हुए मुसलमानों में अपने प्रभाव का विस्तार किया। इस प्रभाव-विस्तार का सीधा कारण कांग्रेसी नेताओं

का सुधारवाद था। इसी सुधारवादी राजनीति के कारण कांग्रेस ने साम्राज्यवाद द्वारा दी हुई रियायतें स्वीकार करके मंत्रिमंडल बनाये। जिन प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने, उन्हीं में मुस्लिम लीग ने सबसे ज़्यादा ज़ोर पकड़ा। इस तथ्य से यह बात साबित होती है कि मुस्लिम लीग के प्रभाव के बढ़ने का सीधा सम्बन्ध अंग्रेज़ों के बनाये हुए 1935 के कानून के अन्तर्गत पद ग्रहण से था। इससे यह नतीजा निकलता है कि मुस्लिम लीग का प्रभाव ख़त्म करने के लिए ब्रिटिश संविधानवाद के चौखटे से बाहर निकलना ज़रूरी था, उन रियायतों को ठुकराना ज़रूरी था जिनके ज़रिये अंग्रेज़ साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देकर राष्ट्रीय आन्दोलन में फूट डाल रहे थे। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का समर्थन अप्रत्यक्ष रूप से 1935 के क़ानून का समर्थन था। दो बातें एक साथ न हो सकती थीं—मंत्रिमंडलों का समर्थन करना और मुस्लिम लीग के प्रभाव को कम करना। यह अनिवार्य था कि जो लोग अंग्रेज़ों के बनाये हुए संविधान के मार्ग पर चल रहे थे, वे मुस्लिम लीग का प्रभाव ख़त्म करने में असफल हों और आगे चलकर उससे समझौता करें।"[41]

रामविलास शर्मा के अनुसार "इस क़ानून (1935 का क़ानून) में साम्प्रदायिक आधार पर मुसलमानों को विशेष रियायतें दी गयी थीं। उसमें राष्ट्रीय विघटन के बीज विद्यमान थे। इन बीजों को अंकुरित करने का काम मंत्रिमंडलों ने किया। मुस्लिम लीग ने कहा, 'अभी इनके हाथ में पूरी सत्ता नहीं है, तब ये मुसलमानों को इतना सता रहे हैं। जब इनके हाथ में पूरी सत्ता आ जायेगी, तब ये मुसलमानों को नेस्तनाबूद करके ही दम लेंगे। इसलिए मुसलमानों का अलग राज्य बनाना चाहिए, वे हिन्दुओं के अधीन होकर एक ही राज्य में कभी न रहेंगे।' 1935 के क़ानून में मुस्लिम सम्प्रदायवाद को जो विशेष रियायतें दी गयी थीं, उन्हीं का तर्क-संगत विस्तार और प्रसार था 1940 का पाकिस्तान प्रस्ताव।"[42]

1937 में पहली मजदूर हड़ताल हुई थी जो एक सप्ताह चली। उसके बाद मजदूरों की दूसरी हड़ताल 1938 में हुई जो 50 दिन तक चली। रामविलास शर्मा का कहना है कि इस हड़ताल को नाकामयाब करने के लिए "खासतौर से मुस्लिम लीग मजदूरों में फूट डालने की कोशिश कर रही थी। लीग का प्रचार यह था कि मजदूर-सभा हिन्दू-संगठन है और कांग्रेसी मंत्रिमंडल की कठपुतली है। मजदूरों ने अपना स्वयंसेवक दल बनवाया। जोशी (पूरनचन्द जोशी) के अनुसार दो हज़ार स्वयंसेवकों में साठ फ़ीसदी मुसलमान थे। मुस्लिम लीग के प्रचार का यह अच्छा जवाब था।"[43]

यहां यह संकेत करना अन्यथा न होगा कि 1885 में जब कांग्रेस की नींव पड़ी थी, तब सैयद अहमद खां ने उसे एक हिन्दू-संगठन बताया था। 1937 की

इस मजदूर सभा को मुस्लिम लीग ने हिन्दू संगठन के रूप में प्रचारित किया—बावजूद इसके कि कांग्रेस और मजदूर सभा दोनों में मुस्लिम सदस्यों की संख्या काफ़ी थी। इससे निष्कर्ष यह निकला कि साम्प्रदायिकता को आगे करके राजनीति करने की कला की शुरुआत सर सैयद अहमद खां ने की थी, मुस्लिम लीग उसी लीक पर चल रही थी, बल्कि घटनाओं के लेखा-जोखा से यह सिद्ध होता है कि मुस्लिम लीग की राजनीति की तो मेरुदण्ड ही साम्प्रदायिकता थी। बावजूद इसके कि लीग के सबसे बड़े नेता के रूप में उभरने वाले जिन्ना बीते ज़माने के प्रगतिशील कांग्रेसी थे और अपने रहन-सहन और ज़बान से अंग्रेज़ों की बराबरी करते थे। सैयद अहमद का रहन-सहन भी काफ़ी-कुछ अंग्रेज़ी ढंग का था पर वे उच्च मध्यवर्ग के मुस्लिम अवाम की बेहतरी के लिए तहे दिल से इच्छुक थे, इस पर किसी को शक नहीं हो सकता। लेकिन जिन्ना की राजनीति का सरोकार अपने को, केवल अपने को शीर्ष पर स्थापित करने के लिए था। कट्टर साम्प्रदायिकता के रास्ते पर चलकर ही वहां पहुंचा जा सकता था। अंग्रेज़ों के हाथ का सहारा भी तभी मिलता। दूसरे निहित स्वार्थ साधन करने वाले और अलगाववादी मुस्लिम नेताओं का सहयोग भी तभी सम्भव था। जिन्ना के लिए कट्टरपंथी साम्प्रदायिकता तलवार भी थी और ढाल भी।

कम्युनिस्ट पार्टी का एक साप्ताहिक पत्र था 'नेशनल फ्रंट'। इसके सम्पादक-मंडल में पूरनचन्द जोशी, रणदिवे, डांगे, अजय घोष और महमूदुज़्ज़फ़र थे। इस संपादक-मंडल से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि महमूदुज़्ज़फ़र उस वक़्त के जाने-माने कम्यूनिस्ट नेता रहे होंगे। डॉ० रामविलास शर्मा ने महमूदुज़्ज़फ़र के 'न्यू एज' मासिक के सन् 1939 में प्रकाशित 'द कम्यूनल बोल्डर' लेख के हवाले से यह कहा कि "उन्होंने मुस्लिम लीग के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाने का सवाल उठाया था।"[44] महमूदुज़्ज़फ़र ने उर्दू का सवाल भी उठाया था, उन्होंने मुस्लिम लीग की इस धारणा का हवाला दिया है कि कांग्रेस की "राष्ट्रीय संस्कृति का उद्देश्य मुसलमानों की अलग पहचान मिटाना है।" यह आरोप मुस्लिम लीग कांग्रेस पर लगा रही थी। कम्यूनिस्ट नेता महमूदुज़्ज़फ़र का सोचना यह था कि इस तरह का आरोप उस वक़्त निरर्थक हो जायेगा जब कांग्रेस हक़ीक़त में मुसलमानों के लिए बड़े पैमाने पर उर्दू के प्रसार और उसकी सुरक्षा का समर्थन करेगी और जनता के इस पिछड़े हुए भाग की शिक्षा को प्रोत्साहन देगी। यदि मुसलमान जनता अपनी भाषा बनाये रखना चाहती है और उसका विकास सबसे अच्छी तरह उस भाषा के माध्यम से ही हो सकता है, तो इस पर हमारी ओर से कोई आपत्ति न होनी चाहिए।"[45]

महमूदुज़्ज़फ़र साहब का कार्यक्षेत्र मुख्य रूप से संयुक्त प्रान्त था। पर वे एक जाने-माने कम्यूनिस्ट नेता थे। सन् 1939 में भाषा को लेकर उनकी सोच

मुस्लिम-लीगी नेताओं की सोच से कितना साम्य रखती है, यह देखकर हैरानी होती है। ऊपर से मज़े की बात यह है कि उक्त लेख साम्प्रदायिकता के बढ़ते असर को रोकने के उपायों को सुझाने के लिए लिखा गया था। महमूदुज़्ज़फ़र ने भी लीगियों की तरह उर्दू को इस्लाम से जोड़कर और मुस्लिम नस्ल की ज़बान के तौर पर देखा है। वे यह बिलकुल भूल जाते हैं कि बंगाल का मुसलमान बंगाली बोलता है और आसाम का असमिया और पंजाब का पंजाबी। महमूदुज़्ज़फ़र के इस विचार पर रामविलास शर्मा की टिप्पणी इस तरह है—"महमूदुज़्ज़फ़र ने उर्दू के साथ हिन्दुस्तान के सारे मुसलमानों का सम्बन्ध जोड़ा है। कश्मीर, सिंध और बंगाल जैसे प्रदेशों में मुसलमानों की भारी संख्या है और उनकी भाषा उर्दू नहीं है, यह बात उनके दिमाग़ में आती ही नहीं है। इसका कारण यह है कि वह सारे देश के मुसलमानों की समस्या को संयुक्त प्रान्त की सीमाओं के भीतर से देख रहे हैं। यदि यह मान लिया जाये कि संयुक्त प्रान्त के मुसलमानों की भाषा उर्दू ही है अथवा समूचे हिन्दी प्रदेश के मुसलमानों की भाषा उर्दू है, तो भी वह सारे देश के मुसलमानों की भाषा कैसे होगी? यदि कोई आदमी, वह मार्क्सवादी ही क्यों न हो, अपने ऊपर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को हावी होने देगा तो वह विभिन्न भाषाएं बोलने वाली जातियों के अस्तित्व को अवश्य दरकिनार करेगा। यदि वह मान लें कि कश्मीरी, सिन्धी, बलूची, पठान, बंगाली मुसलमानों की अपनी-अपनी भाषायें हैं तो सारे देश के मुसलमानों के साथ किसी एक भाषा को जोड़ने वाला खेल ही ख़त्म हो जाय। यह स्वाभाविक है कि उर्दू को मुसलमानों की अपनी भाषा कहा जायेगा तो दूसरे सम्प्रदाय के नेता हिन्दी को हिन्दुओं की भाषा कहेंगे। हिन्दी हिन्दुओं की और उर्दू मुसलमानों की, ये दो अलग-अलग भाषायें हैं, इस स्थापना को निखार-संवार कर आगे सज्जाद ज़हीर ने प्रस्तुत किया किन्तु सबसे पहले, कम से कम बीज रूप में, उसे प्रस्तुत करने का श्रेय महमूदुज़्ज़फ़र को है।"[46]

रामविलास शर्मा ने साम्प्रदायिक समस्या पर ही 12 मार्च 1939 के 'नेशनल फ्रण्ट' में प्रकाशित बी० टी० रणदिवे के लेख का भी उल्लेख किया है। लेख पर विचार करते हुए रामविलास शर्मा ने कहा है कि "सन् 20 के आन्दोलन में उच्च वर्गों के जो मुसलमान नेता शामिल हुए थे, वे ख़िलाफ़त के मसले को, भारत से बाहर के मुसलमानों की धार्मिक समस्या को, राष्ट्रीय स्वाधीनता की समस्या से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। सन् 20 के आन्दोलन में जो साम्प्रदायिक एकता क़ायम हुई थी, वह उच्च वर्ग के नेताओं की सिद्धान्तहीन एकता थी।"[47] रामविलास शर्मा का यह कथन रणदिवे के इस विचार को भ्रामक बताते हुए है कि "1920 के राष्ट्रीय संघर्ष की आधारशिला थी हिन्दू-मुस्लिम एकता। औसत हिन्दुओं और मुसलमानों को गांधी जी ने सिखाया था

कि संघर्ष की सफलता हिन्दू-मुस्लिम एकता पर निर्भर है ।"[48]

रणदिवे के हवाले से रामविलास शर्मा ने लिखा है—"पहले संघर्ष के बाद पांच साल में साम्प्रदायिक दंगे बढ़ते गये । सन् 23 से 27 तक 450 आदमी मारे गये और पांच हजार घायल हुए । इसके बाद मजदूरों के संघर्ष तेज हुए । शहरी मजदूर जाति-बिरादरी और साम्प्रदायिक भेदभाव की चिन्ता किये बिना एकजुट हो रहे थे । साम्राज्यवाद के लिए और फूटपरस्तों के लिए यह नयी चुनौती थी । जनता की एकता क़ायम न हो, इसके लिए साम्राज्यवाद ने पुरानी नीति अपनायी । सन् 27 से 29 के बीच बड़े पैमाने के बीस दंगे हुए । 1929 के दंगों में अकेले बम्बई शहर में 200 आदमी मारे गये । जवाबी हमले के सामने गांधी जी की अपीलें नाकाम रहीं ।"[49]

रामविलास शर्मा ने यह भी कहा है कि मुस्लिम लीग का प्रभाव 1935 के बाद फैला, "जब कांग्रेस ने 1935 का काला क़ानून मंजूर करके प्रान्तीय सरकारें बनायीं । साम्प्रदायिक प्रभाव के फैलने का सीधा सम्बन्ध अंग्रेज़ों की इस नीति से था कि वे कांग्रेस को सन् 35 के क़ानून के अनुसार सरकारें बनाने पर विवश करें ।" यहीं पर डॉ० शर्मा ने यह भी कहा है कि "यह ध्यान देने की बात है कि राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध साम्राज्यवाद का मुख्य अस्त्र मुस्लिम सम्प्रदायवाद था ।"[50]

रामविलास शर्मा का विचार है कि "भारत के जातीय प्रदेशों की स्थिति पर अलग-अलग विचार किये बिना साम्प्रदायिक समस्या का विवेचन हो ही नहीं सकता । बंगालियों, पंजाबियों, सिन्धियों, पठानों, कश्मीरियों की जातीयता को अस्वीकार करके सारे देश के हिन्दुओं को एक जाति मानकर सारे मुसलमानों को दूसरी जाति मानना अंग्रेज़ों की नीति थी । इस नीति पर चले बिना और दूसरों का चलाये बिना वे मुस्लिम लीग को सारे मुसलमानों का संगठन घोषित न कर सकते थे ।"[51]

1931 के शुरू में काशी और कानपुर में भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए । इन दंगों के लिए सरकार की मजम्मत करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा—

"सरकार अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ उसका दमन न कर सकी । बुद्धि यह मानने को तैयार नहीं होती कि जो सरकार राजनीतिक आन्दोलन का दमन करने में इतनी तत्परता से काम ले सकती है, इतनी आसानी से गोलियां चलवा सकती है, वह इस अवसर पर इतनी अशक्त हो गयी कि उसकी उपस्थिति में रक्त की नदी बह गयी और वह कुछ न कर सकी···। साधारण बुद्धि जिस नतीजे पर पहुंची है वह यह है कि सरकारी कर्मचारियों ने जान-बूझकर केवल यह दिखाने के लिए कि बगैर सरकारी सहायता के तुम लोग कुछ नहीं कर सकते, यहां तक कि शांतिपूर्वक रह भी नहीं सकते और तुम्हें एक-दूसरे को फाड़ खाने से बचाने

के लिए एक तीसरी बलवान शक्ति का रहना अनिवार्य है, इस हत्याकाण्ड को रोकने की कोशिश नहीं की। उनका यह अभिप्राय पूरा हुआ या नहीं, हम नहीं कह सकते, लेकिन इतना हम कह सकते हैं कि सरकार का जो कुछ रहा-सहा विश्वास था वह भी जनता के दिलों से उठ गया।"[52]

26 अक्टूबर 1932 को प्रेमचन्द ने लिखा : "लखनऊ के मुस्लिम सम्मेलन ने एकमत से संयुक्त निर्वाचन स्वीकार कर लिया। बहुमत से नहीं, एकमत से। एकता की इच्छा सभी उपस्थित नेताओं में इतनी प्रबल थी कि इसका निर्णय करने के लिए सम्मेलन का बाकायदा जलसा करने की ज़रूरत ही न पड़ी। गांधी के तप में कितनी महान शक्ति है।

"अब तक साम्प्रदायिक मुस्लिम पार्टी का यह दावा था कि राष्ट्रवादी मुसलमान संख्या में बहुत थोड़े हैं, आम मुसलमान उनके साथ नहीं है। लखनऊ सम्मेलन ने उस दावे को बातिल सिद्ध कर दिया। ऐसी कोई मुस्लिम संस्था नहीं है, जिसके प्रतिनिधि इस सम्मेलन में न शरीक हुए हों, यहां तक कि जिस मुस्लिम कान्फ्रेंस को मुसलमानों का सोलह आने प्रतिनिधि कहा जाता है, उसके तीन पिछले सभापति, वर्तमान उपसभापति और मन्त्री तक आये थे। जमैयतुल उलमा, राष्ट्रीय मुस्लिम दल और अहरार दल तो पहले ही से संयुक्त निर्वाचन के समर्थक हैं। इसलिए अब यह कहना कि मुस्लिम बहुमत पृथक निर्वाचन के पक्ष में है, सत्य की आंखों में धूल झोंकना है। फिर भी शिमला-पार्टी या इकबाल-पार्टी के गिने- गिनाये नेता अपनी खिसियाहट को मिटाने के लिए इस सम्मेलन के प्रतिनिधित्व को स्वीकार नहीं करते···।

"सम्मेलन ने स्व० मौलाना मुहम्मद अली के सिद्धान्त को हिन्दुओं से समझौते का आधार माना है···।

"सम्मेलन ने मि० जिन्ना की चौदह शर्तों में पृथक निर्वाचन के सिवा और तेरह शर्तों को भी हिन्दू-मुस्लिम समझौते का आधार माना है···।

"लखनऊ की कान्फ्रेंस तथा वर्तमान हिन्दू-मुस्लिम संन्धि चर्चा में स्व० मौलाना मुहम्मद अली के प्रस्ताव तथा मुस्लिम कान्फ्रेंस की तेरह शर्तों का ज़िक्र बार-बार हुआ है। मौलाना मुहम्मद अली के प्रस्तावों के अनुसार कौंसिल या असेम्बली के किसी भी उम्मीदवार के लिए दो आवश्यक शर्तें होंगी।

1. वह दूसरे सम्प्रदाय (मुसलमान के लिए हिन्दू जाति) के कम से कम दस फ़ीसदी मत प्राप्त करे।
2. अपने सम्प्रदाय के कम से कम चालीस फ़ीसदी मत प्राप्त करे।
3. यदि कोई उम्मीदवार सजातीय निर्वाचकों का चालीस फ़ीसदी मत प्राप्त न कर सके, तो निर्णय बहुमत के अनुसार हो।
4. मि० जिन्ना की प्रस्तावित मुसलमानों की तेरह मांगें निम्नलिखित

हैं—

1. सरकार का भावी शासन फेडरल होना चाहिए,
2. अवशिष्ट अधिकार प्रान्तों को मिलने चाहिए,
3. बिलोचिस्तान में सुधारों को चालू किया जाए,
4. संधि का विच्छेद,
5. सीमा प्रान्त को समान अधिकार,
6. पंजाब और बंगाल में मुसलमानों का स्थिर बहुमत,
7. फेडरल असेम्बली में मुसलमानों का एक-तिहाई प्रतिनिधित्व,
8. मुस्लिम अल्पसंख्यकों का आबादी के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व,
9. व्यवस्थापिका सभाओं में एक सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाला ऐसा कोई बिल पेश न हो और प्रस्ताव पास न किया जाए जिसके विरोध में उस समुदाय के तीन-चौथाई सदस्य हों,
10. धार्मिक और संस्कृति सम्बन्धी स्वतन्त्रता की रक्षा,
11. प्रान्तीय या संघ सरकार के मंत्रिमंडल में दो-तिहाई मन्त्री मुसलमान हों,
12. सरकारी नौकरियों में योग्यता को देखते हुए मुसलमानों को नौकरियों का कम से कम अनुपात नियत कर दिया जाए, और
13. शासन-विधान में कोई भी परिवर्तन तब तक न किया जाए, जब तक फेडरेशन बनाने वाले सब दलों की सहमति न हो।

इन्हीं शर्तों को जनवरी 1929 में आगा खां की अध्यक्षता में आल इंडिया मुस्लिम कान्फ्रेंस ने पास किया था। इन्हीं शर्तों को लखनऊ कान्फ्रेंस ने स्वीकृत किया है।"

ऐसा नहीं था कि सभी हिन्दू नेता या हिन्दू-समर्थक समाचार-पत्र हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक ही थे। अनेक नेता और हिन्दू-समर्थक पत्र समय-समय पर ऐसी एकता के रास्ते में रोड़े अटकाया करते थे। प्रेमचन्द ने 31 जून 1932 के अपने एक लेख[53] में प्रयाग में होने वाले हिन्दू-मुस्लिम एकता सम्मेलन की तैयारियों के उल्लेख के साथ उसकी सफलता के विषय में संदेह ज़ाहिर किया है। उन्होंने एक ओर वायसराय, जिसने इस मौक़े पर गांधी जी को रिहा करने की अपील को ठुकरा दिया था, को तथा दूसरी ओर हिन्दू-समर्थक उर्दू पत्र 'कर्मवीर' के सम्पादकीय लेख की भर्त्सना की है। 'कर्मवीर' के सम्पादकीय के जो उद्धरण दिये गए हैं उनका एक अंश इस तरह है—"हमारे लिए तो पहले ही सम्प्रदायवादी और राष्ट्रवादी मुसलमानों में कोई अन्तर न था। केवल आंखों का धोखा था। अब यह धोखा खुलकर सामने आ गया···लखनऊ सम्मेलन इसी मानी में तो कामयाब कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयता का दम भरने वाले

मुसलमान भी साम्प्रदायिकता की गन्दी नाली में बह गये, लेकिन हिन्दुस्तानी दृष्टिकोण से लखनऊ सम्मेलन असफल ही नहीं रहा, बल्कि उसने साम्प्रदायिकता की जड़ों को और मज़बूत कर दिया है। निस्संदेह यह सम्मेलन राष्ट्रवादी मुस्लिम दल की मौत था। उसे लखनऊ ही में दफ़न कर दिया जाय, तो अच्छा है।"

प्रयाग में होने वाले इसी एकता सम्मेलन पर 7 नवम्बर 1932 को 'आशा का केन्द्र' शीर्षक से लिखते हुए प्रेमचन्द ने लिखा—"प्रयाग का एकता सम्मेलन इस समय हमारी राष्ट्रीय आशा का केन्द्र बना हुआ है ··।

"वास्तव में जो कुछ मतभेद है, वह केवल शिक्षित समुदाय के अधिकार और स्वार्थ का है। राष्ट्र के सामने जो समस्या है, उसका सम्बन्ध हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई सभी से है। बेकारी से सभी दुखी हैं। दरिद्रता सभी का गला दबाये हुए है। नित नयी-नयी बीमारियां पैदा होती जा रही हैं। उसका वार सभी सम्प्रदायों पर समान रूप से होता है। कर्ज की इल्लत में सभी गिरफ्तार हैं। ऐसी कोई सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक दुरवस्था नहीं है, जिससे राष्ट्र के सभी अंग पीड़ित न हों। दरिद्रता, बीमारी, अशिक्षा, बेकारी हिन्दू और मुसलमान का विचार नहीं करती। हमारे किसानों के सामने जो बाधाएं हैं, उनसे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही पीड़ित हैं। राष्ट्र का उद्धार इन समस्याओं को हल करने से होगा। कितने मेम्बर हिन्दू हैं, कितने मुसलमान, कितने ईसाई, कितने सिक्ख—किस पद पर मुसलमान पहुंच गया है, किस पर हिन्दू, किस पर सिक्ख, यह तो बिल्कुल गौण बातें हैं, लेकिन इन्हीं गौण बातों को प्रधान समझा जा रहा है और थोड़े से व्यक्तियों के हित पर राष्ट्र का बलिदान किया जा रहा है···।"

'एकता के विरुद्ध सम्प्रदायवादियों का शोर-गुल' शीर्षक से 28 नवम्बर 1932 को प्रेमचन्द ने लिखा—"यह तो मालूम ही था कि एकता-सम्मेलन के निर्णय को, भेदभाव के आश्रय में पलने वाले लोग पसन्द न करेंगे। उधर तो एकता सम्मेलन हो रहा था, इधर रेडियो में दौड़-धूप मची हुई थी कि किस तरह जल्द से जल्द उसका विरोध करके खुशनूदी का सेहरा सिर बांध लिया जाये। लेकिन इससे ज़्यादा खेदजनक पृथकतावादी मुसलमानों का वह षड्यंत्र है, जिसे हमारे राष्ट्रीय मुस्लिम सहयोगी 'हकीकत' ने खोला है। सहयोगी लिखता है—

"मालूम हुआ है कि प्रयाग-एकता सम्मेलन के बाद से दलबन्द मुसलमानों में गहरी साजिश हो रही है कि सम्मेलन के फैसलों के विरुद्ध मुसलमानों में आन्दोलन शुरू किया जाये। इन्हीं महानुभावों की दौड़-धूप और प्रयास से मौलाना शौकत अली को महात्मा जी से यरवदा जेल में मिलने की अनुमति नहीं दी गयी थी। इस काम के लिए तीन-चार मुस्लिम समाचार-पत्रों को मिला लिया

गया है। मुसलमानों को इस साज़िश से होशियार रहना चाहिए। ये लोग न मुल्क के दोस्त हैं, न अपनी क़ौम के। केवल स्वार्थ के बन्दे हैं—चाहे राष्ट्र-सम्मान को कितना ही बड़ा आघात पहुंच जाये।"

आगे प्रेमचन्द लिखते हैं—"इसके बाद की ख़बर है कि मुस्लिम लीग और मुस्लिम कान्फ्रेंस तथा जमैयतुल उलमा कानपुर के पचास सभासदों ने दिल्ली में जमा होकर प्रयाग के निर्णय का विरोध किया, और शेख अब्दुल मजीद तथा अन्य राष्ट्रीय मुसलमानों ने इस सभा में सम्मिलित होना उचित न समझा, क्योंकि यहां लोग पहले से प्रयाग का विरोध करने का फैसला कर चुके थे।"

प्रेमचन्द हिन्दू-मुस्लिम एकता के बहुत बड़े समर्थक थे। जहां कहीं उन्होंने मुस्लिम नेताओं या हिन्दू नेताओं की आलोचना की है वहां ऐसा करने के औचित्य को लेकर किसी शंका की कोई गुंजायश नहीं हो सकती। उनका सम्पूर्ण लेखन इस बात को सिद्ध करता है। उनका यह सोचना था कि एकता के लिए पहल हिन्दुओं की ओर से होनी चाहिए। 7 मार्च 1932 को लिखे उनके लेख का यह अंश उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए काफ़ी है—"हमारा हमेशा से यह ख़याल रहा है कि एकता के विषय में पहले हिन्दुओं को हाथ बढ़ाना होगा। वह संख्या में, धन में, शिक्षा में मुसलमानों से बढ़े हुए हैं। मुसलमान अल्पसंख्यक हैं। उन्हें हिन्दुओं से आशंकित होने के लिए आधार हो सकते हैं। उन्हें यह शुब्हा हो सकता है कि हिन्दू संगठित होकर उनको हानि पहुंचा सकते हैं। हिन्दुओं के लिए ऐसी शंका करने का कोई कारण नहीं है।"[54]

जिन्ना ने 8 जनवरी 1946 को कैबिनेट मिशन के एक सदस्य बायट को यह इत्मीनान दिलाया कि "पाकिस्तान साम्राज्य में रहेगा और उसका गवर्नर जनरल ब्रिटिश होगा। पाकिस्तान आर्थिक दृष्टि से हिन्दुस्तान के बहुत पीछे होगा, इस कारण उसके विकास के लिए ब्रिटिश उद्योग-धन्धों और व्यापार को प्रोत्साहन दिया जायेगा।"[55]

रामविलास शर्मा ने इस पर विचार व्यक्त किया है कि "जब से मुस्लिम लीग का जन्म हुआ, तब से निरन्तर धीरे-धीरे किन्तु निश्चित गति से अंग्रेज़ इसी विकल्प की ओर बढ़ रहे थे। वे कांग्रेस से इसी आधार पर बातें कर रहे थे कि मुसलमानों का प्रतिनिधित्व मुस्लिम लीग करती है और हिन्दुओं का कांग्रेस। कांग्रेस के नेता यह स्थिति स्वीकार न करते थे किन्तु अंग्रेज़ों से सुलह-समझौते की बात इसी आधार पर होती थी।"

यहीं पर रामविलास शर्मा ने यह भी कहा है कि—"1937 में जब कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने, तब मुस्लिम लीग उन प्रान्तों में तेजी से शक्तिशाली बनी जिनमें मुसलमान अल्पसंख्यक थे। अल्पसंख्यक मुसलमानों के आन्दोलन को अंग्रेज़ों ने बहुसंख्यक मुसलमानों का आन्दोलन बना दिया। पाकिस्तान के लिए सबसे

ज़ोरदार आन्दोलन कर रहे थे संयुक्त प्रान्त के मुसलमान, न कि सीमा-प्रान्त या सिन्ध के मुसलमान। कांग्रेसी मंत्रिमंडल 1935 के जिस ब्रिटिश कानून के आधार पर बने थे, उसमें विभाजन के बीज मौजूद थे।"

असम प्रान्त के गवर्नर सर ऐन्ड्र क्लाउ ने 1945 में सर डेविड कोलविल, जो वैसे बम्बई प्रान्त के गवर्नर थे, पर गवर्नर-जनरल वैवेल की अनुपस्थिति में उनका कार्यभार संभाल रहे थे, को पाकिस्तान से सम्बन्धित अपने दस्तावेज़ में लिखा कि—"इस बात से इनकार करना मुश्किल जान पड़ता है कि पाकिस्तान की मांग को जीवन्त समस्या बना देने में एक हद तक हमारा योगदान भी रहा है।"

क्लाउ ने जिन्ना की आलोचना करते हुए कहा कि "उन्होंने पाकिस्तान की व्याख्या नहीं की। अपनी बात अस्पष्ट रखने से वह पाकिस्तान के लिए समर्थन प्राप्त कर सके।"[56]

रामविलास शर्मा ने ठीक कहा है कि "मुस्लिम लीग भारत के बहुसंख्यक मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था है, यह दावा सरासर झूठ है, यह बात अंग्रेज़ों से ज़्यादा अच्छी तरह और कोई न जानता था। बहुसंख्यक मुसलमानों के प्रदेशों से जो पाकिस्तान बनेगा, वह अर्थतंत्र की दृष्टि से बहुत ही कमजोर होगा, सुरक्षा की दृष्टि से भारत और पाकिस्तान दोनों राज्य कमजोर होंगे और दोनों को, विशेष रूप से पाकिस्तान को, अंग्रेज़ों पर निर्भर रहना होगा, यह बात भी वे जानते थे।"[57]

"दि ट्रांसफ़र ऑफ़ पॉवर' पृ० 852 पर जवाहरलाल नेहरू द्वारा 27 जनवरी 1946 का स्टैफोर्ड क्रिप्स को लिखा गया पत्र भी है, जिसे रामविलास शर्मा ने उद्धृत किया है। नेहरू ने क्रिप्स को लिखा कि "इस नीति (प्रतिक्रियावादी और पुरातनपंथी) का अनुसरण करते हुए अलग निर्वाचिक मंडल की शुरुआत की गयी। इस बीज से यह विष-वृक्ष पनपा जो अब इतना बड़ा हो गया कि उसने हमारे सारे राष्ट्रीय जीवन में विष घोल दिया है और प्रगति की राह रोक दी है। राष्ट्रीय आन्दोलन की बढ़ती के साथ अंग्रेज़ सरकार और उसके कारिन्दों ने अलगाववादी प्रवृत्तियों को और भी शह देना आरम्भ किया। खास तौर से मुस्लिम लीग की बढ़ती को उन्होंने प्रोत्साहन दिया। और दूसरे संयठनों को कांग्रेस ने बहुत कुछ हटा दिया, सिर्फ लीग रह गयी। इसलिए उन्होंने तरह-तरह से लीग की मदद की। आज भी चुनावों में बहुत से सरकारी अफ़सर सक्रिय रूप से लीगी उम्मीदवारों की सहायता कर रहे हैं। मतदाताओं की सूचियां इस तरह से कतरब्यौंत करके तैयार कीं कि लीग को फ़ायदा हो। बड़ी तादाद में फ़र्ज़ी नाम जोड़ दिये गये। बनारस में यह करिश्मा हुआ कि शहर में जितने मुसलमान हैं, उनसे ज़्यादा के नाम मुस्लिम

सूची में हैं।"

नेहरू के इस पत्र से अंग्रेज़ सरकार की अलगाववादी भूमिका के बारे में किसी को कोई शक नहीं रह जाता। इस बारे में भी कोई शक नहीं रह जाता कि मुस्लिम लीग और जिन्ना अंग्रेज़ शासकों के मात्र एक मोहरा थे।

इस बात को पहले बताया जा चुका है कि उलमा समेत अनेक मुस्लिम संगठन ऐसे थे जो अंग्रेज़ों की चालबाजियों से वाक़िफ़ थे और उनके झांसे में नहीं आ रहे थे। ये संगठन मुस्लिम लीग को भी सख़्त नापसन्द करते थे और लीग द्वारा फैलायी गयी साम्प्रदायिकता की भी ख़िलाफ़त करते थे। "अप्रैल 1946 में राष्ट्रवादी मुसलमानों के कुछ प्रतिनिधि कैबिनेट मिशन से मिलने गये। मिशन की ओर से क्रिप्स ने पूछा कि वे किसके प्रतिनिधि हैं। मौलाना हुसैन अहमद मदनी ने कहा कि वह आल इंडिया मुस्लिम पार्लियामेंट्री बोर्ड के प्रेज़िडेंट हैं। इसमें जो संगठन शामिल हैं, उनकी सदस्य संख्या कई लाख है। ज़हीरूद्दीन ने कहा कि वे आल इंडिया मोमिन कान्फ्रेंस के प्रेज़िडेंट हैं और मोमिनों की संख्या चार करोड़ है, जो कुल मुस्लिम आबादी का लगभग आधा हिस्सा है, उनके संगठन में चार लाख बाकायदा सदस्य हैं। हिसामुद्दीन आल इंडिया अहरार सभा के प्रेज़िडेंट थे, उनके संगठन की सदस्यता एक लाख से ऊपर थी। अब्दुल मजीद ख़्वाजा आल इंडिया मुस्लिम मजलिस के प्रेज़िडेंट थे, इसके सदस्य राष्ट्रवादी मुसलमान थे, उनकी संख्या का उन्हें पता न था। शिया मुसलमानों के संगठन आल पार्टीज शिया कान्फ्रेंस के प्रेज़िडेंट हुसेनी भाई लाल जी थे। ब्रिटिश भारत में ढाई करोड़ और देशी रियासतों में पचास लाख शिया थे।

हुसेनी भाई का कहना था कि पिछले अक्टूबर में आल पार्टी शिया कान्फ्रेंस हुई। उसने पाकिस्तान की मुस्लिम लीगी मांग का अनुमोदन नहीं किया। दो क़ौमों का सिद्धान्त अव्यावहारिक है।···मोमिन नेता ज़हरूद्दीन ने कहा कि असली लड़ाई तो आर्थिक है, राजनीति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। लीग कुछ वर्गों का प्रतिनिधित्व करती है और धर्म का बेजा उपयोग करती है।··· मुस्लिम अवाम पाकिस्तान के ख़िलाफ़ है, देश का बंटवारा होने पर उनकी हालत और भी खराब हो जाएगी।···मौलाना मदनी ने कहा कि ब्रिटिश शक्ति का यहां से हटना ज़रूरी है।···हिसामुद्दीन ने कहा कि—मुस्लिम लीग ने अवैध उपायों से सीटें जीती हैं। आर्थिक दृष्टि से पाकिस्तान अव्यावहारिक है।"[58]

अब सवाल है कि ये संगठन जिनकी सदस्य संख्या कुल मिलाकर मुस्लिम आबादी की साठ-पैंसठ फ़ीसदी से अधिक ही होगी, देश के बंटवारे के विरुद्ध और मुस्लिम लीग की अलगाववादी दुरभिसंधि के विरुद्ध कोई प्रभावी क़दम

क्यों नहीं उठा पाये ?

उसका एक कारण तो यह था कि ब्रिटिश सत्ता की सम्पूर्ण ताक़त मुस्लिम लीग का साथ दे रही थी। लीग के प्रति अंग्रेज़ों की पक्षधरता एक खुलेआम बात थी, जिसकी वजह से दूसरे मुस्लिम राष्ट्रवादी संगठनों के लिए लीग का मुक़ाबला करना कठिन था। दूसरा कारण यह था कि 1937 के कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के बनने से जनता की हर परेशानी और अभाव के लिए लीगियों ने कांग्रेस को उत्तरदायी ठहराना शुरू किया और भेदभाव के मनगढ़न्त किस्से और तरह-तरह की अफ़वाहें फैलाकर निचले तबके के मुस्लिम अवाम को भड़काना शुरू किया जिसका नतीजा लीग के पक्ष में गया। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को कुछ करके दिखाने का मौक़ा ही नहीं मिला और उन्हें इस्तीफ़े देने पड़ गये। 1935 का क़ानून जिसके तहत इन मंत्रिमंडलों का गठन हुआ था, उसका ढांचा ही ऐसा था, जिससे अलगाववाद और साम्प्रदायिक शक्तियां पुष्ट होती थीं। इसीलिए सैंतीस से उन्तालीस-चालीस के दौरान कांग्रेस की लोकप्रियता क्षीण हुई थी, और लीग का प्रचार बढ़ा था। विशेष रूप से संयुक्त प्रान्त में जो मुस्लिम लीग का गढ़ था और देश-विभाजन के सिद्धान्त का मुख्य प्रवर्तक। यह कितनी अजीब सच्चाई है कि देश का जो भाग सम्भाव्य पाकिस्तान का हिस्सा बनने वाला था, वह पाकिस्तान के लिए उतना उत्सुक नहीं था, जितना उन जगहों के मुसलमान थे जिनका पाकिस्तान बनने पर उजड़ना लाज़िमी था। उन्हें क्या मालूम था कि पाकिस्तान बनने पर सिंधी और पंजाबी मुसलमान उन्हें हेच समझेंगे और मोहाजिर बनकर एक अन्तहीन जद्दोजहद में छलांग लगाने के लिए उन्हें मजबूर होना पड़ेगा।

तीसरा कारण यह था कि चालीस में पाकिस्तान प्रस्ताव के बाद लीगियों ने पाकिस्तान बन जाने पर हर तरह से एक सुखी ज़िन्दगी के सब्ज़बाग़ दिखाने शुरू किये थे। पाकिस्तान कैसे बनेगा, कहां बनेगा, यह सब बातें चर्चा में नहीं थी, मात्र हवाई क़िले की अवधारणा को ज़ोर-शोर से प्रचारित किया जा रहा था। अंग्रेज़ सब कुछ जानते-समझते हुए भी इस तरह के प्रचार में लीगियों का साथ दे रहे थे। मुस्लिम अवाम उस रेले में बह चली। अबुलकलाम आज़ाद और दूसरे अनेक राष्ट्रवादी बड़े नेताओं की चेतावनियों का भी कुछ असर नहीं हुआ। जो मध्यम दरजे के मुस्लिम नेता थे, उनकी स्थिति किंकर्तव्यविमूढ़ जैसी हो रही थी। कलकत्ता का भयंकर खून-ख़राबा लीगियों के इसी प्रभाव का प्रतिफल था।

चौथा कारण यह था कि ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम लीग को मुस्लिम क़ौम के प्रतिनिधि के तौर पर एक तरह से मान्यता दे रखी थी। इसीलिए कांग्रेस को हर बार मुस्लिम लीग से ही बातचीत करनी पड़ती थी। 1945 के

शिमला सम्मेलन के मौक़े पर जिन्ना के वीटो का वाइसराय के मान लेने से, और 23 अगस्त 1946 को मुस्लिम लीग के ख़िलाफ़ किसी क़दम के उठाये जाने के प्रति नेहरू को वैवेल की चेतावनी आदि अनेक वाक़िआत से अंग्रेज़ी सरकार की लीग के प्रति पक्षधरता एकदम साफ़ हो गयी थी।[59]

पांचवां कारण यह था कि मुस्लिम लीग के नेताओं में अधिकतर बड़े जमींदार, नवाब, ताल्लुक़ेदार और बड़े वकील थे, जिनके पीछे मुस्लिम अवाम नहीं थी, परन्तु एक लम्बे समय से इस वर्ग का दबदबा लोगों के दिमाग़ों पर आतंक की तरह छाया हुआ था। लोगों की इस मानसिक दुर्बलता का लीग को फ़ायदा पहुंचा।

अंग्रेज़ों की मदद से स्थितियां ऐसी बना दी गईं कि लीग पूरी मुस्लिम क़ौम की प्रतिनिधि बन बैठी और राष्ट्रवादी मुस्लिम संगठन पृष्ठभूमि में चले गये।

1945-46 के चुनावों में मुस्लिम लीग ने मुस्लिम मतदाताओं को अपनी ओर करने के लिए किस-किस तरह के हथकंडे अपनाये, उसके विस्तार में यहां जाने की ज़रूरत नहीं है, केवल एक उद्धरण देना काफी होगा। चुनाव के बाद पंजाब के गवर्नर, बी० ग्लैन्सी ने वाइसराय को भेजी गयी अपनी रिपोर्ट में अम्बाला के डिप्टी कमिश्नर की रिपोर्ट का हवाला दिया—"साम्प्रदायिक स्थिति के और भी बिगड़ने की रिपोर्टें मिली हैं, यह राजनीतिक दलों के ज़हरीले कुप्रचार का परिणाम है, ख़ास तौर पर मुस्लिम लीग के। मुस्लिम लीग ने मुस्लिम मतदाताओं को धमकाया है कि जो मुसलमान मुस्लिम लीग को वोट नहीं देगा उसे क़ौम से निकाल दिया जाएगा, उसके मृतक को मुस्लिम क़ब्रगाह में दफ़नाने की इज़ाज़त नहीं दी जाएगी, और जुमा के दिन सामूहिक नमाज़ से उसे बाहर कर दिया जाएगा।"[60]

उस चुनाव में ग्यारह प्रान्तों में से आठ में कांग्रेस ने बहुमत हासिल किया, यहां तक कि सिंध, पंजाब और बंगाल तक में मुस्लिम लीग सरकार बनाने की स्थिति में नहीं थी।

2 सितम्बर 1946 को केन्द्र में नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस की अंतरिम सरकार बनी। इसके पहले अंतरिम सरकार के गठन को लेकर 24 अगस्त 1946 को वाइसराय वैवेल ने रेडियो से घोषणा की। उन्होंने कहा कि प्रस्तावित अंतरिम सरकार में कांग्रेस द्वारा नामज़द किये जाने वाले सदस्यों की संख्या छः होगी, अल्पसंख्यक वर्ग के तीन प्रतिनिधि होंगे और मुस्लिम लीग के पांच सदस्य होंगे। साथ ही उन्होंने यह भी घोषणा की कि मुस्लिम लीग पर किसी महत्त्वपूर्ण मसले को लेकर बहुमत का फ़ैसला थोपा नहीं जा सकेगा।

मुस्लिम लीग ने पहले सरकार में शामिल होने से मना किया। पर बाद में

नेहरू सरकार को बदनाम करने और उसे असफल बनाने तथा क़दम-क़दम पर उसके रास्ते में रोड़े अटकाने के इरादे से 26 अक्टूबर 1946 को मुस्लिम लीग अंतरिम सरकार में शामिल हुई। सरकार में शामिल होने वाले जिन्ना द्वारा नामज़द सदस्य राजा ग़ज़नफ़र अली खां ने इस्लामिया कॉलेज लाहौर के विद्यार्थियों के समक्ष बोलते हुए इसके पहले कहा कि "हम अंतरिम सरकार में इसलिए शामिल हो रहे हैं कि पाकिस्तान के प्रिय उद्देश्य के लिए लड़ने को पैर जमाने की जगह मिल जाये। मैं आपको यक़ीन दिलाता हूं कि हम पाकिस्तान लेकर रहेंगे।"[61] लियाकत अली भी अंतरिम सरकार में शामिल होने वाले सदस्य थे। उन्होंने कराची में 20 अक्टूबर' 46 को कहा कि "मुसलमानों का उद्देश्य पाकिस्तान है और उसके लिए आख़िरी लड़ाई की तैयारी करने में मुसलमानों को थोड़ी भी गफ़लत न करनी चाहिए।"[62]

उसके बाद नोआखली, बिहार और गढ़ मुक्तेश्वर के दंगे हुए। जिन्ना ने इन दंगों से फ़ायदा उठाया और सारा दोष हिन्दुओं के सिर मढ़ने की कोशिश की। इस बीच साम्प्रदायिक तनाव बहुत अधिक बढ़ा।

अंतरिम सरकार में लीग के शामिल होने से कांग्रेस और लीग में सामीप्य और एकता की जगह दोनों में आपसी दूरी बहुत तेजी से बढ़ी। और इस अन्तर्विरोध के कारण सरकार में रहकर कांग्रेस सामाजिक उत्थान के लिए जो थोड़ा बहुत कुछ कर रही थी उसको करने का मौक़ा हाथ से जाता रहा। मुस्लिम लीग सरकार में शामिल ही इसलिए हुई थी कि हर मुद्दे को साम्प्रदायिक आधार पर ही विचार करने को बाध्य करे। सरकार में शामिल मुस्लिम लीग के सदस्य हर सही सरकारी कदम की ख़िलाफ़त करना अपना फ़र्ज़ समझते थे। थोड़े में स्थिति यह थी कि कांग्रेस और लीग की मिली-जुली अंतरिम सरकार से हिन्दू-मुस्लिम अलगाव बहुत बढ़ा और सरकार में रह रहे सदस्यों को इस बात का तीव्र अहसास होने लगा कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग का साथ मिलकर काम करना लगभग असम्भव है। पर परिस्थितियां ऐसी थीं कि कांग्रेस सरकार छोड़ नहीं सकती थी, और लीग जान-बूझकर सरकार नहीं छोड़ रही थी। कांग्रेस के सरकार छोड़ने का मतलब था अंतरिम सरकार का पतन, और अंतरिम सरकार के गिर जाने के बाद के विकल्प के बारे में एकदम अनिश्चय की स्थिति थी।

गुप्तचर विभाग के निदेशक सर नार्मन स्मिथ ने एक दस्तावेज़ तैयार किया था जिसे 24 जनवरी 1947 को रोनैल्ड हैरिस, जो भारत सचिव पेथिक लारेन्स के सचिव थे, को भेजा गया था। इस दस्तावेज़ में स्मिथ ने लिखा कि "अभी तक खेल ठीक खेला गया है : (क) कांग्रेस और लीग दोनों को केन्द्रीय सरकार में ले आया गया है, (ख) इस प्रकार भारतीय समस्या सम्प्रदायवाद के

अपने उपयुक्त धरातल पर पहुंचा दी गयी है (दि इंडियन प्रॉब्लम हैज़ बीन देयरबाइ थ्रस्ट इन टु इट्स अप्रोप्रिएट प्लेन ऑफ़ कम्यूनिलिज़्म।")[63]

इस सबका मतलब यह हुआ कि मुस्लिम लीग की सारी शक्ति साम्प्रदायिकता के मंत्र से ही प्राप्त होती थी, और उसका अस्तित्व साम्प्रदायिकता की बढ़ोत्तरी पर ही क़ायम था। साथ ही चालीस के बाद यह भी स्पष्ट हो गया था कि अंग्रेज़ी सत्ता की कूटनीति भी इसी, केवल इसी साम्प्रदायिकता की धुरी से फूटती थी। और तो और, स्वयं अंग्रेज़ी सरकार का अस्तित्व इसी साम्प्रदायिकता के बलबूते पर टिका हुआ था। क्योंकि अगर साम्प्रदायिक अमन-चैन होता तो ब्रिटिश-विरोधी माहौल बनने में देर नहीं लगती जिसके परिणामों से अंग्रेज़ नावाक़िफ़ नहीं थे। स्मिथ ने अपने उसी दस्तावेज़ में लिखा कि "गम्भीर साम्प्रदायिक उपद्रवों से विचलित होकर हमें ऐसी कार्रवाई में न लग जाना चाहिए जिससे ब्रिटिश-विरोधी आन्दोलन फिर शुरू हो जाय। इस तरह के आन्दोलन से बेहद ख़तरनाक परिस्थिति पैदा हो सकती है, ऐसी कि हम कहीं के न रहें।"

राजाओं और तआलुक़ेदारों की मुस्लिम लीग और जिन्ना अंग्रेज़ों के मुखौटे ही थे, और केवल मुखौटे थे, उनकी अपनी कोई हस्ती नहीं थी। और तो और, पैंतालीस, छियालीस और सैंतालीस में मुहम्मद अली जिन्ना के बड़बोलेपन और अड़ियलपने के जो तेवर दिखाई देते हैं, वह भी दरअसल अंग्रेज़ों के इशारे पर ही होता था, और वहीं तक रहता था, जहां तक अंग्रेज़ इसे चाहते थे। जिन्ना की उन सब कार्रवाइयों के पीछे अंग्रेज़ों की उंगलियां दिखायी देती हैं। 'ट्रान्सफ़र ऑफ़ पॉवर' के दस्तावेज़ों को देखने से इसमें अब कोई रहस्य नहीं रह गया है।

गांधी और माउंटबेटन की पहली बातचीत 31 मार्च 1947 को हुई थी जो दो घंटे से ऊपर चली। दूसरे दिन गांधी और माउंटबेटन की दूसरी बातचीत हुई जिसमें गांधी ने माउंटबेटन को बताया कि हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष अंग्रेज़ी राज के 'फूट डालो और शासन करो' की नीति के परिणामस्वरूप पैदा हुआ और इसी नीति की वजह से हमेशा यह विद्वेष जिन्दा रहा। इसी बैठक में गांधी ने माउंटबेटन के समक्ष यह विचार रखा कि जिन्ना को मुस्लिम लीग के सदस्यों के साथ केन्द्र में अंतरिम सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया जाय। गांधी जी पहले भी कैबिनेट मिशन के समक्ष यह विचार रख चुके थे। गांधी के दिमाग़ में यह विचार यों ही नहीं आ गया था। दरअसल हिन्दुओं और मुसलमानों को अविभाजित रखने का यह एक आख़िरी उपाय था जिसे गांधी ने वाइसराय के समक्ष रखा था। आखिर वाइसराय ही वह व्यक्ति था जो इसे चरितार्थ कर सकता था। इसके पहले के सारे प्रयास निष्फल गये थे। सितम्बर 1944 में बम्बई में गांधी और जिन्ना की बातचीत की चौदह बैठकें बिना किसी परिणाम के हो चुकी

थीं। जिन्ना दो राष्ट्र (टू नेशन्स) की सोच में भटक रहे थे, इसलिए उन्होंने गांधी को साफ शब्दों में सितम्बर '44 में कहा कि "पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के रूप में भारत के बंटवारे को स्वीकार करना ही भारत की समस्याओं का एकमात्र हल है।"[64]

गांधी ने 'हिन्दू-मुस्लिम दो राष्ट्र हैं', इसे कभी स्वीकार नहीं किया। इस पर उनका जवाब था : "इतिहास में मुझे ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिसमें मत-मतान्तर को स्वीकार कर लेने वाले लोग या उनकी संतानें अपने को अपने मूल से अलग राष्ट्र होने का दावा करें। इस्लाम के प्रचार के पहले यदि भारत एकराष्ट्र था तो अपनी संतानों में से बहुत बड़ी संख्या में धार्मिक मत बदल लेने के बावजूद वह एक ही राष्ट्र माना जायेगा।"[65]

गांधी ने स्पष्ट शब्दों में यह कहा कि "भारत के हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र नहीं हैं। ईश्वर ने जिन्हें एक बनाया है, मनुष्य उन्हें कभी भी बांट नहीं सकता।"[66]

जिन्ना की योजना के लिए 'दो नेशन सिद्धान्त' बहुत अनुकूल बैठता था। पहले भी सर सैयद अहमद खान ने 'हिन्दू-मुस्लिम दो नेशन्स हैं,' इसे काफी प्रचारित किया था। सर सैयद की टोली के सभी नेता इसी सिद्धान्त के क़ायल थे। बाद के अलगाववादियों के लिए तो यह एक बहुत बड़ा मोहरा साबित हुआ। जिन्ना उन्हीं अलगाववादियों की नीति पर चलकर अपनी ओर से अकाट्य तर्क रख रहे थे। उन्होंने 17 सितम्बर 1944 को गांधी जी से कहा कि "नेशन की किसी भी परिभाषा और टेस्ट से देखें मुसलमान और हिन्दू दो नेशन्स हैं।"[67] वैसे इस तथ्य से सभी परिचित हैं कि जिन्ना जड़वादी मुसलमान नहीं थे, और अपने राजनीतिक जीवन के आरम्भिक वर्षों में वे हिन्दू-मुस्लिम सद्भाव और ऐक्य के हिमायती थे। काठियावाड़ के खोजा परिवार में उनका जन्म हुआ था जिसे हिन्दू से मुसलमान हुए अभी बहुत दिन नहीं हुए थे। मोहम्मद अली जिन्ना भाई के पितामह हिन्दू थे। जिन्ना अपने दौर के सबसे बड़े हिन्दू-विरोधी नेता थे, बावजूद इसके कि वे दादाभाई नौरोजी और गोपालकृष्ण गोखले के शिष्य थे।

हिन्दू-अतिवादियों तथा कुछ इतिहासकारों का यह आरोप था कि भारत-विभाजन के लिए गांधी को भी दोषी ठहराया जाना चाहिए।

3 जून 1947, जिस दिन सरकार ने भारत-विभाजन की योजना घोषित की, उसके बाद की घटनाओं पर मन्मथनाथ दास ने विभाजन और आजादी से सम्बन्धित अपनी पुस्तक[68] में माउंटबेटन पेपर्स के हवालों से कहा है कि 3 जून 1947 के विभाजन से सम्बन्धित सरकारी बयान के दूसरे दिन कृष्ण मेनन ने माउंटबेटन को बताया कि गांधी (विभाजन सम्बन्धी बयान से) बहुत अधिक खिन्न और भाव-प्रवण मनःस्थिति में हैं और कुछ कांग्रेसी नेताओं को यह डर है

कि उस दिन शाम की प्रार्थना-सभा में वे योजना (विभाजन) की भर्त्सना करके उसे स्वीकार करने से मना करने की अपील न कर दें। वाइसराय इस सूचना से बहुत अधिक चिन्तित हुए और उन्होंने तुरन्त गांधी को प्रार्थना-सभा से पहले मुलाकात के लिए आमंत्रित किया। गांधी 6 बजे वाइसराय से मिलने गये, 7 बजे का समय प्रार्थना का था। माउंटबेटन ने महसूस किया कि गांधी अव्यवस्थित और खिन्न मानसिक अवस्था (इन ए वेरी अपसेट मूड) में हैं। गांधी ने कहा, 'मैंने ज़िन्दगी भर जिस अविभाज्य भारत को देखने के लिए अथक परिश्रम किया, वह इस नये प्लान से विनष्ट हो गया है।' माउंटबेटन ने अपनी असमर्थता जताते हुए कहा कि केवल यही प्लान सम्भव दिखाई दे रहा है।

उस दिन की शाम की प्रार्थना-सभा में गांधी ने देश को आश्वस्त किया कि कांग्रेस हथियारों की शक्ति के सामने नहीं झुकी है—हां, परिस्थितियों की शक्ति के सामने उसे घुटने टेकने पड़ रहे हैं। उन्होंने मुस्लिम लीग की ग़लत नीतियों पर गहरा दुःख प्रकट किया और कहा कि जो कुछ हुआ है उसके लिए माउंटबेटन को वे दोष नहीं देते, दोष कांग्रेस और लीग का है।

मन्मथनाथ दास ने आगे यह कहा है कि गांधी के सब कुछ स्वीकार कर लेने के बाद भी ब्रिटिश उनकी ओर से निश्चित नहीं हो पाये थे। उस समय के माउंटबेटन पेपर्स के हवालों से दास ने इसे दिखाया है।[69]

मन्मथनाथ दास ने माउंटबेटन पेपर्स के आधार पर घटनाओं का जो ज़िक्र किया है, उससे कुछ सवाल उठते हैं और शंकाएं पैदा होती हैं। पहला सवाल यह पैदा होता है कि 3 जून 1947 की विभाजन-घोषणा के दूसरे दिन वी० के० कृष्ण मेनन भागे-भागे सीधे माउंटबेटन के पास पहुंचते हैं और उनसे गांधी के क्षोभ और खिन्न तथा भावप्रवण मानसिक स्थिति का ज़िक्र करते हुए यह जानकारी देते हैं कि इस प्लान को प्रार्थना-सभा में गांधी अस्वीकार कर देने की बात कहेंगे, इसलिए माउंटबेटन उन्हें पहले ही समझा-बुझा दें। माउंटबेटन भी गांधी को बहुत खिन्न (अपसेट) मानसिक अवस्था में पाते हैं। उनकी बातचीत होती है। गांधी उस दिन की प्रार्थना-सभा में यह स्पष्ट संकेत देते हैं कि कांग्रेस ने परिस्थितियों के सामने घुटने टेक दिये हैं, और जो कुछ हो रहा है, उसके लिए कांग्रेस और लीग दोषी है।

सवाल यह है कि वी० के० कृष्ण मेनन को इस बात का इलहाम कैसे होता है कि गांधी उस दिन की प्रार्थना-सभा में विभाजन के खिलाफ़ उठ खड़े होने का ऐलान करेंगे। कृष्ण मेनन गांधी जी के क़रीबी लोगों में नहीं थे। वे जवाहरलाल नेहरू के सबसे करीब समझे जाते थे। जब माउंटबेटन भारत आया और उसे बताया गया कि कांग्रेस के दो कैम्प हैं, जिनके नेता जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल हैं, तो दोनों को साधने के लिए, और एक-दूसरे के बारे में वे क्या

सोचते हैं, इस जैसी बहुत-सी भीतरी बातों की जानकारी हासिल करने के लिए माउंटबेटन ने दो व्यक्तियों को जान-बूझकर मुंह लगाया था। वी० के० कृष्ण-मेनन से नेहरू के मन की बात, और उनकी योजनाओं की पूरी जानकारी उसे मिलती थी, तथा वी० पी० मेनन से पटेल की योजनाओं की जानकारी। इस तरह मेनन द्वय की मदद से माउंटबेटन दो दिग्गजों पर निगाह रखता था।

गांधी जी ने उसी प्रार्थना-सभा में कांग्रेस के परिस्थितियों की शक्ति के सामने घुटने टेकने की बात कही है। वह कौन-सी कांग्रेस थी जिसने परिस्थितियों के सामने घुटने टेके थे? क्या वह कांग्रेस जो एक जन-समुद्र थी? लेकिन वह कांग्रेस तो नहीं हो सकती थी, क्योंकि उस आम जन समर्थन वाली कांग्रेस को तो दिल्ली में जो खेल खेला जा रहा था, उसकी कोई खास जानकारी ही नहीं थी। उसे कोई जानकारी होती तो वह इस सारे खेल का पर्दाफ़ाश न करती। गांधी ने जिस कांग्रेस के घुटने टेकने की बात कही थी, यह इससे बहुत साफ हो जाता है। यह वह कांग्रेस थी जिसके नेताओं को प्रधान मंत्री, उप-प्रधान मंत्री और मंत्रियों के रूप में शपथ लेनी थी। स्वतन्त्र भारत में बड़ी-बड़ी कुर्सियों पर बैठना था।

माउंटबेटन के समक्ष जब गांधी ने जिन्ना के नेतृत्व में केन्द्र में मुस्लिम लीग की सरकार बनाने की योजना रखी तो माउंटबेटन ने कुछ बड़े नेताओं से उस पर विचार-विमर्श किया। आज़ाद को यह योजना बहुत पसन्द आयी थी और उनके हिसाब से इसे कार्यान्वित भी किया जा सकता था। उन्होंने यह भी कहा कि "इस प्लान से हो रहे खून-खराबे पर जल्दी काबू पाया जा सकता है।"[70]

माउंटबेटन ने नेहरू के समक्ष जब इस योजना को रखा तो नेहरू की प्रति-क्रिया एकदम भिन्न थी। उन्होंने बताया कि गांधी केबिनेट मिशन के समक्ष भी इस योजना को रख चुके हैं, उस वक्त अव्यावहारिक कहकर इसे नकार दिया गया था। यह हल आज एक साल के बाद वास्तविकता से और भी दूर हो गया है। नेहरू ने आगे कहा कि गांधी "चार महीनों से बाहर थे और केन्द्र की घटनाओं से उनका सम्पर्क भी तेज़ी से टूटता जा रहा था।"[71]

अर्थात् नेहरू 'गांधी प्लान' में गांधी के साथ नहीं थे। उसके प्रति अवहेलना की हद तक उदासीन थे। गांधी ने भी नेहरू तथा कांग्रेस कार्यकारिणी के दूसरे सदस्यों से इस पर बातचीत की पर वे किसी को भी राज़ी नहीं कर पाये। राज़ी हुए केवल बादशाह खान।[72]

वी० के० कृष्ण मेनन ने माउंटबेटन से 4 जून को गांधी की नाराज़गी की जो बात कही उसमें यह भी कहा कि 'कुछ कांग्रेसी नेताओं को यह डर है कि शाम की सभा में गांधी योजना के विरुद्ध फ़ैसले की कहीं अपील न कर

दें।' सवाल है कि वे कांग्रेसी नेता कौन थे जो कृष्ण मेनन को माउंटबेटन तक पहुंचाने के लिए यह संदेश दे रहे थे ?

उस वक़्त की पूरी परिस्थिति और घटनाओं पर विचार करने पर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि विभाजन के लिए दोषी हस्तियों की पंक्ति में गांधी को बैठाना उनके प्रति बहुत बड़ा अन्याय है। हिन्दू अतिवादी गांधी जी को विभाजन के लिए दोषी इसलिए ठहराते हैं, क्योंकि उनका ख़याल है कि यदि गांधी कमर कसकर विभाजन के ख़िलाफ़ खड़े हो जाते तो यह विभाजन कभी भी हो नहीं सकता था। उस समय की गोपनीय फाइलों और पत्र-व्यवहार आदि के प्रकाश में आने से अब यह स्पष्ट हो गया है कि परिस्थितियां कुल मिलाकर इस तरह की थीं कि गांधी कमर कसकर खड़े नहीं हो सकते थे। और तो और, कांग्रेस के वरिष्ठ नेता भी उनकी पहुंच के बाहर हो गये थे। उन्हें अपने को सरकार कहलाने के दिन नज़दीक आते दिखाई दे रहे थे। उन सुनहले ख़्वाबों को असलियत में बदलने की उन्हें जल्दी थी। उनकी उम्रें काफ़ी हो चुकी थीं जिनका काफ़ी बड़ा हिस्सा जेलों में गुज़रा था, अब कहीं जाकर चैन की सांस लेने का मौक़ा आ रहा था। इसलिए कोई कुछ न कहकर भी आज़ादी को पकड़ लेने की जल्दी में था। दूसरी ओर अंग्रेज़ी राज की तिकड़मों की भूल-भुलैया थी जिसका संचालन माउंटबेटन कर रहा था, जो हंसमुख, बातों का धनी और सहज ही दूसरों को अपने वश में कर लेने वाली मुस्कान का धनी था। तीसरी ओर जिन्ना और मुस्लिम लीग ने बेहिसाब खून-खराबा और उपद्रव मचाया हुआ था। जिन्ना के मुंह खून लग चुका था, अंग्रेज़ी राज का हाथ उसकी पीठ पर था। जिन्ना और दूसरे लीगी नेताओं ने मुस्लिम अवाम को पाकिस्तान के दिवा-स्वप्न के इन्द्रजाल के सामने खड़ा कर दिया था। विशेष रूप से संयुक्त प्रान्त और बिहार जैसे अल्पसंख्यक मुस्लिम आबादी वाले प्रान्तों के मुसलमानों की अच्छी-खासी संख्या को इसमें पूरा यकीन था कि पाकिस्तान बनते ही उनके सारे दुख दूर हो जाएंगे और वे एक बेफिक्र ज़िन्दगी के मालिक होंगे। ऐसे माहौल में गांधी की प्रासंगिकता और उनकी भूमिका काफी कम हुई थी। 11 अप्रैल 1947 को गांधी जी ने माउंटबेटन को भेजे गये अपने पत्र में लिखा कि "आप अपने विचार-विमर्श से मुझे अलग कर दें। अब वे कांग्रेस जन ही अगुआ हैं जो अन्तरिम सरकार में हैं। जहां तक कांग्रेस के दृष्टिकोण का सवाल है, वे ही पूरी तौर पर सलाहकार होंगे।"[73] जिस आज़ादी के लिए गांधी ज़िन्दगी भर लड़ते रहे थे, उसके हासिल होने के क्षणों में वे संसार के सबसे दुखी व्यक्ति थे। विभाजन और दंगों ने उन्हें अन्दर तक हिला दिया था। अपने अन्तर्राष्ट्रीय प्रसारण के लिए बी० बी० सी० ने जब उनसे संदेश के लिए प्रार्थना की तो उनका जवाब था, "आप यह भूल जाइये कि मैं अंग्रेज़ी जानता हूं।"[74] भारत

सरकार के सूचना और प्रसारण मंत्रालय को भी उन्होंने कहा कि मेरे पास कोई संदेश नहीं है। कलकत्ता के बेलियाघाट में उस दिन उपवास पर बैठे हुए वे सूत कात रहे थे।

कुछ इतिहासकारों ने भी विभाजन के लिए गांधी को दोषी ठहराया है। इतिहास आखिर इतिहास है, किसी घटना या इतिहास-पुरुष के किसी कथन को लेकर आप अपनी व्याख्या उस पर थोप दें या अपने हिसाब से उसे तोड़-मरोड़ दें तो कौन आपको रोकेगा।

कुछ लोगों ने गांधी को साम्प्रदायिक भी कहा है। जिन बातों और घटनाओं को सबूत के तौर पर वे रखते हैं, उनमें एक यह है कि गांधी अपने निकट धार्मिक अतिवादियों को भी रखते थे और साम्प्रदायिकता का इस्तेमाल अपने लिए करते थे, मसलन ख़िलाफ़त आन्दोलन में उनका सक्रिय योगदान और इस आन्दोलन से जुड़े अली बंधु—मोहम्मद अली और शौकत अली—या मुस्लिम सम्प्रदायवादी तत्त्वों से उनकी निकटता और उनका उपयोग।

'स्टेट्समैन' के 8 मई 1990 के अंक में विमलेन्दु एस० दत्त रे का एक लेख छपा है। उसमें दत्त रे ने यह कहा है कि गांधी जी जब दक्षिण अफ्रीका से भारत वापस आये तो 'गुजरात सोसाइटी' ने एक स्वागत समारोह किया। उस स्वागत समारोह की अध्यक्षता जिन्ना कर रहे थे। गांधी जी ने उस स्वागत समारोह में बोलते हुए कहा कि उन्हें यह देखकर बड़ी खुशी हुई है कि इस समारोह की अध्यक्षता एक मुसलमान सज्जन कर रहे हैं। दत्त रे ने इसमें टिप्पणी जोड़ी है कि इस तरह गांधी जी बड़ी चालाकी (क्लेवरली) से जिन्ना के मुसलमान होने का परिचय सबके सामने ज़ाहिर करते हैं।

दत्त रे ने इस घटना का उल्लेख स्टेनले वोलपर्ट की पुस्तक 'जिन्ना ऑफ़ पाकिस्तान' के हवाले से किया है। वोलपर्ट ने यह लिखा है कि गांधी जी का जिन्ना को मुसलमान बताकर अलगाना उचित नहीं था, क्योंकि जिन्ना अपनी पोशाक, व्यवहार, भाषा और आचरण में से किसी से भी मुसलमानों के निकट नहीं पड़ते थे।

इस घटना का उल्लेख वोलपर्ट और दत्त रे ने गांधी जी को साम्प्रदायिक सिद्ध करने के लिए किया है, जो कि निश्चय ही गांधी के प्रति अन्याय है। अगर गांधी जी ने अपने स्वागत के मौक़े पर बोलते हुए इस बात की खुशी ज़ाहिर की कि उस समारोह की अध्यक्षता एक मुसलमान सज्जन द्वारा की जा रही है, तो भला गांधी के इस उद्‌गार में साम्प्रदायिकता कहां से दिखाई देने लगी। बल्कि गांधी इस बात से प्रभावित हुए होंगे कि उनके स्वागत में आयोजित गुजराती समाज का समारोह केवल हिन्दुओं का समारोह नहीं है। यह बात निश्चय ही महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट थी कि उस समारोह की अध्यक्षता एक

मुस्लिम नेता द्वारा की जा रही थी। इसी महत्त्व को महसूस करते हुए उन्होंने इसका उल्लेख किया होगा। ऐसे उद्‌गार में साम्प्रदायिकता को ढूंढ़ना निश्चय ही गांधी जैसे महामानव के प्रति अन्याय है।

जहां तक ख़िलाफ़त आन्दोलन के मौक़े पर मुस्लिम कट्टरपंथियों का साथ देने का सवाल है, उसे गांधी जी ने 9 मई 1919 को बम्बई में ख़िलाफ़त आन्दोलन की सभा में बोलते हुए स्पष्ट किया था। उन्होंने कहा था, "मुझसे पूछा जा सकता है कि एक हिन्दू होते हुए मुस्लिम समस्या में मैं क्यों अपने को उलझा रहा हूं ? उसका उत्तर यह है कि आप (मुसलमान) मेरे पड़ोसी हैं, और मेरे देशवासी हैं। यह मेरा कर्तव्य है कि आपके दुख में मैं शरीक होऊं। मैं हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात करते हुए उसे व्यवहार में उतारने के मौक़े से दूर कैसे रह सकता हूं।"[75]

ख़िलाफ़त आन्दोलन निश्चय ही एक रूढ़िवादी कट्टरपंथी मुस्लिम आन्दोलन था। इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि इससे अतिवादी तत्त्वों को शह मिली थी। विश्व-इस्लामवाद को भी इससे बढ़ावा मिला था। धार्मिक रूढ़िवादिता का यह एक नमूना था। शायद यह भी कहा जा सकता है कि मुस्लिम साम्प्रदायिकता को इससे बहुत बल मिला था। सवाल है कि इन तथ्यों के मद्दे-नज़र कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं ने ख़िलाफ़त आन्दोलन में अपनी साझेदारी क्यों दी ? मुझे उसका एक ही उत्तर सूझता है—ख़िलाफ़त को उस समय की राजनैतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखने की ज़रूरत है। अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ लड़ाई का यह भी एक अस्त्र था। मुसलमानों में अंग्रेज़ी राज विरोधी मानसिकता बनाने में भावनात्मक स्तर पर और व्यवहार में उनके साथ होना ज़रूरी था। ख़िलाफ़त से साम्प्रदायिकता बढ़ी होगी, यह माना जा सकता है, पर अगर गांधी और दूसरे बड़े नेता ख़िलाफ़त आन्दोलन के दौरान मुसलमानों के साथ न होते तो मुस्लिम साम्प्रदायिकता और भी कई गुना बढ़ती। गांधी उसमें शरीक न होकर उसे रोक नहीं सकते थे, उसमें शरीक होकर उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम सद्‌भाव का एक नया अध्याय जोड़ा था। उलमा कट्टरपंथी मुसलमान थे, पर आज़ादी की लड़ाई में आधुनिक और पश्चिमी ढंग के शिक्षित कहे जाने वाले मुस्लिम समुदाय से कहीं अधिक सक्रिय थे। इस तथ्य के अपने कारण थे, और अपनी ऐतिहासिक ज़रूरतें थीं। ख़िलाफ़त आन्दोलन में गांधी जी का सक्रिय योगदान उस नाज़ुक समय की अपनी ऐतिहासिक आवश्यकता थी, जिसे हम नज़रअन्दाज़ नहीं कर सकते हैं।

1930 के बाद शुरू होने वाले दशक के आरम्भिक वर्षों में लंदन में पढ़ रहे एक हिन्दुस्तानी विद्यार्थी चौधरी रहमत अली ने पाकिस्तान शब्द को गढ़ा था। उसने पंजाब के पहले वर्ण प, अफ़ग़ान (अर्थात पश्चिमोत्तर प्रान्त) के अ, कश्मीर

के क, सिंध के स और बलूचिस्तान के 'तान' को लेकर पाकिस्तान शब्द बनाया था। रहमत अली का विचार उस वक़्त शेखचिल्ली की उड़ान-जैसा था। उस वक़्त भी यह विचार एक दिवास्वप्न-जैसा ही था, जब इक़बाल ने 28 मई, 1937 के जिन्ना को लिखे पत्र में अलगाववादी प्रवृत्ति को बढ़ावा देने पर ज़ोर दिया और मुस्लिम वतन की धुंधली अवधारणा को उनके सामने रखा। इक़बाल 'सारे जहां से अच्छा' गीत के कवि थे, जो हिन्दुस्तान के सर्वाधिक लोकप्रिय गीतों में से एक है। उसी अपने गुलिस्तां को दो फाड़ करने के लिए जिन्ना को वे भड़का रहे थे। इक़बाल जिन्ना ही की तरह पश्चिमी सभ्यता से पूरी तरह वाक़िफ़ थे और कैम्ब्रिज तथा म्यूनिख विश्वविद्यालयों से उन्होंने डिग्रियां हासिल की थीं। इधर कुछ लोगों ने उनके बारे में कुछ नई बातों का पता लगाया है, जिनसे उनके व्यक्तित्व की मूल बनावट पर रोशनी पड़ती है।

6.5.1988 को इंडियन एक्सप्रेस में यू० एन० आई० के हवाले से एक समाचार प्रकाशित हुआ है, जिसमें यह कहा गया है कि इक़बाल ने एक ही थीसिस पर कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से 1907 में बी० ए० की डिग्री ली थी, और लगभग चार महीने के बाद ही उसी थीसिस पर 1907 में ही म्यूनिख विश्वविद्यालय से उन्हें पी-एच० डी० की डिग्री प्रदान की गई। यह ख़बर इंग्लैण्ड में इक़बाल एकेडेमी के अध्यक्ष तथा बरमिंघम विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग के डॉ० सईद अख़्तर दुर्रानी ने दी है। डॉ० दुर्रानी ने कहा है कि अपने ढाई वर्ष के कैम्ब्रिज-प्रवास के दौरान जो थीसिस इक़बाल ने प्रस्तुत की, उसका शीर्षक था 'दि डेवलपमेंट ऑफ़ मेटाफिज़िक्स इन पर्शिया'। इसी थीसिस के फुटनोट में कुछ फेरबदल करके चार महीने बाद इसे पी-एच० डी० के लिए म्यूनिख विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया, जिस पर पी-एच० डी० प्रदान की गई। फुटनोट में थोड़ा परिवर्तन भी प्रो० टामस आर्नल्ड के निबन्धों और पुस्तकों के संदर्भ को उसमें सम्मिलित करने के इरादे से किया गया था। प्रो० आर्नल्ड इक़बाल के अध्यापक और गाइड थे। डॉ० दुर्रानी ने यह भी कहा कि म्यूनिख विश्वविद्यालय में इकबाल के पी-एच० डी० के गाइड डॉ० होमेल थे, जो सेमिटीक धर्म के ज्ञाता थे, जिनका 'आज़मी फलसफ़ा' (गैर-अरब पश्चिमी एशिया का दर्शन) से कुछ लेना-देना नहीं था। डॉ० होमेल ने इक़बाल के फ़ारसी और अरबी के ज्ञान को सत्यापित किया। इक़बाल की थीसिस को जांचने के लिए प्रोफ़ेसर हर्टलिंग नियुक्त हुए, जो कैथलिक धर्म के प्रोफ़ेसर थे। उन्होंने स्वीकार किया है कि थीसिस के कथ्य पर साधिकार कुछ कहने में वे असमर्थ हैं। थीसिस के दूसरे परीक्षक प्रो० लिप्स थे, वे भी थीसिस के कथ्य पर साधिकार कुछ कहने के योग्य नहीं थे।

24 मार्च, 1920 का जो 'लाहौर प्रस्ताव' था, उस प्रस्ताव की भाषा से भी

यह बखूबी स्पष्ट है कि स्वयं जिन्ना और मुस्लिम लीग के दिमाग़ में पाकिस्तान की कोई साफ़ तस्वीर नहीं है। इससे यह भी ज़ाहिर होता है कि लीगी नेताओं ने इस मसले पर गम्भीरता से आपसी विचार-विमर्श नहीं किया हुआ था। प्रस्ताव के ड्राफ्ट में इसीलिए अन्तर्विरोधी बातें आ गयी हैं। लेकिन इसका कारण यह नहीं है कि प्रस्ताव कोई जल्दी में रखा गया था। यह कारण नहीं है, असल कारण यह है कि हिन्दुस्तान में से एक अलग देश काटकर निकाल लिया जा सकता है, इस पर किसी को भी यक़ीन नहीं था। जिन्ना को भी नहीं। इसलिए प्रस्ताव को बहुत गम्भीरता से लिया नहीं गया।

1937 में गठित हुई कांग्रेसी सरकारों ने जब 1939 में त्याग-पत्र दिये तो जिन्ना ने हिन्दुस्तान भर के मुसलमानों का आह्वान किया कि 22 दिसम्बर (1939) को कांग्रेसी शासन से छुटकारे के रूप में 'मुक्ति दिवस' मनाया जाय। और इससे उत्साहित होकर लाहौर प्रस्ताव पास कर पाकिस्तान का एक ढीला-ढाला खाका मुस्लिम लीग ने रखा। इतिहास के किन मोड़ों पर कौन-सा रहस्य छिपा होता है, यह कहना आसान नहीं होता। 1942 के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के दौरान गांधी, नेहरू, पटेल, आज़ाद समेत सभी बड़े कांग्रेसी नेता जेलों में डाल दिये गए। उसका एक नतीजा यह हुआ कि जिन्ना को बहुत बड़ा मौका हाथ आया मुस्लिम लीग को मजबूत करने का और साम्प्रदायिक कुप्रचार फैलाने का तथा मुस्लिम क़ौम के एक बड़े वर्ग को अपनी ओर करने का। ब्रिटिश कूटनीति इसमें उनका साथ दे रही थी। सिविल सेवा के बहुत से अंग्रेज़ पदाधिकारी मुस्लिम साम्प्रदायिकता को हमेशा की तरह बढ़ावा दे रहे थे।

दूसरी बात यह हुई कि जिन्ना ने विश्व-युद्ध के मौक़े का फ़ायदा उठाते हुए अंग्रेज़ों का साथ देने के बदले में युद्ध के उपरांत 'पाकिस्तान' की हिमायत का अंग्रेज़ों से वायदा लिया। 13 सितम्बर, 1942 को प्रेस कांफ्रेंस में बोलते हुए जिन्ना ने चर्चिल की बातों को दोहराते हुए नई दिल्ली में यह कहा कि "कांग्रेस न तो भारत का और न ही नौ करोड़ मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करती है…। मैं इस (बात) पर खासतौर पर बल देना चाहता हूं कि युद्ध की घोषणा केवल ब्रिटिश और सरकार के ख़िलाफ़ नहीं हुई है, बल्कि यह युद्ध मुस्लिम लीग के ख़िलाफ़ भी है।"[76] जिन्ना ने 42 से 45 के बीच अपनी ताक़त को काफी बढ़ाया। अंग्रेज़ों की मदद से वे अपने उस दावे पर और अधिक हठ करने लगे कि मुस्लिम लीग ही मुस्लिम क़ौम की एकमात्र प्रतिनिधि है। अर्थात् उनकी निगाह में, और प्रकारान्तर से ब्रिटिश सरकार की निगाह में, राष्ट्रवादी मुसलमान और उलमा फालतू हो गये, जो मुसलमानों के प्रवक्ता के रूप में मान्य नहीं हो सकते थे। वाइसराय से लेकर नीचे के अंग्रेज़ पदाधिकारी तक इस धारणा को फैलाने में सहायक थे। जुलाई 1945 तक क़ायम रहने वाली चर्चिल की कन्जर्वेटिव सरकार इसको

खुल्लमखुल्ला प्रश्रय दे रही थी। मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने और पाकिस्तान को चरितार्थ करने में चर्चिल का बहुत बड़ा हाथ था। चर्चिल खुले तौर पर मुस्लिम अलगाववाद को बढ़ावा देता रहा था। 1945 में कन्जर्वेटिव सरकार के गिर जाने के बाद भी चर्चिल पाकिस्तान बनाये जाने के पक्ष में अडिग रहा। और चर्चिल ही क्यों, बहुत से कन्जर्वेटिव सदस्य पाकिस्तान का सपना साकार करने में लगे थे। और तो और, स्वयं किंग और महारानी भी पाकिस्तान के पक्ष में थे।[77]

उन अंग्रेज़ गर्वनरों में जो खुलेआम या पर्दे के पीछे से मुस्लिम लीग का पक्ष ले रहे थे, ओलफ़ किर्कपैट्रिक कैरो का नाम सबसे ऊपर था, जो नार्थ वेस्ट फ्रंटियर प्रान्त का गवर्नर था। पश्चिमोत्तर प्रान्त के चीफ़ सेक्रेटरी कर्नल डीला फार्क ने स्वयं माउंटबेटन को यह बताया कि कैरो के गवर्नर के रूप में बने रहने से ब्रिटिश प्रतिष्ठा के लिए बहुत बड़ा खतरा है।" (वाज़ इन फ़ैक्ट ए मेनेस टु ब्रिटिश प्रेस्टीज) 4 अप्रैल' 47 को ख़ान अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ान को साथ लेकर गांधी जी माउंटबेटन से मिले। गफ़्फ़ार खां ने वाइसराय से गवर्नर कैरो के खुले-आम लीग पक्षपात की शिकायत की और कहा कि इंडियन सिविल सर्विस के ब्रिटिश पदाधिकारी इस पक्षपातपूर्ण रवैये में गवर्नर का पूरा साथ दे रहे हैं। माउंटबेटन ने इस पर गांधी जी के विचार को जानना चाहा। इस पर गांधी का विचार था कि "आई० सी० एस० के बहुत से पदाधिकारी, ख़ासतौर पर वे जो उच्च पदों पर आसीन हैं, वे भारत से अंग्रेज़ों का जाना बर्दाश्त नहीं कर सकते। उन्होंने यह सिद्धान्त भी बनाया हुआ है कि सक्रिय रूप से मुस्लिम लीग को समर्थन देकर देश को इस बिन्दु पर ले आयें जिससे यह धारणा पक्की हो कि अंग्रेज़ों के भारत छोड़ने पर यहां गृह-युद्ध के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रहेगा।"[78]

अंग्रेज़ी राज ने फूट का जो ज़हर देश की नसों में पहुंचा दिया था, समय के साथ वह और गहरा होता गया है। हिन्दी-उर्दू का साम्प्रदायीकरण और उनका राजनीतिक इस्तेमाल देशी राजनेताओं का भी एक बड़ा हथियार है। साम्प्रदायिकता उससे भी बड़ा अस्त्र है, जो शीर्ष पर विराजमान राजनेताओं से लेकर निचली सीढ़ियों पर आसीन राजनीतिक-अपराधियों को अत्यन्त प्रिय है। भाषाओं का आपसी सामरस्य और धर्म-निरपेक्षता जैसे शब्दों की अर्थ-शून्यता अब किसी से छिपी नहीं रह गयी है।

सन्दर्भ

1. सरस्वती, भाग 3, सं० 12, 1902, पृ० 387
2. वही, भाग 8, सं० 5, 1907, पृ० 173
3. गवर्नमेंट गजट, नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज एण्ड अवध, भाग 6, अप्रैल 1900 ई.
4. सरस्वती, भाग 14, सं० 3, 1913
5. वही, भाग 14, सं० 4, 1913, पृ० 226
6. वही, भाग 14, सं० 4, 1913, पृ० 244
7. फाउंडेशंस आफ़ पाकिस्तान, सं० सैयद शरीफुद्दीन पीरज़ादा, भारतीय संस्करण, 1982, भाग 1, 1906-1924, पृ० 196
8. वही, पृ० 132
9. सरस्वती, भाग 1, सं० 6, 1900, पृ० 185-7 से उद्धृत
10. वही, भाग 1, सं० 4, 1900, पृ० 124
11. वही, भाग 15, सं० 4, 1914, पृ० 201
12. वही, पृ० 202
13. वही, पृ० 202
14. वही, सं 4, पृ० 287
15. वही, भाग 15, सं० 1, 1914
16. वही, भाग 17, सं० 1, 1916, पृ० 64
17. वही, सं० 5, पृ० 307
18. वही, सं० 3, पृ० 188-9
19. प्रभा दीक्षित, 1857 : अंग्रेज़ों की क्रूरता और भारतीय एकता का साम्प्रदायीकरण, साप्ताहिक हिंदुस्तान, 28 मई से 3 जून 1989
20. सरस्वती, भाग 17, सं० 5, 1916, पृ० 345
21. वही, भाग 18 सं० 2, 1917, पृ० 104-5
22. वही, सं० 3, पृ० 154
23. वही, सं० 4, पृ० 208
24. वही, पृ० 208-9
25. वही, पृ० 209
26. वही, भाग 19, सं० 2, 1918
27. महात्मा गांधी का संदेश, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1969, पृ० 112-3
28. वही, पृ० 113

29. आर० जे० मूर, दि क्राइसिस ऑफ इंडियन यूनिटी : 1917-1940, 1974, पृ० 19-20
30. एस० आर० बख्शी, गांधी एण्ड खिलाफत, नई दिल्ली, 1985, पृ० 3
31. लाजपत राय, दि पोलिटिकल, फ्यूचर ऑफ़ इंडिया, न्यूयार्क, 1919, पृ० 207
32. एस० आर० बख्शी, गांधी एण्ड खिलाफत, 1985, पृ० 25
33. वही, पृ० 51
34. यंग इंडिया, 14 मई, 1919
35. पट्टाभि सीतारमय्या, दि हिस्टरी ऑफ़ इंडियन नेशनल कांग्रेस, 1935, पृ० 465
36. वालावुशेविच और द्याकोव, अ कंटेम्परेरी हिस्टरी ऑफ इंडिया, पृ० 135
37. अयोध्या सिंह, भारत का मुक्ति संग्राम, नई दिल्ली, 1977, पृ० 449
38. इंडिया इन 1925-26, कलकत्ता, 1926, पृ० 80
39. बी० आर० आम्बेडकर, थॉटस ऑन पाकिस्तान, बम्बई 1941, पृ० 126
40. अयोध्या सिंह, वही, पृ० 450
41. रामविलास शर्मा, भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद, खण्ड 1, 1982, पृ० 393
42. वही, पृ० 393-94
43. वही, पृ० 367
44. वही, पृ० 395
45. वही, पृ० 398-9
46. वही, पृ० 399
47. वही, पृ० 404
48. वही, पृ० 404
49. वही, पृ० 405
50. वही, पृ० 405
51. वही, पृ० 407
52. प्रेमचंद के विचार, भाग 1 (मार्च 1931) 1989, पृ० 276-7
53. वही, पृ० 299-300
54. वही, पृ० 302
55. दि ट्रांसफर ऑफ़ पॉवर, 1942-7, सं० निकोलस मैन्सेर्ग और पेंडेरल मून, 1976, पृ० 799, रामविलास शर्मा, भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद, खण्ड-एक, 1972, पृ० 429 पर उद्धृत ।
56. रामविलास शर्मा, वही, पृ० 431

57. वही, पृ० 438
58. वही, पृ० 452-3
59. 23 अगस्त, 1946 को नेहरू से मुलाकात के वक़्त वायसराय वैवेल ने कहा कि "मुसलमानों के प्रति ऐसी नीति न होनी चाहिए जिससे वे भड़क उठें। मैं हरगिज ऐसे किसी काम में साथ न दूंगा जिसका उद्देश्य मुस्लिम लीग को तोड़ देना हो।" दि ट्रांसफ़र ऑफ़ पॉवर, पृ० 290, रामविलास शर्मा द्वारा पृ० 484 पर उद्धृत।
60. ट्रान्सफ़र ऑफ़ पॉवर, छठा भाग, पृ० 361, ग्लैंसी टु वैवेल, 16 जनवरी, 1946
61. वही, पृ० 756, रामविलास शर्मा, पृ० 504 से उद्धृत
62. वही, पृ० 779
63. वही, पृ० 542, रामविलास शर्मा, पृ० 534
64. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, गांधी-जिन्ना टाक्स : जिन्ना टु गांधी, 11 सितम्बर, 1944
65. वही, गांधी टु जिन्ना, 15 सितम्बर, 1944
66. जिन्ना, गांधी, सावरकर एण्ड अदर्स, पाकिस्तान अ कलेक्शन ऑफ स्टेटमेन्ट्स, पृ० 26
67. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, गांधी जिन्ना टाक्स : जिन्ना टु गांधी, 17 सितम्बर, 1944
68. मन्मथनाथ दास, पार्टीशन एण्ड इन्डिपेन्डेन्स ऑफ इंडिया, 1982, पृ० 34-5
69. वही, पृ० 35
70. माउंटबेटन पेपर्स, सं० 24, मन्मथनाथ दास, पृ० 32 से उद्धृत।
71. माउंटबेटन पेपर्स, 191, इन्टरव्यू सं० 20 नेहरू, 1 अप्रैल, 1947, मन्मथनाथ दास, पृ० 32 से उद्धृत
72. वही, पृ० 33
73. माउंटबेटन पेपर्स, 82, गांधी टु माउंटबेटन, 11 अप्रैल, 1947, मन्मथनाथ दास, पृ० 33 से उद्धृत
74. डी० जी० तेन्दुलकर, महात्मा, भाग 8, पृ० 80
75. यंग इंडिया, 14 मई, 1919
76. 13 सितम्बर, 1942 को नयी दिल्ली में प्रेस कान्फ्रेंस में जिन्ना का वक्तव्य
77. माउंटबेटन पेपर्स, 84, 14 अप्रैल, 1947
78. माउंटबेटन पेपर्स, 191, इन्टरव्यू-30; गांधी और गफ़्फ़ार खान, 4 अप्रैल, 1947, मन्मथनाथ दास, पृ० 196 से उद्धृत

●●